TEERTHANKER MAHAVEER UNIVERSITY
TMU
MORADABAD
तीर्थंकर महावीर विश्वविद्यालय
सम्यक् दर्शन • सम्यक् ज्ञान • सम्यक् चारित्र

Accredited with NAAC A Grade

12-B Status from UGC

Sangharsh Nirakaran Manvaadhikar Avam Ahinsa Prakshishan

BAJSCC202

CENTRE FOR DISTANCE AND ONLINE EDUCATION

CENTRE FOR DISTANCE AND ONLINE EDUCATION

SANGHARSH NIRAKARAN MANVAADHIKAR AVAM AHINSA PRAKSHISHAN

(BAJSCC202)

REVIEW COMMITTEE

Prof. Dr. Manjula Jain
Dean (Academics)
Teerthanker Mahaveer University (TMU)

Prof. Dr. Vipin Jain
Director, CDOE
Teerthanker Mahaveer University (TMU)

Prof. Amit Kansal
Associate Dean (Academics)
Teerthanker Mahaveer University (TMU)

Prof. Dr. Manoj Rana
Jt - Director, CDOE
Teerthanker Mahaveer University (TMU)

PROGRAMME COORDINATOR

Dr. Manjula Jain
Professor
Department of Humanities
Centre for Distance and Online Education (CDOE)
Teerthanker Mahaveer University (TMU)

BLOCK PREPARATION

Dr. Dharmik Jain
Department of Humanities
Centre for Distance and Online Education (CDOE)
Teerthanker Mahaveer University (TMU)

Secretarial Assistance and Composed By:
Mr. Namit Bhatnagar

COPYRIGHT	:	Teerthanker Mahaveer University
EDITION	:	2024 (Restricted Circulation)
PUBLISHED BY	:	Teerthanker Mahaveer University, Moradabad

इकाई–1

संघर्ष का स्वरूप, विध्वंसात्मक बनाम उत्पादक संघर्ष, संघर्ष के आधार एवं प्रकार, संघर्ष की प्रक्रिया

उद्देश्य

1. संघर्ष के स्वरूप व अवधारणा को जानना।
2. संघर्ष के विभिन्न प्रकारों व प्रक्रिया का अध्ययन करना।

lijpuk

1. संघर्ष का अर्थ
2. संघर्ष की विशेषताएँ
3. संघर्ष का स्वरूप
    - 3.1 विध्वंसात्मक बनाम उत्पादक संघर्ष
    - 3.2 दृष्टिकोण, व्यवहार और संघर्ष
    - 3.3 सम्बन्ध न होने की अपेक्षा संघर्षपूर्ण सम्बन्ध अच्छे हैं–
4. संघर्ष का आधार
    - 4.1 एक या एक से अधिक पक्ष
        - 4.1.1 अन्तर्वैयक्तिक संघर्ष
        - 4.1.2 अन्तर्राष्ट्रीय संघर्ष
    - 4.2 पक्षों के बीच सम्बन्ध
    - 4.3 वह व्यवस्था जिसमें पक्ष कार्य करते है
5. संघर्ष के प्रकार
    - 5.1 वैयक्तिक संघर्ष (Individual Conflict)
    - 5.2 प्रजातीय संघर्ष (Racial Conflict)
    - 5.3 वर्ग संघर्ष (Class Conflict)
    - 5.4 जातीय संघर्ष
    - 5.5 राजनैतिक संघर्ष (Political Conflict)
    - 5.6 अन्तर्राष्ट्रीय संघर्ष
6. संघर्ष की प्रक्रिया
    - 6.1 कुण्ठा
    - 6.2 अन्याय
    - 6.3 आक्रामकता
    - 6.4 परमाणु अस्त्र–शस्त्रों का भय
7. शांति का स्वरूप
    - 7.1 शांति के प्रति विभिन्न दृष्टिकोण
        - 7.1.1 संस्थात्मक दृष्टिकोण
        - 7.1.2 कार्यात्मक दृष्टिकोण
        - 7.1.3 आरोग्यकर दृष्टिकोण

7.2 शांति अविभाज्य है

8. शांति शिक्षा

8.1 शांति शिक्षा का स्वरूप

8.1.1 अन्तर्राष्ट्रीय समझ के लिए शिक्षा

8.1.2 राजनैतिक शिक्षा

8.1.3 वैश्विक शिक्षा

8.2 शांति शिक्षा की वैधता

8.3 शांति शिक्षा और नि:शस्त्रीकरण शिक्षा

8.3.1 आदर्शवादी संकल्पना

8.3.2 वैज्ञानिक संकल्पना

8.3.3 वैचारिक संकल्पना

8.3.4 राजनीतिक संकल्पना

8.4 शांति-शिक्षा की दुविधाएं

8.5 शांति शिक्षा की सीमाएं

9. शांतिशोध

9.1 शांतिशोध के उद्देश्य

9.1.1 अहिंसक समाज रचना

9.1.2 नि:शस्त्रीकरण

9.1.3 समुचित व संतुलित विकास के लिए

9.1.4 पारस्परिक सहयोग

9.1.5 नव्य-उपनिवेशवाद पर नियंत्रण

9.1.6 संरचनात्मक हिंसा

9.2 शांतिशोध की आवश्यकता

9.2.1 विश्व के बड़े धर्मों का शांति के प्रति क्या दृष्टिकोण है

9.2.2 समसामयिक समाज में समाज परिवर्तन की क्या आवश्यकता है

9.2.3 शांति संगठनों की क्या भूमिका है

9.2.4 शांतिशिक्षण की समस्याएं और चुनौतियां

10. सामाजिक पुनर्निर्माण के लिए शिक्षा

10.1 सामाजिक पुनर्निर्माण क्या है?

10.2 सामाजिक पुनर्निर्माण के लिए शिक्षा एक साधन

10.2.1. भारत में अंग्रेजी शिक्षा के कारण सामाजिक पुनर्निर्माण

10.2.2. भारत में मूल्यपरक शिक्षा के कारण सामाजिक पुनर्निर्माण का प्रयास

10.2.3. जर्मनी में शिक्षा द्वारा सामाजिक परिवर्तन

10.2.4. सोवियत संघ में शिक्षा द्वारा समाजवाद का व्यापक प्रचार

10.2.5. शांति शिक्षा द्वारा वर्तमान विश्व के कायापलट का प्रयास

10.3 सामाजिक पुनर्निर्माण हेतु प्रयत्न

10.4 सामाजिक पुनर्निर्माण कैसे

10.5 शिक्षा का सहयोग

11. इक्कीसवींशताब्दी की शिक्षा-

12. शैक्षिक व्यय उपभोग है या विनियोग

12.1 शैक्षिक व्यय : उपभोग या विनियोग

12.2 मानवीय पूंजी में विनियोग

1.संघर्ष का अर्थ

संघर्ष मानव सम्बन्धों में सतत रहने वाली एक प्रक्रिया है। जब व्यक्ति व्यक्ति के बीच सहयोग नहीं होता अथवा जब वे एक दूसरे के प्रति तटस्थ भी नहीं होते, तो संघर्ष की स्थिति उत्पन्न हो ही जाती है। संघर्ष को समाज में अस्वाभाविक भी नहीं कहा जा सकता क्योंकि जब सीमित लक्ष्यों को अनेक व्यक्ति प्राप्त करना चाहें तो संघर्ष स्वाभाविक ही है।

Conflict शब्द लेटिन भाषा के Con+Fligo से मिलकर बना है।Con का अर्थ है जवहमजीमत तथा थ्सपहव का अर्थ है-To Strike. अतः संघर्ष का अर्थ है-लड़ना, प्रभुत्व के लिए संघर्ष करना, विरोध करना, किसी पर काबू पाना आदि। ऑक्सफोर्ड डिक्शनरी के अनुसार-दो वर्गों में या समूहों के बीच सशस्त्र प्रतिरोध, लड़ाई या युद्ध संघर्ष है। विपरीत सिद्धान्तों, कथनों, तर्कों आदि सेविरोध भी संघर्ष है तथा विचारों, मतों और पसन्द के बीच असामंजस्यपूर्ण व्यवहार भी संघर्ष है।गिलीन एवं गिलीन के अनुसार-संघर्ष वह सामाजिक प्रक्रिया है, जिसमें व्यक्ति अथवा समूह अपने उद्देश्यों को प्राप्त करने के लिए विरोधी के प्रति प्रत्यक्ष हिंसा या हिंसा की धमकी का प्रयोग करते हैं। अर्थात् किसी साध्य प्राप्ति हेतु किये जाने वाले संघर्ष की प्रकृति में ही विरोधी के प्रति घृणा और हिंसा की भावना विद्यमान होती है। प्रो. ग्रीन के अनुसार-''संघर्ष जानबूझकर किया गया वह प्रयत्न है, जो किसी की इच्छा का विरोध करने, उसके आड़े आने अथवा उसको दबाने के लिए किया जाता है।'' अर्थात् ग्रीन ने हिंसा व आक्रमण के साथ उत्पीड़न को भी संघर्ष का एक प्रमुख तत्त्व स्वीकार किया है। किंग्सले डेविस ने प्रतिस्पर्धा को ही संघर्ष माना है। उनके अनुसार प्रतिस्पर्धा व संघर्ष में केवल मात्रा का ही अन्तर है।

2.संघर्ष की विशेषताएँ

संघर्ष के लिए दो या दो से अधिक व्यक्तियों या समूहों का होना जरूरी है जो एक-दूसरे के हितों को हिंसा की धमकी, आक्रमण, विरोध या उत्पीड़न के माध्यम से चोट पहुँचाने की कोशिश करते हैं।

- संघर्ष एक चेतन प्रक्रिया है जिसमें संघर्षरत व्यक्तियों या समूहों को एक-दूसरे की गतिविधियों का ध्यान रहता है। वे अपने लक्ष्य की प्राप्ति के साथ-साथ विरोधी को मार्ग से हटाने का प्रयत्न भी करते हैं।
- संघर्ष एक वैयक्तिक प्रक्रिया है। इसका तात्पर्य यह है कि संघर्ष में ध्यान लक्ष्य पर केन्द्रित न होकर प्रतिद्वन्द्वियों पर केन्द्रित हो जाता है।
- संघर्ष एक अनिरन्तर प्रक्रिया है। इसका अर्थ यह है कि संघर्ष सदैव नहीं चलता बल्कि रूक-रूक कर चलता है। इसका कारण यह है कि संघर्ष के लिए शक्ति और अन्य साधन जुटाने पड़ते हैं जो किसी भी व्यक्ति या समूह के पास असीमित मात्रा में नहीं पाए जाते। कोई भी व्यक्ति या समूह सदैव संघर्षरत नहीं रह सकते हैं।
- संघर्ष एक सार्वभौमिक प्रक्रिया है। इसका तात्पर्य यह है कि संघर्ष किसी न किसी रूप में प्रत्येक समाज और प्रत्येक काल में कम या अधिक मात्रा में अवश्य पाया जाता है।

- समाज की रचना इस तरह की होती है जिसमें व्यक्तियों व समूहों में विभिन्न स्वार्थ और हित होते हैं। व्यक्ति और समूह अपने हित की पूर्ति के लिए प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से संघर्ष करते रहते हैं।
- संघर्ष आंतरिक व बाह्य प्रक्रियाओं के कारण होता है। आंतरिक प्रक्रिया- जब स्त्रियों को शिक्षा में प्रवेश दिया तो वे आर्थिक रूप से स्वतंत्र हो गयी और फिर उन्होंने अपने अधिकारों की मांग की। आज नारी आंदोलन का जो स्वरूप दिखाई देता है वह व्यवस्था या समाज का आंतरिक संघर्ष है। साम्प्रदायिक दंगे, आतंकवाद, भ्रष्टाचार, विद्यार्थी और श्रमसंघ आंदोलन आदि आंतरिक संघर्ष है। बाह्य प्रक्रिया- दो राष्ट्रों के मध्य युद्ध, अन्तर्राष्ट्रीय बाजार व मंडी में युद्ध, तकनीकी साधनों के उत्पादन में जापान व अमेरिका में जो होड़ है वह भी बाह्य संघर्ष है।
- कोजर व उसकी परम्परा के विचारकों का मानना है कि संघर्ष हमेशा समाज के लिए हानिकारक नहीं होता। जब एक समाज दूसरे समाज के साथ संघर्ष में होता है तो समाज की सुदृढ़ता बढ़ती है।

3.संघर्ष का स्वरूप

मूलत: संघर्ष परिवर्तन का एक साधन है। परिवर्तन की आवश्यकता और इच्छा को नकारा नहीं जा सकता और यह भी स्वीकार करना ही होगा कि परिवर्तन के साधनों से ही परिवर्तन होगा। अतएव संघर्ष को सदैव हिंसक रूप में ही न देखकर उसे परिवर्तन के संदर्भ में भी देखना चाहिए। यह धारणा या विचार मिथ्या है कि ''संघर्ष नैतिक रूप से गलत व सामाजिक रूप से अनचाहा है, संघर्ष सदैव त्याज्य या विध्वंसात्मक ही नहीं होता, यह समूहों के बीच तनाव को समाप्त भी करता है, जिज्ञासाओं व रुचियों को प्रेरित करता है तथा यह एक ऐसा माध्यम भी हो सकता है जिसके द्वारा समस्याएं उभारकर उनके समाधान तक पहुंचा जा सकता है अर्थात् यह व्यक्तिगत और सामाजिक परिवर्तन का आधार भी हो सकता है। संघर्ष का अनिवार्यत: यह अर्थ नहीं है कि यह समुदाय व सम्बन्धों के टूटने का कारण है। कोजर ने सामाजिक संघर्षो की महत्ता को प्रकाशित करते हुए लिखा है- संघर्ष असंतुष्टि के स्रोतों को खत्म कर तथा परिवर्तन की आवश्यकता की पूर्व चेतावनी तथा नवीन सिद्धान्तों का परिचय देकर समुदाय पर एक स्थिर एवं प्रभावशाली छाप छोड़ता है।मूल रूप से संघर्ष की दो स्थितियां हैं-

- न्यायोचित लक्ष्य के लिए प्रतिस्पर्धा में शामिल होना एवं
- ऐसा लक्ष्य जो न्यायोचित नहीं है, उसकी प्राप्ति के लिए प्रतिस्पर्धा में शामिल होना।

प्रथम यथार्थवादी संघर्ष है, जो एक विशेष परिणाम की प्राप्ति के लिए होता है। इसलिए यह संघर्ष या तो मूल्यों की संरक्षा के लिए या उन जीवनदायिनी चीजों के लिए होता है जिनकी आपूर्ति कम होती है।

उपर्युक्त अर्थ में संघर्ष कुछ परिणाम की प्राप्ति का साधन है। समाजशास्त्रियों का मानना है-संघर्षविहीन समाज की कल्पना भी नहीं की जा सकती। मेक्स वेबर के अनुसार-''सामाजिक जीवन से हम संघर्ष को अलग नहीं कर सकते। हम जिसे शांति कहते हैं वह और कुछ नहीं है अपितु संघर्ष के प्रकार व उद्देश्यों तथा विरोधी में परिवर्तन है।'' रोबिन विलियम्स के अनुसार-किसी भी परिस्थिति में हिंसा पूर्ण रूप से उपस्थित या अनुपस्थित नहीं हो सकती। यहां भगवान् महावीर की दृष्टि ज्ञातव्य है-उनके अनुसार समाज केवल हिंसा या केवल अहिंसा के आधार पर नहीं चल सकता। प्रो. महेन्द्र कुमार के अनुसार-हिंसा की पूर्ण अनुपस्थिति असंभव है क्योंकि अंतर्राष्ट्रीय समाज से संघर्ष का

पूर्ण विलोपन सम्भव नहीं है और न ही यह वांछनीय है क्योंकि हिंसा की अहिंसक-समाज निर्माण में महत्त्वपूर्ण भूमिका है या हो सकती है। अतएव संघर्ष को नियंत्रित या इच्छित दिशा में गतिशील किया जा सकता है, उसे पूर्ण रूप से हटाया नहीं जा सकता।महात्मा गांधी ने भी संघर्ष की अनिवार्यता को स्वीकार किया है। जे.डी. टाटा ने जब गांधीजी से यह पूछा-बापू! आप तमाम उम्र संघर्ष करते रहे हैं (ब्रिटिश लोगों से), उनके चले जाने के बाद आपकी संघर्ष की आदत का क्या होगा? क्या आप इसे छोड़ देंगे? गांधीजी का उत्तर था-नहीं मैं इसे अपने जीवन से कभी अलग नहीं कर सकता। लेकिन गांधीजी ने कार्लमार्क्स की तरह संघर्ष को सामाजिक कानून के रूप में नहीं माना। उन्होंने संघर्ष की अहिंसक पद्धति विकसित करने पर बल दिया।

द्वितीय अयथार्थवादी संघर्ष है जो ऐसे लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए किया जाता है जिन्हें किसी भी परिस्थिति में न्यायोचित नहीं कहा जा सकता। जैसे उग्रवादी हिंसा। ऐसा कोई भी संघर्ष अथवा इसके लिए किये जा रहे प्रयत्न सदैव त्याज्य हैं।

3.1 विध्वंसात्मक बनाम उत्पादक संघर्ष-संघर्ष विध्वंसात्मक भी हो सकता है और उत्पादक भी। एक संघर्ष को उस समय विध्वंसात्मक कहा जा सकता है जब इस संघर्ष में सहभागी व्यक्ति इसके परिणामों से असंतुष्ट हों तथा वे यह अनुभव करते हों कि संघर्ष के परिणामस्वरूप उन्होंने कुछ खोया है। यही उत्पादक होगा, जब संघर्ष में सहभागी व्यक्ति इसके परिणामों से संतुष्ट हों तथा वे यह अनुभव करते हों कि संघर्ष के परिणामस्वरूप उन्होंने कुछ प्राप्त किया है।

3.2 दृष्टिकोण, व्यवहार और संघर्ष-विध्वंसात्मक दृष्टिकोण और व्यवहार को संघर्ष के समकक्ष या संघर्ष मानना भ्रामक है। तीनों का स्वतंत्र अस्तित्व है। संघर्ष एक प्रकार से विरोध व एक ऐसा लक्ष्य है जो दूसरे की लक्ष्य प्राप्ति में बाधक है। सामान्य रूप से संघर्ष के दो रूप हैं-

- समाज के विभिन्न समूहों की वस्तुनिष्ठ रूचियों में भेद एवं
- सामाजिक गतिविधियों के आत्मनिष्ठ लक्ष्यों में विरोध।

दृष्टिकोण व व्यवहार जब संघर्ष से जुड़ जाते हैं तब उन्हें निषेधात्मक दृष्टिकोण व व्यवहार कहा जाता है। इस प्रकार के निषेध अचानक घृणा या प्रत्यक्ष हिंसा के रूप में प्रकट होते हैं। जातीय और प्रजातीय संघर्षों में सामाजिक दूरी पूर्वाग्रहों के कारण होती है जबकि संरचनात्मक हिंसा में यह भेदभाव के रूप में प्रकट होती है।

3.3 सम्बन्ध न होने की अपेक्षा संघर्षपूर्ण सम्बन्ध अच्छे हैं-प्रसिद्ध उक्ति है-'पाप से घृणा करो, पापी से नहीं।' अन्याय से घृणा या विरोध आवश्यक है क्योंकि यह अन्याय के संस्थाकरण को रोकता है लेकिन अन्यायी से घृणा संबंधों के सुधार को रोकता है। इसी संदर्भ में यह कहा जा सकता है-संघर्ष पर आधारित सम्बन्ध किसी प्रकार के संबंध न होने से अच्छे हैं। मेरे और आपके बीच संघर्ष यह दर्शाता है कि कोई एक चीज हम दोनों में सामान्य है। हमारी समस्या मेरी और आपकी है इसलिए हम इस समस्या से लड़ें न कि एक दूसरे से। संघर्ष के सावधानीपूर्ण प्रयोग से समाज में सामंजस्यपूर्ण सम्बन्ध स्थापित किये जा सकते हैं। इस निष्कर्ष पर पहुंचने के दो आधार हैं-

- मानवीय एकता
- कर्त्ता बनाम व्यवस्था

प्रत्येक मनुष्य एक दूसरे से अनेक बन्धनों व सामाजिक सम्बन्धों से जुड़े हैं। उनके बीच के सम्बन्ध सामंजस्यपूर्ण हैं तो वे उन्हें प्रदर्शित कर और अधिक प्रगाढ़ कर सकते हैं। यदि उनके बीच सामंजस्य

नहीं है तो हम उन्हें यह समझा सकते हैं कि सामंजस्यपूर्ण संबंध मानवीय एकता के लिए आवश्यक है। यदि उनके बीच किसी प्रकार के सम्बन्ध ही नहीं हैं, तो यह मानवीय एकता का बहिष्कार है।

किसी व्यक्ति के अन्यायी बनने में परिस्थितियों व व्यवस्था का भी योगदान होता है। सम्बन्धों को स्वीकार न करना अन्यायी की अस्वीकृति है जबकि असामंजस्यपूर्ण सम्बन्धों का स्वीकरण व्यवस्था व व्यक्ति सुधार की दिशा में प्रस्थान है।

4.संघर्षका आधार

संघर्ष का मूल कारण व्यक्ति की अनन्त इच्छायें या लोभ की प्रवृत्ति है। जैन दर्शनानुसार इच्छा विस्तार समस्त बुराइयों की जड़ है। इच्छाओं की पूर्ति के लिए व्यक्ति दूसरों का शोषण करता है। अर्जित पदार्थों के संरक्षण हेतु शस्त्रीकरण को बढ़ावा मिलता है जो अन्ततः युद्ध या हिंसा को जन्म देता है। सुकरात ने कहा था- ''लोक सरल जीवन पद्धति से संतुष्ट नहीं होगे, वे अपनी इच्छाओं का विस्तार चाहेंगे, दूसरे भी ऐसा ही चाहेंगे- परिणाम होगा- युद्ध।''

मूलतः संघर्ष तब होता है जब इच्छा पूर्ति हेतु विरोधी क्रियाएं घटित होती है। जब दो व्यक्ति वह कार्य करना चाहे जो परस्पर विरोधी हैं तो तनाव स्वाभाविक है। क्योंकि इससे दूसरे व्यक्ति, समुदाय और राष्ट्रों की इच्छा पूर्ति में बाधा उत्पन्न होती है। समग्र इच्छाओं की पूर्ति के प्रयत्न तो दूसरों की अतृप्ति की कीमत पर किए जा सकते हैं। निम्न तीन घटक संघर्ष का आधार प्रस्तुत करते हैं-

4.1 एक या एक से अधिक पक्ष-किसी भी संघर्ष के लिए एक या अधिक पक्षों का होना आवश्यक है। एक व्यक्ति के भीतर ऊहापोह की स्थिति या उसके मानसिक द्वन्द की स्थिति उस व्यक्ति में घटित हो रहे संघर्ष का परिणाम होता है। यह स्थिति एक व्यक्ति में घटित होती है और उस व्यक्ति का मन दो रूप धारण करके दो पक्षों जैसी दशा निर्मित कर देता है। अन्तर्वैयक्तिक व सामाजिक संघर्षों में दो पक्ष निश्चित रूप से होते हैं जिनमें परस्पर संघर्ष की स्थिति होती है।

पक्षों के बीच सम्बन्ध हो तो उन पर आधारित संघर्ष दो प्रकार के हो सकते हैं-

4.1.1 अन्तर्वैयक्तिक संघर्ष-अन्तर्सम्बन्धों में संघर्ष का आधार वर्गों के बीच तनाव नृजातीय स्थितियां व सांस्कृतिक प्रारूपों की भिन्नता है। आधुनिक समाज दो वर्गों में बंटा है, उच्च वर्ग व निम्न वर्ग। मार्क्स ने कहा था कि जब तक समाज में यह वर्ग समाप्त नहीं हो जाते तब तक शांति संभव नहीं है और तब तक संघर्ष जारी रहेंगे। मार्क्स के वर्गविहीन समाज की रचना का सिद्धान्त अब तक तो मात्र एक आदर्श कल्पना ही सिद्ध हुआ है। इन वर्गों के अतिरिक्त विश्व में अनेक मानव वंश विद्यमान और इन मानव वंशों के आधार पर श्रेष्ठता का दावा व कमजोर लोगों को अधीनस्थ बनाने की प्रथा प्रारम्भ से ही रही है। यही कारण है कि वंश, जाति, कुल आदि के द्वारा मानव जाति बंटी हुयी है और श्रेष्ठता व हीनता का निर्धारण इन वंशों व कुलों के आधार पर ही किया जाता रहा है। यह वंश व कुल जहां निवास करते हैं, जैसी इनकी जीवन शैली होती है, वहां वैसी ही संस्कृति का निर्माण हो जाता है। अर्थात् यह कहा जा सकता है कि सांस्कृतिक प्रारूप जीवन शैली से प्रभावित होते हैं। उच्च व निम्न वर्ग की तरह सांस्कृतिक प्रारूप भी व्यक्ति को प्रभावित करता है। सांस्कृतिक विविधता यद्यपि इस जगत का सौन्दर्य है पर सबको अपनी संस्कृति का आग्रह है। दूसरों की संस्कृति को तुच्छ समझना ही अन्तर वैयक्तिक संघर्ष का प्रमुख कारण है। विश्व में उपनिवेशवादी नीतियों का मूल कारण वर्ग और संस्कृति रही है और आज भी पूर्वी और पश्चिमी संस्कृति के बीच क्लेश और

ईसाई व इस्लाम संस्कृति के बीच युद्ध की चेतावनी अर्न्तवैयक्तिक संघर्षों में सांस्कृतिक प्रारूपों को प्रभावपूर्ण ढंग से दर्शाती है।

4.1.2 अन्तर्राष्ट्रीय संघर्ष–अर्न्तसम्बन्धों का प्रमुख कारण व्यक्तियों का राष्ट्रीय चरित्र व राजनीतिक ढांचा माने जाते हैं। यदि लोगों का राष्ट्रीय चरित्र उग्र राष्ट्रीयता लिए हुए है तो अपने राष्ट्र को श्रेष्ठ व अन्य राष्ट्रों को हीन समझने की प्रवृत्ति ऐसे संघर्षों में आम रूप से देखी जा सकती है। प्रथम व द्वितीय विश्व युद्ध का एक प्रमुख कारण लोगों का यह स्पष्ट राष्ट्रीय चरित्र ही रहा है। इतिहास में व विशेषकर द्वितीय विश्व युद्ध के बाद है कि किस तरह से राजनीतिक ढांचा व राजनीतिक विचारधारा युद्ध व अशांति को जन्म देती है। इस प्रकार अर्न्त: संघर्ष ये ऐसे घटक हैं जो संघर्ष के मूल कारण रहे हैं व भविष्य में भी रहेंगे।

4.2 पक्षों के बीच सम्बन्ध–संघर्ष का मुख्य आधार विषमता है। यह विषमता सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक आदि सभी क्षेत्रों में पायी जाती है। राजनीतिक सत्ता के क्षेत्र में विषमता, सम्पत्ति के स्वामित्व में विषमता, विरोधी धार्मिक विचार, विरोधी विचारधाराएँ, मूल्यों का भेद आदि विभिन्न विषमताओं के उदाहरण हैं। जितनी अधिक विषमता होगी संघर्ष की संभावना उतनी ही अधिक बढ़ जाएगी। राजनीतिक क्षेत्र में शक्ति व सत्ता का वितरण समान न होने पर शक्ति संतुलन नहीं रहता व शक्ति संतुलन के अभाव में शक्तिशाली राष्ट्र किसी भी राष्ट्र पर युद्ध थोप सकता है। शक्ति व सत्ता का असंतुलन सरकार की अस्थिरता का भी कारण बनता है। द्वितीय विश्व युद्ध के बाद शक्ति व सत्ता के असंतुलन ने ही दीर्घकालीन शीत युद्ध को जन्म दिया।

इसी प्रकार सम्पत्तियों व संसाधनों का असमान वितरण भी संघर्ष को जन्म देता है। सम्पत्ति के असमान वितरण को लेकर कई खूनी क्रांतियाँ हो चुकी है। रूसी क्रांति इसी का ही उदाहरण कहा जा सकता है। भारत में भी कृषि भूमि के स्वामित्व में विषमता के कारण कृषकों व जमींदारों के झगड़े आम रूप से चर्चित रहे हैं।

विरोधी धर्म व विचारधाराएँ, वैचारिक परम्पराएँ भी विषमता का एक कारण है, जो संघर्ष का मूल स्वरूप है। भारत में हिन्दू-मुस्लिम झगड़े, भारत से बाहर ईसाई व इस्लाम के झगड़े व पूंजीवाद और समाजवाद के बीच टकराहट पिछले कई दशकों में संघर्ष व अशांति का एक बड़ा कारण रहे। विरोधी धार्मिक परम्पराएँ कहीं-कहीं तो आतंकवाद में बदल गयी और विरोधी विचारधारा ने अधिकांश सैनिक संगठनों को जन्म दिया है।

संस्कृति धर्म, विचार व हमारी जीवन शैली का एक मिला जुला रूप है। धर्म व संस्कृति के अनुरूप ही मूल्यों का निर्माण होता है। यदि धर्म व संस्कृति में टकराहट है तो वह टकराहट मूल्यों में भी देखने को मिलती है। मूल्यों का भेद भौगोलिक कारणों व जन्म के बाद अनुभवों से भी प्रभावित होता है। इन सभी घटकों पर आधारित मूल्य, व्यक्ति-व्यक्ति में अलग-अलग होते हैं तो वहां संघर्ष होना स्वाभाविक है। इसलिए विषमता चाहे धन-सम्पत्ति की है या सत्ता या सम्पत्ति की या फिर संस्कृति व मूल्यों की, वह मानव समाज में संघर्ष को जन्म देती है। इसलिए आज विषमता को कम करने के प्रयत्न किए जा रहे हैं।

4.3 वह व्यवस्था जिसमें पक्ष कार्य करते हैं–कोई भी व्यवस्था जिसमें खुला राजनीतिक तंत्र हो, स्वतंत्र न्याय व्यवस्था हो तो वहां मतभेद की कम संभावना होती है क्योंकि ऐसी व्यवस्थाएं उन मतभेदों को दूर करने या उनको नियंत्रित करने के साधन उपलब्ध कराती है ताकि ऐसे मतभेदों से

अच्छी तरह से निपटा जा सके। ऐसी व्यवस्थाएं मूल्यों पर आधारित मतभेदों को भी समायोजित करती है व गहरे विवाद पनपने से रोकती है। वस्तुत: खुली राजनीति व्यवस्था व स्वतंत्र न्यायिक व्यवस्था लोकतंत्र की रीढ़ होती है। ऐसी व्यवस्थाओं में आम आदमी को अपने अधिकारों के साथ अपने विचारों की अभिव्यक्ति की भी पूर्ण स्वतंत्रता रहती है तथा अन्याय, दमन या शोषण के लिए स्वतंत्र न्यायपालिका की व्यवस्था उनके न्याय को भी सुनिश्चित करती है। यदि विवादों का संस्थाकरण न हो तो ऐसी व्यवस्था मूल्यों व विषमता पर आधारित मतभेदों को दूर करने में पूर्णरूपेण सक्षम होती है किन्तु यदि मतभेदों का संस्थाकरण कर दिया जाए या खुली राजनीतिक व्यवस्था निरंकुश शासन में बदल जाती है और न्याय पालिका की स्वतंत्रता खतरे में हो ऐसी स्थिति निश्चित रूप से संघर्षों को जन्म देती है।

पक्षों के सम्बन्ध एकता के स्तर पर ही निर्भर करते हैं। दोनों पक्षों के मध्य एकता का स्तर जितना अधिक होगा उतनी ही शत्रुता कम होगी और इसकी विपरीत दशा में शत्रुता अधिक होगी। दो पक्षों के बीच एकता दो बातों पर निर्भर करती है- प्रथम दोनों पक्षों के बीच अन्तर्निभरता का स्तर क्या हैद्वितीयव्यवस्था के विविध घटकों के बीच परस्पर संगति व समानता का स्तर क्या है? एकता का स्तर जितना अधिक होगा उतनी ही असंतुष्टि कम होगी और संघर्ष कम होंगे और इसके विपरीत एकता का स्तर जितना कम होगा, उतनी अधिक असंतुष्टि होगी और संघर्ष ज्यादा होंगे। अन्तर्निर्भरता व एक व्यवस्था के घटकों में जितनी अधिक संगति व समानता होगी उतनी ही अधिक एकता होगी व संघर्ष कम होंगे।

एक व्यवस्था के आंतरिक घटकों में कई तत्त्व विद्यमान रहते हैं जैसे वैचारिक तत्त्व, भावनात्मक तत्त्व, आर्थिक तत्त्व, नौकरशाही के तत्त्व, अवसरवादिता के तत्त्व आदि। कोई भी व्यवस्था किसी विचारधारा पर आधारित हुए बिना नहीं पनप सकती है, व्यवस्था को किसी न किसी विचारधारा पर अवलम्बित होना ही पड़ता है। यदि व्यवस्था तानाशाही के विचार पर आधारित है तो अशांति की सहज संभावना है व इसके विपरीत यदि व्यवस्था प्रजातांत्रिक मूल्यों पर आधारित है तो अशांति की कम संभावना रहती है। इसी तरह व्यवस्था में आर्थिक व नौकरशाही के घटक भी प्रभावी रहते हैं। कोई भी व्यवस्था जो केवल अर्थ व भौतिक संसाधनों पर निर्भर होती है वहां गलाकाट प्रतिस्पर्धा लोगों को शांत नहीं रहने देती। अर्थ के साथ मानवीय मूल्यों पर आधारित व्यवस्था शांतिपूर्ण समाज के निर्माण में सहायक बनती है व वहां के नागरिकों में संघर्ष की अपेक्षा कम होती है। इसी तरह जो व्यवस्था नौकरशाही पर आधारित होती हैं वहां भ्रष्टाचार पनप जाता है व संघर्ष की संभावनाएँ भी बढ़ जाती हैं। कैरिअर को ध्यान में रखकर चलने वाली व्यवस्थाओं में अत्यधिक प्रतिस्पर्धा देखी जाती है। इससे प्रतिस्पर्धा के फलस्वरूप प्रतिस्पर्धी को प्रतिद्वन्द्वी समझ लिया जाता है परिणामत: संघर्ष की संभावनाएं बढ़ जाती है। अत: एक व्यवस्था के आंतरिक घटक भी अंतर्निर्भरता, पक्षों की संगति व सामंजस्य को प्रोत्साहित करने वाले हो तो वह व्यवस्था शांतिपूर्ण समाज की रचना करेगी व जिस व्यवस्था के आंतरिक घटकों में अंतर्निर्भरता, शांति व सामंजस्य का अभाव हो वहां वे घटक वह संघर्ष का आधार बन जाते हैं।

निष्कर्षत: पक्षों के बीच तनाव निवेशीय व सांस्कृतिक स्थितियां, लोगों का राष्ट्रीय चरित्र व ढांचा, विषमता व धार्मिक व मूल्यों पर आधारित भेद, खुली राजनीतिक व्यवस्था व स्वतंत्र न्यायपालिका का अभाव, अन्तर्निर्भरता, संगति व सामंजस्य की कमी आदि घटक सम्बन्धित रूप से संधर्ष का आधार बनते हैं।

5.संघर्ष के प्रकार

आधुनिक समाजशास्त्र में दो विचारधाराएँ सामाजिक सिद्धान्त को स्पष्टत: प्रभावित करती है। इसमें एक संघर्षवादी विचारधारा है जिसे रेडीकल या आमूलचूल परिवर्तन विचारधारा भी कहते हैं। दूसरी विचारधारा संतुलनवादी है जिसे संरचनात्मक प्रकार्यात्मक विचारधारा के नाम से भी जाना जाता है। रेडीकल विचारधारा के अनुसार संघर्ष कोई अस्थायी या असामान्य घटना नहीं बल्कि स्थायी व पूर्णत: सामान्य घटना है। इसके अनुसार अभाव की स्थिति समाज में संघर्ष को जन्म देती है व उसी से नेतृत्व का विकास होता है।मेक्स वेबर के अनुसार, ''सामाजिक जीवन से हम संघर्ष को अलग नहीं कर सकते। जिसे हम शांति कहते हैं वह और कुछ नहीं है अपितु संघर्ष के प्रकार व उद्देश्यों व विरोधी में परिवर्तन है।''

संघर्ष अनेक रूपों में हो सकता है जीवन के अनेक क्षेत्रों देखा जा सकता है। गिलीन व गिलीन ने संघर्ष के निम्न स्वरूपों की चर्चा की है जिसमें प्रो. सिमेल का वर्गीकरण भी समाहित हो जाता है। प्रो. सिमेल ने संघर्ष को चार प्रकारों में विभाजित किया है-1. युद्ध, 2. पुश्तैनी कलह, 3. मुकदमेबाजी, 4. मत वैभिन्य का संघर्ष।

- वैयक्तिक संघर्ष

  आंतरिक संघर्ष-कुण्ठा, स्वार्थ, हितों का ऊहापोह

  बाह्य संघर्ष- वास्तविक संघर्ष, अवास्तविक संघर्ष

- प्रजातंत्रीय संघर्ष
- वर्ग संघर्ष
- जातीय संघर्ष
- राजनैतिक संघर्ष
- अन्तर्राष्ट्रीय संघर्ष

5.1 वैयक्तिक संघर्ष (Individual Conflict)-वैयक्तिक संघर्ष उसे कहते हैं जब संघर्षशील व्यक्तियों में व्यक्तिगत रूप से घृणा होती है तथा वे अपने स्वयं के हितों के लिए अन्य को शारीरिक हानि पहुंचाने तक भी तैयार हो जाते हैं। परस्पर विरोधी लक्ष्यों को लेकर घृणा, द्वेष, क्रोध, शत्रुता आदि के कारण इस प्रकार का संघर्ष हो सकता है।

वैयक्तिक संघर्ष आंतरिक व बाह्य दोनों प्रकार के हो सकते हैं। जब व्यक्ति का संघर्ष स्वयं से होता है तो वह आंतरिक संघर्ष का रूप है व जब व्यक्ति का संघर्ष किसी अन्य व्यक्ति या समूह से होता है तो वह बाह्य संघर्ष का रूप है। उदाहरण के लिए किसी कार्य को करने या न करने का मानसिक द्वन्द्व आंतरिक संघर्ष है व जमीन, जायजाद आदि के लिए होने वाला संघर्ष बाह्य संघर्ष है।

व्यक्ति के भीतर होने वाले संघर्ष- आंतरिक संघर्ष के मुख्य रूप से तीन कारक हैं जो इसे जन्म देते हैं- कुण्ठा, स्वार्थपरकता व हितों का टकराव।व्यक्ति स्वयं जब कोई लक्ष्य निर्धारित करता है व किसी अवरोध से यदि वह लक्ष्य बाधित हो जाता है तो व्यक्ति की वह असफलता, कुण्ठा का रूप ले लेती है और जिसके परिणाम से व्यक्ति की कुछ प्रतिक्रियाएं होती है जो उसके आंतरिक संघर्ष को प्रदर्शित करती है।

व्यक्ति में आंतरिक संघर्ष उत्पन्न होने के जो कारण हैं उनमें सबसे महत्त्वपूर्ण कारण व्यक्ति की स्वार्थपरकता है। अपने स्वार्थों की पूर्ति वह उचित-अनुचित, वैध-अवैध सभी तरीकों से करना चाहता है। फलतः व्यक्तिगत ईर्ष्या उत्पन्न हो जाती है जिसके परिणामस्वरूप व्यक्ति की कुछ आंतरिक प्रतिक्रियाएं होती हैं जो आंतरिक संघर्ष को दर्शाती हैं।व्यक्ति कभी स्वयं के हितों के कारण भी दुविधा में पड़ जाता है। व्यक्ति के पास स्वयं के हित के अनेक विकल्प होते हैं और उनमें से जब उसे यह चयन करना होता है कि क्या उसके लिए अच्छा होगा व क्या गलत, कौन-सा विकल्प हितकर होगा व कौन-सा अहितकर, कौन-सा सुगम होगा व कौन-सा जटिल तो यह असमंजस व ऊहापोह की सिथति संघर्ष पैदा करती है।

जब व्यक्ति का संघर्ष अन्य व्यक्तियों व समूहों से होता है तो वह बाह्य संघर्ष होताहै। यह भी दो प्रकार का होता है- वास्तविक व अवास्तविक। जब संघर्ष किसी न्यायपूर्ण या न्यायोचित उद्देश्यों को लेकर होते हैं तथा सामाजिक व कानूनी स्वीकृति को लेकर होते हैं तो वे वास्तविक संघर्ष कहलाते हैं। हितों का टकराव सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक, व्यक्ति का अहम व स्तर आदि कई कारक होते हैं जो इसे प्रभावित करते हैं।जब संघर्ष अन्यायपूर्ण व अनुचित उद्देश्यों को लेकर होते हैं तो वे अवास्तविक संघर्ष कहलाते हैं। इनमें 'जैसे को तैसे' की प्रवृत्ति रहती है। ये संघर्ष कानूनी प्रक्रियाओं के द्वारा भी होते हैं।

अतः यह स्पष्ट है कि वैयक्तिक संघर्ष शीघ्र ही उत्पन्न हो जाते हैं। इनकी प्रकृति में निरन्तरता नहीं रहती, कभी संघर्ष चलता है तो कभी बंद हो जाता है व फिर चल सकता है। जब तक संघर्ष की परिणति सहयोग में न हो जाए यह चलता ही रहता है। ये संघर्ष अत्यधिक कटु नहीं होते हैं क्योंकि सामाजिक नियम उन्हें किसी न किसी रूप में नियंत्रित रखते हैं। इसमें शारीरिक हिंसा तुलनात्मक रूप से कम होती है।

5.2 प्रजातीय संघर्ष (Racial Conflict)-जब आनुवांशिक शारीरिक भेदभाव के कारण व्यक्तियों का वर्गीकरण किया जाता है तो उसे प्रजाति कहते हैं। वैयक्तिक संघर्ष के अतिरिक्त सामूहिक संघर्ष भी हो सकता है। प्रजातीय संघर्ष भी इसमें से एक है। प्रजातीय संघर्ष का आधार प्रजातीय श्रेष्ठता व हीनता जैसी वैज्ञानिक अवधारणा है। श्रेष्ठता व हीनता का मुख्य आधार संस्तरण है व उच्चता व निम्नता की भावना होती है। संस्तरण के कारण उच्च स्तर के व्यक्ति को अधिकार प्राप्त हो जाते हैं व उन अधिकारों का प्रयोग जब संस्तरण के निचले स्तर के व्यक्तियों पर किया जाता है या प्रदर्शित किए जाते हैं तो यह प्रजातीय संघर्ष है। भौगोलिक परिस्थितियों की भिन्नता, जीन संरचना, विशिष्ट शारीरिक लक्षण, सांस्कृतिक भिन्नता आदि ऐसे कई तत्त्व हैं तो प्रजाति की उच्चता व निम्नता निर्धारण में सहायक होते हैं। इन तत्त्वों के परिणामस्वरूप निर्धारित होने वाली प्रजाति की श्रेष्ठता व हीनता में व्यक्ति स्वयं जिम्मेदार नहीं होता है पर उस आधार पर व्यक्ति को ही श्रेष्ठ व हीन ठहरा दिया जाता है। उदाहरण के लिए अमेरिका में नीग्रो व श्वेत प्रजाति के बीच, श्वेत प्रजाति व जापानी प्रजातियों के बीच और अफ्रीका में श्वेत व श्याम प्रजातियों के बीच अक्सर जो संघर्ष होता है वह प्रजातीय संघर्ष के अनुपम उदाहरण हैं।

वर्तमान प्रगतिशील युग में प्रजातीय भेदभाव राजनैतिक, आर्थिक, सामाजिक, सांस्कृतिक आदि क्षेत्रों में कानून के रूप में व व्यवहार में जातीय भेदभाव के रूप में विद्यमान है। प्रजातीय संघर्ष कहीं सरकारी नीतियों से पुष्ट है तो कहीं प्रच्छन्न रूप में, जिससे विभिन्न वर्गों के बीच विषमता पायी जाती है। राजनैतिक क्षेत्र में विश्व के किसी भी देख में प्रजातीय भेदभाव को मान्यता नहीं है परन्तु राष्ट्रों में

वहां की नीतियों व दशाओं के कारण सभी लोगों का मत देने, सरकारी सेवा में प्रवेश पाने एवं सार्वजनिक पदों के लिए चुनाव लड़ने का अधिकार नहीं है। आर्थिक क्षेत्र में प्रजातीय भेदभाव के परिणाम से कुछ विशेष प्रजाति के लोग कम वेतन पर मजदूर के रूप में सदैव उपलब्ध रहते हैं। प्रजातीय भेदभाव सार्वजनिक स्थल, स्वास्थ्य व चिकित्सा सम्बन्धी सुविधाओं, सामाजिक सुरक्षा व पारस्परिक सम्बन्धों में भी देखा जा सकता है। सांस्कृतिक क्षेत्र में जातीय भेदभाव जीवन स्तर की विभिन्नता से जन्म लेता है। वर्तमान समय में हर प्रजाति अपने को श्रेष्ठ व सुरक्षित बनाए रखना चाहती है इसलिए इस आधार के संघर्ष होते रहते हैं। अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर होने वाले संघर्षो का एक प्रमुख कारण यह भी है।

भेदभाव की यह भावना उस समाज में अधिक पायी जाती है जहां सांस्कृतिक, सामाजिक व आर्थिक जीवन में बहुत अधिक विरोधाभास होता है। नस्ल, रंग व वंश की दृष्टि से जिन राष्ट्रों में अलगाव की भावना है एवं जहां संस्कृति, रीति-रिवाज व परम्पराओं के कारण भिन्नताएं हैं वहां की स्थितियां वास्तव में ही शोचनीय है। जातीय पृथक्करण की नीतियां विश्व के लिए एक बड़ा कलंक है।

5.3 वर्ग संघर्ष (Class Conflict)–वर्ग संघर्ष का इतिहास समाज के निर्माण से ही प्रारम्भ हो गया था। कार्लमार्क्स ने लिखा था कि ''आज तक अस्तित्व में रहे समाज का इतिहास, वर्ग-संघर्ष का इतिहास है।'' समूचे समाज का इतिहास वर्ग संघर्ष में ढूंढा जा सकता है। प्राचीन काल में जब मुखिया सर्वेसर्वा था तब से वर्ग प्रणाली का प्रादुर्भाव हुआ। प्राचीनकाल में मालिक व दास, मध्ययुग में सामन्त व सेवक या कामदार, आधुनिक युग में मजदूर व पूंजीपति आदि वर्ग रहे हैं। विभिन्न समूहों की सामाजिक व आर्थिक स्थिति में परस्पर भिन्नताएँ पायी जाती है, फलतः उनके जीवन प्रतिमान एक-दूसरे से मेल नहीं खाते व ये समूह कालान्तर में विभिन्न वर्गों का रूप ले लेते हैं। प्रत्येक वर्ग सामाजिक व आर्थिक उपयोगिता की दृष्टि से स्वयं को सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण मानता है। इस प्रकार की स्थिति उनके बीच विवादों व संघर्ष को जन्म देती है। उदाहरण के लिए वर्तमान में मजदूरों व मिल मालिकों का संघर्ष देखने को मिलता है। मजदूर अधिक से अधिक वेतन व सुविधाएं लेना चाहते हैं जबकि पूंजीपति उनका अधिक से अधिक शोषण करना चाहते हैं। परिणामतः उनमें संघर्ष होता है। इस संघर्ष में मजदूर मिल-मालिकों को उनकी मांग न मानने पर तोड़फोड़ की धमकी देते हैं व अनेक बार ऐसा कर भी देते हैं। कुछ वर्ग के लोग आजकल अधिकारियों, मंत्रियों आदि का अपनी मांगों के समर्थन में घेराव करते हैं तथा हड़ताल व नारेबाजी करते हैं। ये सभी वर्ग संघर्ष के ही लक्षण हैं।

कार्ल मार्क्स ने कहा कि ''समाज सदैव दो आर्थिक वर्गों में बंटा रहेगा- शोषक व शोषित। ये वर्ग सदैव एक दूसरे के साथ संघर्षरत रहेंगे जब तक कि वर्ग विहीन समाज की स्थापना न हो जाए।'' मनोवैज्ञानिक रूप से इस संघर्ष को कभी समाप्त नहीं किया जा सकता है क्योंकि व्यक्ति विशेष में श्रेष्ठता व हीनता की भावना स्वभावतः होती ही है। चूंकि वर्ग विहीन समाज का अस्तित्व वर्ग स्वार्थो के कारण व्यावहारिक रूप में कठिन है अतः वर्ग संघर्ष एक सार्वभौमिक प्रघटना है। ऐसे संघर्षो का अंत प्रत्येक बार या तो समग्र समाज के क्रांतिकारी पुनर्निर्माण में होता है या संघर्षरत वर्गों की बर्बादी में निहित होता है।

5.4 जातीय संघर्ष–जातीय संकीर्णता सामाजिक संघर्षो का एक प्रमुख कारण बनी है। यह समस्या अर्द्धविकसित व विकासशील देशों में अधिक पायी जाती है। हम कुछ जातीय पूर्वाग्रहों को पालते हैं, क्योंकि इनसे हमारी सुरक्षा, प्रतिष्ठा व मान्यता जैसी कतिपय गहन आवश्यकताओं की संतुष्टि होती है।

सामाजिक व्यवस्था में जाति विशेष की श्रेष्ठता व हीनता को मानने की प्रवृत्ति जातीय संघर्ष का कारण बनती है। ऐसे संघर्ष भी संस्तरण की मानसिकता से जुड़े रहते हैं। आज कट्टरपंथी व उदारवादी लोगों के बीच जो संघर्ष होता है वह जातीय संघर्ष का ही एक भाग है। एक जाति का शासन के साथ, कट्टरपंथी का जातीय समीकरणों के साथ, किसी जाति विशेष का जाति विशेष के साथ, उदारवादी व कट्टरपंथी आदि के बीच होने वाले संघर्ष जातीय संघर्ष के विभिन्न स्वरूप हैं। भारत में जातीय तनाव अधिक देखने को मिलते हैं। जैसे मणिपुर में नागा व हुकी जाति का विवाद, बिहार में लाला व ब्राह्मण जाति का विवाद आदि।

ये संघर्ष परम्परागत रूप से लम्बे समय से एक सामाजिक बुराई के रूप में स्थापित होते रहे हैं। यद्यपि कानूनी रूप से विभिन्न जातियों के बीच ऊंच-नीच की भावना को अस्वीकार किया गया है फिर भी ऊंच-नीच की भावना के कारण विभिन्न जातियों में बैर-भाव रहता है व जातीय संघर्ष चलते रहते हैं। इन जातीय विवादों के कारण आज भारतीय राजनीति का मुख्य आधार ही जातिवाद बन गया है जिससे जनता सदैव आपसी संघर्षों में उलझी रहती है। एक पूर्ण विकसित समाज में ऐसे संघर्षों के खत्म होने की संभावना रहती है अन्यथा ये संघर्ष निरन्तर चलते रहते हैं।

5.5 राजनैतिक संघर्ष (Political Conflict)-राजनैतिक संघर्ष के दो रूप हैं-राष्ट्रीय संघर्ष एवं अन्तर्राष्ट्रीय संघर्ष। जातिवाद, साम्प्रदायिक तनाव, राजनैतिक तनाव, उग्रवाद, पृथक्करण, विभाजन आदि राष्ट्रीय संघर्षों के प्रमुख कारण बनते हैं। अन्तर्राष्ट्रीय संघर्ष की अभिव्यक्ति के भी अनेक रूप हैं- जैसे घृणा तथा आक्रामकता की अभिवृत्ति, जिसके फलस्वरूप समाचार पत्रों, रेडियो व दूरदर्शन पर भड़कीले समाचार प्रसारित कर मनोवैज्ञानिक युद्ध किया जाता है। स्वजातिवाद की पृष्ठभूमि भी अन्तर्राष्ट्रीय तनाव का एक प्रमुख कारण है। अडोर्नो ने यह दर्शाया है-जिन व्यक्तियों में यह सोचने की अतिरंजित प्रवृत्ति है कि उनका अपना समूह अथवा जाति, अन्य जातियों से अत्यन्त श्रेष्ठ है, उनका सामान्य दृष्टिकोण रुढ़िवादी होता है तथा वे शक्ति की प्रशंसा व पराजितों से घृणा करते हैं जिससे वे दूसरों को अपने समान स्थान देने को तैयार नहीं होते। फलतः विदेशियों व अल्पसंख्यकों को हीन दृष्टि से देखा जाता है तथा उनमें असुरक्षा की भावना उत्पन्न होती है। इससे सैनिक संगठनों को बल मिलता है। राष्ट्रवादी अभिवृत्तियों के साथ-साथ अन्य देशों के प्रति प्रबल नकारात्मक भावना हो और प्रबल अंतर्राष्ट्रीय भावना का अभाव हो तो उस स्थिति में अन्तर्राष्ट्रीय संघर्ष उत्पन्न हो ही जाता है और वह स्थिति शांति तथा एकता की बजाए युद्ध की प्रेरक होती है।

उपर्युक्त कारणों के अतिरिक्त वैचारिक भिन्नताएं, विस्तारवादी नीतियां, व्यापारिक एवं सीमा विवाद, अस्त्र-शस्त्र आदि भी अन्तर्राष्ट्रीय विवादों के प्रमुख कारण बनते हैं।

5.6 अन्तर्राष्ट्रीय संघर्ष-यह भी राजनैतिक संघर्ष का ही एक विस्तृत रूप है। राजनैतिक संघर्ष का क्षेत्र जब एक राष्ट्र की सीमा पार करके अन्य राष्ट्रों तक फैल जाता है तो उसे अन्तर्राष्ट्रीय संघर्ष कहते हैं। दूसरे शब्दों में, जब राष्ट्रीय सीमाओं के पार संघर्ष होता है तो वह अन्तर्राष्ट्रीय संघर्ष कहलाता है। इसका सबसे स्पष्ट रूप युद्ध है जो कि भारत और चीन के बीच, भारत-पाकिस्तान के बीच व अन्य राष्ट्रों के बीच होते हैं।

उपरोक्त समस्त विवेचन के आधार पर यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि संघर्ष अनेक स्वरूपों/प्रकारों में दृष्टिगोचर होता है। वैयक्तिक संघर्ष से प्रारम्भ होकर संघर्ष प्रजातीय व वर्ग संघर्ष की सीढ़ियां चढ़ते-चढ़ते जातीय संघर्ष परिवर्तित होता है व अंततः संघर्ष के विभिन्न रूप राजनैतिक स्तर के राष्ट्रीय व अन्तर्राष्ट्रीय संघर्ष में परिवर्तित हो जाता है। भारत के संदर्भ में संघर्ष के इन

स्वरूपों की विवेचना की जा सकती है। धर्म के आधार पर भारत का विभाजन हुआ व पाकिस्तान के रूप में एक नए राष्ट्र की स्थापना हुई। विभाजन के बाद धर्म को लेकर जो दंगे हुए वे धार्मिक आधार पर निर्मित थे व स्वतंत्रता के बाद भी कहीं-कहीं समाज विरोधी तत्त्वों के द्वारा धार्मिक भावनाओं के आधार पर दंगे फसाद किए गए। धर्म निरपेक्ष राष्ट्र में ऐसी घटनाएं राष्ट्र विरोधी मानी जाती हैं। इसके अतिरिक्त सिक्ख धर्म पर कुछ व्यक्तियों की अलग सिक्ख राष्ट्र की मांग को लेकर भी भारत के एक भू-भाग में संघर्ष की स्थिति को जन्म दिया है। इन संघर्षों में तर्क व व्यापक दृष्टिकोण का अभाव रहता है व निहित स्वार्थ वाले तत्त्व संकीर्णता के आधार पर अपनी स्वार्थ सिद्धि का प्रयास करते हैं। क्षेत्र को लेकर भी भारत में संघर्ष के कतिपय उदाहरण मिलते हैं। आसाम व देश के कुछ अन्य भागों में आंदोलन व संघर्ष इसके उदाहरण माने जा सकते हैं। भाषा के आधार पर भी यदा-कदा संघर्ष की स्थितियां उत्पन्न हो जाती है। भाषा, संस्कृति का प्रमुख अंग है। अत: इसको संचार की प्रमुख व्यवस्था के रूप में नहीं मानकर भावनात्मक आवेग से जोड़ने का दुराग्रह किया है। अनुसूचित जाति व तथाकथित उच्च जातियों के मध्य संघर्ष के उदाहरण अनुसूचित जातियों के लोगों में जागरूकता का प्रतीक है। धर्म निरपेक्ष, वर्ग विहीन, जाति विहीन आधार पर बना भारतीय संविधान देश के प्रत्येक निवासी को समान अधिकार प्रदान करता है। ऐसी दशा में किसी विशेष जाति को नीचा मानकर उनसे सामाजिक विभेद अनुचित है। ये संघर्ष राष्ट्र एकता में बाधक होते हैं व साथ ही साथ व्यापक व दुरगामी दृष्टिकोण से व्यक्ति व समाज के लिए घातक भी होते हैं।

6.संघर्ष की प्रक्रिया

कुण्ठा, अन्याय, आक्रामकता व परमाणु अस्त्र-शस्त्रों का निरन्तर भय, संघर्ष के लिए जिम्मेदार कहे जा सकतेहैं।

6.1 कुण्ठा-फ्रायड ने व्यक्ति के अन्दर एक ऐसी अचेतन शक्ति की परिकल्पना की है जिसके कारण वह युद्ध का स्वागत करता है। फ्रायड का मत है कि निराशा के कारण मनुष्य एक ऐसे अवरुद्ध आक्रमण के लिए प्रेरित होता है जो अपनी अभिव्यक्ति के लिए एक ऐसा मार्ग ढूंढने का प्रयत्न करता है जो सामाजिक दृष्टि से स्वीकृत हो और उसके अहं को भी स्वीकार्य हो।

सामान्य रूप में निराशा को उत्पन्न करने वाली तीन मुख्य स्थितियां हैं-

- प्रतिकूल वातावरण द्वारा प्रस्तुत बाह्य बाधाएं, जो व्यक्ति को अपने लक्ष्य प्राप्ति से रोकती हैं।
- मनुष्य के पराहं द्वारा प्रस्तुत आंतरिक बाधाएं जो उसकी अस्वीकार्य प्रवृत्तियों की उन्मुक्त अभिव्यक्ति को रोकती है, तथा
- दो पारस्परिक विशिष्ट प्रवृत्तियों का एक साथ उत्प्रेरण, जहां पर एक व्यक्ति की संतुष्टि से दूसरे व्यक्ति के तात्कालिक संतोष में बाधा पड़ती है।

उपर्युक्त तीनों ही स्थितियां व्यक्ति की कुण्ठा के लिए जिम्मेदार हैं, जो अन्तत: संघर्ष को जन्म देती है।

6.2 अन्याय-सामाजिक, आर्थिक तथा राजनैतिक क्षेत्र में किया जाने वाला अन्याय भी संघर्ष की प्रक्रिया को जन्म देता है। अन्याय की निरन्तरता प्रतिशोध व विवादों को जन्म देती है तथा व्यक्ति, समाज व राष्ट्र संघर्षरत हो जाता है।

6.3 आक्रामकता-कुण्ठाग्रस्त व्यक्ति प्रतिक्रिया स्वरूप आक्रामक हो जाता है। आक्रामकता उसका व्यवहार व आदत बन जाती है। सामाजिक व राजनैतिक संघर्षों में आक्रामकता एक प्रमुख कारण बनती है।

6.4 परमाणु अस्त्र-शस्त्रों का भय-आणविक अस्त्रों ने अपने प्रारंभिक काल से ही अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में उथल-पुथल शुरू कर दी थी। परिणाम स्वरूप उस समय की महाशक्तियों के बीच परस्पर अविश्वास की वृद्धि और शीतयुद्ध को प्रोत्साहन मिला। आणविक शक्ति से सम्पन्न होने की लालसा ने ही शस्त्रीकरण की दौड़ को जन्म दिया तथा सैनिक गुटों के निर्माण का भी एक कारण बना। एशिया और अफ्रीका के देश भी आणविक कूटनीति से बच न सके तथा विश्व के देशों की सैनिक व्यूह रचना ही बदल गई।आणविक अस्त्रों की सैनिक कूटनीति ने विश्व की अर्थव्यवस्था पर भी प्रभाव डाला। विकासशील राष्ट्रों की राष्ट्रीय आय का एक बड़ा हिस्सा शस्त्रीकरण में खर्च होने लगा। विश्व का सैनिक खर्च जो प्रारंभ में 25 बिलियन डॉलर था, आज यह 900 बिलियन डॉलर से भी अधिक हो गया है। अतएव परमाणु कूटनीति आज पूरे विश्व पर हावी है तथा विश्व को निरन्तर संघर्षरत रखे हुए है।

संघर्ष का विकास माइक्रो व मेक्रो दोनों ही स्तर पर होता है। माइक्रो स्तर पर संघर्ष का विकास तब होता है जब एक व्यक्ति स्वयं के व्यवहार के परिप्रेक्ष्य में समूह के व्यवहार को देखता है। प्रारंभिक मनोवैज्ञानिक अध्ययनों में व्यक्तियों के व्यवहार को समूह-संघर्षों का प्रमुख कारण माना गया। समकालीन संघर्षों में भी व्यक्तियों के व्यवहार की अहम भूमिका स्पष्ट है।समाजशास्त्री, मानवशास्त्री तथा राजनीतिज्ञों एवं संगठन तथा संचार सिद्धान्तों ने संघर्ष की मेक्रो दृष्टि को ग्रहण किया। इन्होंने संघर्ष को एक ऐसी स्थिति माना है जिसमें एक विशेष समूह दूसरे का सक्रिय प्रतिद्वन्द्वी बनता है। अर्थात् व्यक्तिगत स्तर पर व्यक्तिगत व्यवहार तथा समूह के स्तर पर समूहों का परस्पर विरोध संघर्ष के विकास का प्रमुख कारण है।

7.शांति का स्वरूप

विश्वशांति मानव-जाति के अस्तित्व, विकास एवं प्रगति के लिए अत्यन्त आवश्यक है। युद्ध या युद्ध का भय, विकास एवं प्रगति के सभी साधनों को शांतिपूर्ण उपयोग से हटाकर युद्ध या युद्ध की तैयारियों के लिए मोड़ देता है। मानव-इतिहास के रक्तरंजित पृष्ठ युद्ध की भयानकता व विनाशकता के जीवन्त उदाहरण हैं। जब-जब मानवता युद्ध से त्रस्त हुई, तब-तब शांति की अधिकतम आवश्यकता अनुभव की गई। बीसवीं शताब्दी से पूर्व विश्वशांति के सामूहिक प्रयास बहुत कम हुए। कलिंग-युद्ध के पश्चात् सम्राट अशोक ने युद्ध का परित्याग कर अहिंसा के मार्ग पर चलने का प्रण किया। बाद में एशिया, अफ्रीका, यूरोप आदि क्षेत्रों में युद्धोपरान्त जो संधियां हुईं, उनका उद्देश्य द्विपक्षीय विवादों को समाप्त कर क्षेत्रीय शांति कायम करना था। प्रथम विश्वयुद्ध की वीभत्सता को दृष्टिगत रखते हुए युद्ध टालने एवं शांति कायम करने हेतु ''लीग ऑफ नेशन्स'' की स्थापना हुई लेकिन युद्ध संकट फिर भी न टल सका तथा द्वितीय विश्वयुद्ध में महाविनाश का सामना करना पड़ा। शांति स्थापना तथा परस्पर विवादों के हल हेतु संयुक्त राष्ट्र संघ की स्थापना की गई। संयुक्त राष्ट्र संघ के उद्देश्यों में विश्वशांति तथा सुरक्षा को कायम रखना एवं शांति के लिए उत्पन्न खतरों को सामूहिक सुरक्षा द्वारा रोकना प्रमुख है।

विभिन्न धर्म-दर्शनों एवं राजनीतिज्ञों ने शांति की अलग-अलग व्याख्याएं प्रस्तुत की हैं। ऑक्सफोर्ड डिक्शनरी के अनुसार ''शांति'' शब्द का अर्थ है- युद्ध से मुक्ति, दो युद्ध शक्तियों में शांति संधि। अर्थात् युद्ध की समाप्ति तथा युद्धरत राष्ट्रों में संधि कर शांति स्थापित की जा सकती है।

पॉनविट्ज का मत है- ''हमारे पास युद्ध के विरुद्ध संभावित कारण हो सकते हैं-जब तक हम यह नहीं जानते कि शांति क्या है, कैसे हो सकती है, तब तक ये कारण हमारी सहायता कैसे कर

सकते हैं?'' अर्थात् पॉनविट्ज के अनुसार युद्ध और शांति का परस्पर सम्बन्ध स्थापित करने से पूर्व कई विरोधाभासों का समन्वय करना अनिवार्य है-

- विगत अनुभवों के आधार पर शांति के सही स्वरूप की समीक्षा।
- यह जानना कि भविष्य में क्रियात्मक रूप से किस प्रकार शांति स्थापित की जा सकती है तथा
- श्रेष्ठ प्रकार की शांति की परिभाषा जो अन्ततः प्राप्त करनी है।

क्विंसी राईट के अनुसार- ''शांति किसी समाज की वह अवस्था है, जिसमें आंतरिक रूप से इसके सदस्यों तथा बाह्य रूप से इसके अन्य समुदायों के साथ सम्बन्धों में व्यवस्था तथा न्याय का बोलबाला हो।'' कुछ समाज-शास्त्रियों जैसे लियोहेमन, जुलेस मॉक आदि ने शांति को ''युद्ध न होने'' (Warlessness) के रूप में व्याख्यायित किया है। प्रो. गाल्टुंग ने इस दृष्टिकोण की आलोचना करते हुए शांति से सम्बन्धित दो भिन्न अवधाराणाएं दीं-पश्चिमी अवधारणा और पूर्वी अवधारणा। पश्चिमी अवधारणा के अनुसार युद्ध या आयोजित सामूहिक हिंसा का अभाव शांति है। तनाव, शोषण और संरचनात्मक हिंसा के अभाव को भी शांति कहा जा सकता है। शांति से सम्बन्धित इन विचारों को निषेधात्मक शांति की संज्ञा दी जाती है। इसलिए शांति के दूसरे पक्ष भावात्मक शांति पर भी विचार अपेक्षित है।

भारतीय शांति चिंतक सुगतदास के अनुसार सामाजिक और मानवीय विकास की प्रक्रिया को भावात्मक शांति कहा जा सकता है। उनके अनुसार शांति का यह अर्थ गांधी ने प्रारंभ किया था पर उन्होंने शांति के प्रतिपक्ष हिंसा की व्याख्या पहले की थी। हिंसा से उनका अर्थ केवल शक्ति प्रयोग, खूनी क्रांति आदि ही नहीं, पर सामाजिक, राजनैतिक और आर्थिक शोषण भी है। भले ही यह शोषण एक राष्ट्र के द्वारा किसी दूसरे राष्ट्र का किया जाए या एक व्यक्ति द्वारा किसी दूसरे व्यक्ति का या किसी पुरुष द्वारा स्त्री का। शांति का रचनात्मक व भावात्मक स्वरूप है-समाज व मनुष्य का समग्र विकास, एकता, सहयोग और स्थिरता। इसलिए एक तरफ तो समाज में हिंसा व शोषण रुकना चाहिए, जबकि दूसरी तरफ मनुष्य व समाज का समग्र विकास भी होना चाहिए। यही शांति का समग्र रूप है। शांति का केन्द्र मानवीय मस्तिष्क है, इसलिए अंतिम रूप से शांति व्यक्ति को अनुभव होनी चाहिए। एक व्यक्ति जब शांति की अवस्था में होगा, तब वह केवल अवरोधों व तनावों से ही स्वतंत्र नहीं होगा, वरन् भावात्मक रूप से संतुष्टि व आनन्द का भी अनुभव करेगा। इसलिए शांति का न्यूनतम रूप है- प्रत्यक्ष और संरचनात्मक हिंसा का अभाव और अधिकतम रूप है- पूर्ण शांति। संक्षेप में शांति का वर्गीकरण इस प्रकार किया जा सकता है-

- युद्ध या संगठित रूप से सामूहिक हिंसा का अभाव।
- नकारात्मक शांति-हिंसा के साथ हिंसात्मक सम्बन्धों का अभाव तथा जिसका प्रमुख आधार शांतिपूर्ण सह-अस्तित्व हो।
- सकारात्मक शांति जिसमें परस्पर सहयोग हो पर कभी-कभी हिंसा की घटनाएं सम्भव हैं।
- अवर्गीकृत शांति, जिसमें हिंसा की पूर्ण अनुपस्थिति परस्पर सहयोग के साथ सम्बन्धित हो।

7.1 शांति के प्रति विभिन्न दृष्टिकोण-अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों एवं प्रतिरक्षा सम्बन्धी साहित्य में युद्ध के विकल्प एवं शांति के प्रति दृष्टिकोणों पर कई प्रस्ताव सुझाये गये हैं। इनमें से कुछ युद्ध के कारणों को जानने तथा कुछ अन्तर्राष्ट्रीय विवादों को शांतिपूर्ण ढंग से हल करने पर बल देते हैं जबकि कई

विभिन्न प्रकार की सुरक्षा नीतियों एवं उपायों की खोज को महत्त्व प्रदान करते हैं। निम्नांकित तीन दृष्टिकोण अधिकांशत: शांति दृष्टिकोणों के रूप में मान्य हैं-

7.1.1 संस्थात्मक दृष्टिकोण-शांति स्थापित करने के लिए संस्थाओं का प्रावधान 20वीं शताब्दी से पूर्व नहीं था। संस्थाओं द्वारा शांति स्थापित करना तथा उसे बनाए रखने की प्रक्रिया का विकास इसी शदी की देन है। द्वितीय विश्वयुद्ध के पश्चात् अन्तर्राष्ट्रीय एवं क्षेत्रीय स्तर पर विभिन्न संस्थाओं का उदय हुआ, जिनका मुख्य उद्देश्य था विश्वशांति बनाए रखना। अन्तर्राष्ट्रीय स्तर के अतिरिक्त विभिन्न देशों के मध्य अनेक संधियों के सम्पन्न होने के परिणाम स्वरूप कई क्षेत्रीय संस्थाओं का भी उदय हुआ। इन संस्थाओं ने स्थानीय विवादों का शांतिपूर्ण वार्ताओं द्वारा निपटारा शांति के लिए निरापद मार्ग प्रशस्त करने में महत्त्वपूर्ण योगदान दिया है। मूलत: संस्थाओं की सफलता इनके उपयोग पर निर्भर है।

7.1.2 कार्यात्मक दृष्टिकोण-यह दृष्टिकोण सुरक्षा संगठनों को स्थापित करने की अपेक्षा सामान्य हितों तथा आत्मनिर्भरता पर बल देता है। पॉमर एवं परकिन्स के अनुसार- ''इस दृष्टिकोण का लक्ष्य है-राष्ट्रों के मध्य सहयोग बढ़ाना, जो राजनैतिक स्तर पर लगभग दुर्लभ है। ..... दूसरी तरफ राष्ट्र आर्थिक, सामाजिक तथा तकनीकी क्षेत्रों में परस्पर साथ मिलकर कार्य करने के इच्छुक हैं-ऐसा सहयोग न केवल मूल्यवान है, अपितु इसके द्वारा ऐसा वातावरण तैयार करने में सहायता मिलती है, जिससे राष्ट्रों एवं व्यक्तियों को एकता के सूत्र में बांधा जा सकता है।''

7.1.3 आरोग्यकर दृष्टिकोण-यह दृष्टिकोण दूरगामी है, इसके अन्तर्गत गरीबी, भूखमरी, अकाल, जातीय एवं वर्ग शोषण इत्यादि आर्थिक एवं सामाजिक बुराइयों पर सुनियोजित आक्रमण किया जाता है। इन कार्यों के लिए भी अन्तर्राष्ट्रीय एवं क्षेत्रीय एजेन्सियों का ही सहयोग लिया जाता है।

उपर्युक्त विश्लेषण के आधार पर हम कह सकते हैं कि स्थायी शांति हेतु आरोग्यकर दृष्टिकोण ही उपयुक्त है क्योंकि इसी दृष्टिकोण के द्वारा राजनैतिक, सामाजिक एवं आर्थिक समस्याएं जो युद्ध या तनाव को जन्म देती है, को स्थानीय स्तर पर ही हल करके अन्तर्राष्ट्रीय शांति एवं सुरक्षा को चिरस्थायी बनाया जा सकता है।

7.2 शांति अविभाज्य है-विश्व में शांति से संबंधित दो अवधारणाएं प्रचलित हैं- पश्चिमी अवधारणा और पूर्वी अवधारणा। पश्चिमी अवधारणा के अनुसार युद्ध का अभाव मात्र शांति है। इसलिए पश्चिमी शांति कार्यकर्त्ता युद्धों को रोकने के लिए प्रयत्नशील हैं। उनका चिंतन है कि ''युद्ध नहीं होंगे तो अशांति भी नहीं होगी।'' इस अवधारणा के अनुसार शांति का एक अर्थ है-संगठित और सामूहिक हिंसा का अभाव और दूसरा अर्थ है सामंजस्य (Harmony)। दो विरोधी पक्षों में यदि सामंजस्य स्थापित है तो वहां अशांति का कोई कारण नहीं। अर्थात् सामंजस्य का अभाव भी अशांति का जनक है। पूर्वी अवधारणा शांति के इन अर्थों को नकारात्मक शांति (Negative Peace) की संज्ञा देकर सकारात्मक शांति (Positive Peace) के विचार को विकसित करती है। उनके अनुसार शांति संगठित और सामूहिक हिंसा के अभाव से कहीं अधिक है क्योंकि राष्ट्रों और व्यक्तियों के बीच असमानता, गुलामी, शोषण आदि भी अशांति के महत्त्वपूर्ण कारण बनते हैं। पूर्वी अवधारणा के अनुसार समाज के हर पक्ष से संबंध होने के कारण शांति समग्र अवधारणा है। इसलिए मनुष्य व समाज के समग्र विकास की प्रक्रिया, योजनाबद्ध एवं मानवोपयोगी समाज परिवर्तन ही वास्तविक शांति है और यह परिवर्तन भी सामंजस्य के आधार पर नहीं अपितु समता के आधार पर होना चाहिए। अत: शांति के लिए केवल प्रत्यक्ष और आरोपित हिंसा और शोषण का अभाव ही पर्याप्त नहीं अपितु संरचनात्मक हिंसा (Structural Violence) का अभाव भी जरूरी है। पश्चिमी युद्ध विरोधी प्रचार का उद्देश्य मात्र संगठित हिंसा को समाप्त करना

ही नहीं अपितु सभी प्रकार की हिंसा और समाज के सभी स्तरों में व्याप्त सभी प्रकार के शोषण व असमानता को दूर करना भी होना चाहिए। इसलिए हमें यह मानना ही होगा कि समग्र शांति की अवधारणा आध्यात्मिक जगत् का जितना आधारभूत सत्य है उतना ही व्यावहारिक जगत् का यथार्थ व अनिवार्य तत्त्व भी है।

शांति समग्र है, अविभाज्य है– इस कथन की सिद्धि के लिए हम कम से कम दो प्रमाण प्रस्तुत कर सकते हैं–

- अस्तित्ववादी प्रमाण और
- कार्यकरण संबंधी प्रमाण।

पहले हम **अस्तित्ववादी तर्क** को लें– अस्तित्व शांति रूपी साध्य का साधन है। अस्तित्व विविध आयामी है और उसका लक्ष्य समग्र शांति है। प्रो. गाल्टुंग के अनुसार अस्तित्व के पांच प्रकार हैं–प्रकृति, मानव, समाज, विश्व और संस्कृति। उनके अनुसार इन पांचों अस्तित्वों का साध्य भिन्न-भिन्न होते हुए भी परम साध्य के रूप में ये शांति की अपेक्षा रखते हैं–

प्रकृति का साध्य	–	परिस्थिति का संतुलन है
मानव का साध्य	–	बोधि प्राप्त करना है
समाज का साध्य	–	विकास है
विश्व का साध्य	–	शांति है और
संस्कृति का साध्य	–	पर्याप्तता है।

गहराई से विचार करने पर ये सभी तत्त्व परस्पर अन्तर्ग्रंथित दिखाई देते हैं। अलग-अलग करके देखने पर हम शांति को नहीं जान सकते। इसका कारण है– मनुष्य, विश्व में घटित प्रत्येक घटना से प्रभावित होता है तथा प्रत्येक घटना को वह स्वयं भी प्रभावित करता है। इसलिए हम किसी एक भी तत्त्व की अवहेलना करके शांति स्थापित नहीं कर सकते। उदाहरणत: यदि प्रकृति का संतुलन ठीक नहीं होगा तो शेष चार तत्त्व भी प्रभावित हुए बिना नहीं रहेंगे। ''प्रत्येक तत्त्व दूसरे तत्त्व की शांति पर निर्भर करता है'', इस तथ्य को हम इस रूप में भी कह सकते हैं कि सबकी शांति में मेरी शांति निहित है। अस्तित्व के विभिन्न प्रकारों की परस्पर निर्भरता से शांति की अखण्डता सिद्ध होती है। प्रो. गाल्टुंग ने ठीक ही लिखा है– ''जब हम शांति के बारे में चर्चा या विचार-विमर्श करते हैं तो इसका आशय इतना ही नहीं है कि शांति केवल राष्ट्रों के बीच में ही हो, बल्कि शांति तो समाज की रग-रग में, मानव जातियों में और यहां तक कि प्रकृति में भी शांति व्याप्त होनी चाहिए।''

हम पहले यह देखें कि शांति की पूर्वावस्था क्या है? तनाव व संघर्षों के अंत को हम शांति की पूर्वावस्था के रूप में देख सकते हैं। वैयक्तिक स्तर से लेकर अन्तर्राष्ट्रीय स्तर के तनाव शांति को भंग करते हैं। प्रश्न होगा तनाव किन कारणों से उत्पन्न होता है? क्या तनाव का एकमात्र कारण युद्ध ही है? निश्चित ही नहीं, गरीबी और असमान विकास भी तनाव के कारण हैं। एकमात्र गरीबी को भी तनाव का कारण नहीं कह सकते। यदि ऐसा होता तो विकसित राष्ट्र जहां पैसे की कोई कमी नहीं है, अशांत नहीं होते। इसलिए यह मानना होगा कि असमान विकास भी अशांति का एक कारण है। एक तरफ समृद्धि है दूसरी तरफ 87 करोड़ व्यक्ति पढ़ लिख नहीं सकते, 50 करोड़ व्यक्तियों के पास रोजगार नहीं, 13 करोड़ बच्चे स्कूल जाने में सक्षम नहीं, 45 करोड़ भूख व कुपोषण से पीड़ित हैं,

एक करोड़ 20 लाख बच्चे प्रथम जन्मोत्सव से पहले ही खत्म हो जाते हैं। 2 अरब लोगों के पास पीने का पानी नहीं है, 25 करोड़ व्यक्ति झुग्गी-झोपड़ियों में रह रहे हैं। समृद्ध भी अशांत है और गरीब भी अशांत। समृद्ध अशांत है क्योंकि उन्हें सैनिक भय सता रहा है, सांस्कृतिक विपन्नता उच्छृंखलता पैदा कर रही है, समाज की टूटन रिक्तता बढ़ा रही है, संदेह, भय, संत्रास, प्रदूषण उन्हें भविष्य के प्रति त्रस्त बनाए हुए है। गरीब राष्ट्र अशांत होता है तो विश्व के दूसरे राष्ट्र अशांति से बच नहीं सकते। एक राष्ट्र की टूटन दूसरे की अशांति का कारण बन जाती है। यही कारण है कि आज अमेरिका जैसे समृद्ध राष्ट्र अविकसित राष्ट्रों के विकास के लिए प्रयत्न कर रहे हैं, उनके उत्थान के लिए मार्शल योजना जैसी कई योजनएं क्योंकि ऐश्वर्य की अट्टालिकाओं की ऊंचाइयों से उन्हें अपनी कब्रों की गहराइयां भी नजर आ रही हैं। इन कब्रों की गहराइयों को पाटे बिना उनका ऐश्वर्य ज्यादा दिनों तक सुरक्षित नहीं रह सकता।

वस्तुतः हमें इस तथ्य को स्वीकार करना होगा- शांति अविभाज्य है, उसे खण्ड-खण्ड करके कोई भी शांति से नहीं रह सकता। इसलिए गांधी ने समग्र विकास की बात कही। जयप्रकाश नारायण ने सम्पूर्ण क्रान्ति को आवश्यक माना। सबका समग्र व हर क्षेत्र में समान विकास नहीं होता तो शोषक और शोषित, शासक और शासित, पूंजीपति और श्रमिक आदि दो वर्ग सदैव बने रहेंगे और एक वर्ग की अशांति दूसरे वर्ग को भी अशांत बना देगी। इसलिए यह आवश्यक है कि हम शांति को समग्र व अविभाज्य मानकर सम्पूर्ण समाज के समग्र व समान विकास के लिए प्रयत्न करें।

8.शांति शिक्षा

वर्तमान में शांति शिक्षा की अभिरूचि केवल शांति और युद्ध की समस्या तथा राजनैतिक संघर्षों के विश्लेषण एवं अध्ययन तक ही सीमित है। शांति की नवीन परिभाषा के अनुसार युद्ध या हिंसा, राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय संघर्षों में सतत विद्यमान है। क्योंकि कुविकास (Mal-development) गरीबी, आंतरिक हिंसा और युद्ध में एक निकट सम्बन्ध देखा जा सकता है। इसलिए युद्ध विरोधी साधनों का विकास व खोज आवश्यक है। इन युद्ध विरोधी साधनों का उद्देश्य केवल युद्ध और हिंसा को समाप्त करना ही नहीं है अपितु सभी प्रकार की हिंसा और समाज में सभी स्तरों में व्याप्त सभी प्रकार के शोषण को समाप्त करना है। इसलिए शांति शिक्षा का आन्दोलन वस्तुतः सम्पूर्ण व मूलभूत परिवर्तन का है। अहिंसा हिंसा का विरोध मात्र नहीं, बल्कि सामाजिक परिवर्तन की सम्पूर्ण शक्ति है। इस प्रकार शांति शिक्षा का विचार नये समाज के निर्माण के लिए है। शांति शिक्षा में शांति के इस नवीन संप्रत्यय को सम्मिलित करना होगा जिससे समाज परिवर्तन के साथ अन्तर्राष्ट्रीय परिवर्तन व कलह-शमन भी सम्भव हो सके।

पाश्चात्य जगत् में शांति शिक्षा का विचार सर्वप्रथम कोमेनियस ने 1667 में प्रकाशित अपनी पुस्तक एंजेल ऑफ पीस में रखा था। बाद में रूसो शांति शिक्षा के विकास में मील के पत्थर बने। उनके शांति शिक्षा सम्बन्धी विचार का आधार था- ''मनुष्य स्वभाव से शांतिप्रिय है, जब उसे अपने जीवन पर कोई खतरा नजर आता है, तभी वह हिंसक बनता है।'' रूसो के पश्चात् पेस्टालॉजी व फ्रोबल ने शांति शिक्षा को एक नई दिशा दी। फ्रोबल का मानना था- बच्चे की प्रारंभिक शिक्षा का महत्त्वपूर्ण तथ्य शांति शिक्षा है। वयस्कों के लिए जीने का शांतिपूर्ण तरीका हो, जिससे भाषा, विचार और क्रिया के बीच सामंजस्य स्थापित हो सके। 19वीं शाताब्दी में शांतिशिक्षा समाजवाद से प्रभावित हुई। मार्क्स, लेनिन आदि समाजवादियों ने कहा- शिक्षा सम्पूर्ण व्यक्तित्व के विकास के लिए होनी

चाहिए। 20वीं शदी में शांतिशिक्षा को अमेरिका में विकासशील शिक्षा (Progressive Education) तथा सोवियत संघ में स्वतंत्र शिक्षा (Free Education) की संज्ञा दी गई।

प्रथम विश्वयुद्ध के पहले शांति शिक्षा का विषय नहीं था। 1890 में केवल नीदरलैण्ड में इसे पाठ्यक्रम में सम्मिलित किया गया था, जहां मोल्केनबोवर ने इसे अध्यापकों को पढ़ाने के लिए कहा। बाद में ब्रूमन, मॉण्टेसरी, बैकमेन, डेसबर्ग आदि कई शिक्षाशास्त्री शांति शिक्षा से जुड़े। ये सभी शिक्षाशास्त्री नीदरलैण्ड की शांति शिक्षा से प्रभावित थे। इसी समय शांति शिक्षा के साथ-साथ शांति के लिए शिक्षा का विचार भी सामने आया। शांति शिक्षा का अर्थ है- शांति स्थापित करने के लिए लोगों को शिक्षित-प्रशिक्षित करना। शांति के लिए शिक्षण का उद्देश्य है- युद्ध व शस्त्रीकरण का समाज पर क्या दुष्परिणाम होगा, इससे सम्बन्धित जानकारी लोगों को बताना तथा उन दुष्परिणामों को दूर करने के उपायों को सुझाना। शांति के लिए शिक्षण के तीन मुख्य प्रतिनिधि हुए हैं- फोयरस्टीर, मॉण्टसरी व ओएस्टरिच, जिन्होंने शांति शिक्षा का विकास किया।

फोयरस्टीर का मानना था- ''मनुष्य अपने प्राकृतिक स्वभाव का दमन कर आध्यात्मिक उत्थान का प्रयत्न करता है। आध्यात्मिक उत्थान तभी सम्भव हो सकता है जब वह विश्वात्मा से मिल जाए, इसके लिए शांति शिक्षा प्रभावी है क्योंकि शांति का अर्थ ही है- विश्वात्मा के समकक्षता।'' मॉण्टसरी का मानना था- ''बच्चे का निर्माण तो स्वयं होता है। शिक्षा का कर्त्तव्य बस इतना ही है कि वह उस निर्माण में जो बाधाएं आयें, उसे दूर कर दें।'' अर्थात् एक ऐसा पर्यावरण तैयार कर देना, जिसमें बच्चा स्वयं के सिद्धान्तों के आधार पर अपना निर्माण व विकास कर सके। ओएस्टरिच का मानना था- ''शांति केवल संस्कृति के पुनर्निर्माण से ही सम्भव हो सकती है। प्रत्येक व्यक्ति इस संस्कृति का एक घटक है। व्यक्तिगत स्तर पर वह एक अंश दिखाई देगा जबकि समूह में भाईचारे व मानवीयता की भावना विकसित होगी जो उत्पादक और सम्पूर्ण शिक्षा से ही आएगी तथा ऐसी शिक्षा शांतिपूर्ण होगी।'' उन्होंने यह भी कहा- शांति शिक्षा, यह एक पुनरुक्ति है। सही शिक्षा, सभी के लिए सभी लोगों में- यही तो शांति का आदर्श है।''

शांति शिक्षा के विकास में ड्यूवीकी महत्त्वपूर्ण भूमिका रही। ड्यूवी ने कहा-''वह वातावरण जिसमें शिक्षा ली जाती है, शिक्षा की गुणवत्ता पर महत्त्वपूर्ण प्रभाव डालता है। शांति शिक्षा हमारे जीवन जीने का रास्ता होना चाहिए। समाजवादी विचारकों में केवल टॉलस्टाय ने ही शांति शिक्षा के सम्बन्ध में महत्त्वपूर्ण प्रभाव छोड़ा। उन्होंने कहा-''एक व्यक्ति स्वयं में आस्था, नैतिकता, भाईचारे व शांति के लिए ही शिक्षित होना चाहिए।''

8.1 शांति शिक्षा का स्वरूप-शांति शिक्षा का जो स्वरूप वर्तमान में है, उसका विकास द्वितीय विश्वयुद्ध के **बाद** हुआ है। 1945 के पश्चात् शांति शिक्षा में तीन बातें जुड़ीं-

- अन्तर्राष्ट्रीय समझ विकसित करने के लिए शिक्षा
- राजनैतिक शिक्षा एवं
- वैशविक शिक्षा।

अन्तर्राष्ट्रीय समझ को शांति शिक्षा में सम्मिलित करने का विचार यूनेस्को के प्रयत्नों से सम्भव हुआ। राजनैतिक शिक्षा का विचार 1960 में कोरिया और वियतनाम के युद्धों के परिणाम स्वरूप सामने आया। वैशविक शिक्षा का विचार प्रो. गाल्टुंग एवं फैरी के इस सिद्धान्त से विकसित हुआ- ''शांति शक्ति के समान बंटवारे व संसाधनों के समान बंटवारे के बिना कभी भी प्राप्त नहीं की जा सकती।''

शांति शिक्षा सम्बन्धी विचार को भारतीय वाङ्मय के आधार पर इस रूप में रखा जा सकता है-विश्वशांति तभी सम्भव है, जब प्रत्येक व्यक्ति अपने मन-मस्तिष्क को इस हेतु तैयार करे और ऐसा तभी सम्भव हो सकता है जब व्यक्ति के शरीर, मन, भाव और भाषा के बीच सही समन्वय हो अर्थात् सम्पूर्ण मानव का निर्माण हो।

8.1.1 अन्तर्राष्ट्रीय समझ के लिए शिक्षा-यद्यपि इस विचार का उद्गम 1940 से पूर्व ऐसे संगठनों में हो चुका था जो अन्तर्राष्ट्रीय विनिमय के क्षेत्र में कार्यरत थे। द्वितीय विश्वयुद्ध के पश्चात् शांति के प्रति आदर्शों को व्यवहार में लाने हेतु नये संगठनों (Friendship among children and youth ,oa American Friends School Affiliation Service) का उदय हुआ। पुराने प्रतिद्वन्द्वी फ्रांस और फैडरल जर्मनी के बीच शांति की शुरुआत के लिए पेस क्रिस्टी (Pase Chiristi) ने महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई। इन संगठनों का मुख्य उद्देश्य अन्तर्राष्ट्रीय समझ को विकसित करना था, जिससे विश्व और अधिक शांतिपूर्ण हो सके।1974 में यूनेस्को ने अन्तर्राष्ट्रीय समझ, सहयोग और शांति के लिए शिक्षा तथा मानवाधिकार एवं मूलभूत स्वतंत्रता से सम्बन्धी शिक्षा को अनुशंसित किया, जो शांति शिक्षा के प्रति एक बड़ा महत्त्वपूर्ण कदम था।

8.1.2 राजनैतिक शिक्षा-शांति शिक्षा के विकास का दूसरा कदम शीतयुद्ध, कोरिया संकट एवं वियतनाम संकट के प्रतिक्रिया स्वरूप उठाया गया, जिसका पूर्ण विकास 1970 में हुआ तथा राजनैतिक शिक्षा को स्वीकृति मिली। यद्यपि शिक्षाशास्त्रियों द्वारा शांति शिक्षा के विचार को गम्भीरतापूर्वक नहीं लिया गया। अधिकांश लोगों की मान्यता थी-शांति राज्य का मामला है, इसलिए सरकार से सम्बन्धित है।अन्तर्राष्ट्रीय समझ के प्रति घटती आशा के बावजूद परमाणु शस्त्रों के खतरे एवं शांति आन्दोलनों के अनुभव-इन दो तत्त्वों ने शांति शिक्षा के इस नये स्वरूप को उजागर किया। नये स्वरूप के विचार में यह अत्यधिक महत्त्वपूर्ण अनुभव था कि शांति की दिशा में संरचनात्मक परिवर्तन राजनैतिक परिवर्तनों का परिणाम है।

शांति शिक्षा के इस संप्रत्यय का प्रबल पक्षधर गियासेकी (Giesecke) था जिसने 1960 में अपना सिद्धान्त विकसित कर समाज के सभी स्तरों के मूलभूत प्रजातंत्रीय ढांचे पर बल दिया। गियासेकी ने अपने सिद्धान्त के व्यावहारिक रूप को व्याख्यायित करते हुए शांति शिक्षा के निम्न उद्देश्यों की चर्चा की-

- संघर्षों को विश्लेषित करना सीखना।
- सामाजिक सन्दर्भों में संघर्षों का परीक्षण करना।
- ऐतिहासिक चेतना को उभारना।
- राजनैतिक सहभागिता के अनुभव का चातुर्य प्राप्त करना।

8.1.3 वैश्विक शिक्षा-1970 के पश्चात् यह विचार सामने आया कि सत्ता के समान खण्ड एवं संसाधनों के समान बंटवारे के बिना शांति कभी भी प्राप्त नहीं की जा सकती। यह विचार जो न्याय व संरचनात्मक हिंसा के विश्लेषण पर आधारित था- शांति शिक्षा के क्षेत्र में एक नया विकास था, इसे ही वैशविक शिक्षा का नाम दिया गया।गाल्टुंग के विचार में वैशविक शिक्षा राष्ट्रों के बीच रचनात्मक सहयोग पर बल देती है तथा अत्याचारियों द्वारा आरोपित प्रतिस्पर्धा एवं विरोधों को समाप्त करती है। इसी संदर्भ में फ्रेयरी (Freire) का कहना है- मनुष्य विश्व को आलोचनात्मक दृष्टि से देखने

तथा बदलने के लिए स्वयं इससे अलग हो सकता है तथा इस आलोचनात्मक दृष्टि तथा स्वयं की चेतना के आधार पर अपने विश्व की रचना स्वयं कर सकता है।

गाल्टुंग व फ्रेयरी के इन्हीं विचारों पर आधारित अन्तर्राष्ट्रीय शांतिशोध एसोसियेशन के शांति-शिक्षा कमीशन ने ऐसे लोगों से संचार की एक कार्य-योजना तैयार की है जो इस अत्याचार की प्रक्रिया के अंग हैं। नेपल्स, बैंगलोर, न्यूयार्क, अमस्टरडम, मेलबोर्न की गन्दी बस्तियों में रह रहे लोग अत्याचार के इस तंत्र के विरूद्ध संघर्ष कर रहे हैं तथा अपनी स्थितियों को सुधारने हेतु संगठन एवं संचार का प्रयत्न कर रहे हैं। इसके कार्यों में नेपल्स व बैंगलोर के संगठन सहायता व मार्गनिर्देशन कर रहे हैं।

8.2 शांति शिक्षा की वैधता-यह शांति शिक्षा की औचित्यता का दृष्टिकोण है जो शांति शिक्षा की विषय-वस्तु व व्यवहार के अन्तर पर निर्भर है। इसमें निम्नांकित सिद्धान्त सम्मिलित हैं-

- इस प्रकार की शांति शिक्षा हिंसा का विरोधकर सैनिक विरोधी अभिवृत्ति का निर्माण करती है तथा युद्ध सम्बन्धी खेल, खिलौनों तथा हिंसक प्रचार का निषेध करती है।
- यह आक्रामकता को कम करने हेतु इसके कारणों का पता लगाकर, इन पर कैसे काबू पाया जाए ताकि समाज को कम से कम क्षति हो, इसकी प्रक्रिया सिखाती है।
- यह संघर्ष को शांति शिक्षा का अंग मानती है तथा इसका लक्ष्य लोगों को यह बताना है-संघर्ष मानव-समूहों और समाज का एक महत्त्वपूर्ण घटक है। संघर्ष का भय व्यक्ति को निषोधात्मक परिणामों की तरफ ले जाता है। शांति शिक्षा लोगों को यह बतलाए कि संघर्ष से कैसे निपटा जाए?
- पूर्वाग्रहों तथा शत्रु के प्रति विरोधात्मक रवैये को समाप्त कर व्यक्तियों व संस्कृति के प्रति स्वस्थ-समझ को विकसित करना।
- एक राष्ट्र द्वारा स्वयं अपने ही हितों की पूर्ति युद्ध का एक प्रमुख कारण है। इस समस्या के निराकरण हेतु विश्व नागरिकता को प्रोत्साहन तथा विश्व सरकार को राज्यों द्वारा अपनी-अपनी संप्रभुता सौंप देना आवश्यक है।
- इस दृष्टिकोण के अंतर्गत व्यक्ति स्वयं युद्ध और शांति के लिए कार्य कर सकते हैं। वे सत्ता व प्रभाव के उन क्षेत्रों को उखाड़ फेकें जो अशांति पैदा करते हैं तथा वे अपनी रचनात्मक सहभागिता, सहयोग, आत्मविश्वास एवं ज्ञान से समाज में परिवर्तन करें।

8.3 शांति शिक्षा और नि:शस्त्रीकरण शिक्षा

शांति शिक्षा के अंतर्गत नि:शस्त्रीकरण शिक्षा को निम्न रूपों में स्पष्ट किया जा सकता है-

8.3.1 आदर्शवादी संकल्पना- इस विचार का विकास यूनेस्को के उस घोषणा-पत्र से हुआ, जिसमें यह कहा गया है- ''युद्ध मानव-मस्तिष्क में जन्म लेते हैं।'' वर्तमान अशांतिपूर्ण स्थितियों, जिनमें राष्ट्र सुरक्षा हेतु बड़े पैमाने पर शस्त्रीकरण करते हैं, का समाधान वर्तमान पीढ़ी के विचारों में शांतिपूर्ण भविष्य हेतु क्रमश: रूपान्तरण है। यह एक आदर्शवादी सिद्धान्त है जिसका विश्वास है- सहिष्णुता तथा परस्पर स्वीकृति के आधार पर अन्तर्राष्ट्रीय संघर्षों से पैदा होने वाली अशांति के स्थान पर शांतिपूर्ण भविष्य का निर्माण किया जा सकता है।

8.3.2 वैज्ञानिक संकल्पना– इस सिद्धान्त के अनुसार युद्ध के कारणों तथा शस्त्रीकरण के समूचे तंत्र के प्रभावों से सम्बन्धित वैज्ञानिक शोध के निष्कर्षों को स्कूल के पाठ्यक्रम में सम्मिलित करना चाहिए। यथासंभव पूर्व और पश्चिम दोनों में एक समान पाठ्य-पुस्तकें तथा अध्यापन सामग्री हो।

8.3.3 वैचारिक संकल्पना– इस सिद्धान्त के अनुसार शिक्षा समाज परिवर्तन का ही साधन नहीं है अपितु यह सामाजिक प्रक्रिया तथा तंत्र के पुनः प्रस्तुति का भी साधन है। इस सिद्धान्त के अनुसार प्रभावशाली नियंत्रण में पूर्ण एवं सामान्य निःशस्त्रीकरण शांति-शिक्षा का लक्ष्य नहीं है, अपितु यह शस्त्र नियंत्रण के प्रभावशाली ढंग के बारे में शिक्षा है जो शस्त्रों की ऊपरी सीमा के लिए स्वीकृति प्रदान करता है।

8.3.4 राजनीतिक संकल्पना– यह सिद्धान्त शासक व शासित के सम्बन्धों पर निर्भर है जो यह बताता है कि शासितों को अपनी स्थितियों के प्रति सचेत हो जाना चाहिए तथा शोध एवं शिक्षा की समन्विति के प्रयोग द्वारा शांतिपूर्ण विश्व का निर्माण करना चाहिए। अर्थात् इस अर्थ में शांति शिक्षा युद्ध के कारणों व अविकास से सम्बन्धित ज्ञान का स्रोत ही नहीं अपितु यह उन स्थितियों जिनमें ऐसी शिक्षा का निर्णय हुआ है तथा शिक्षा की विषयवस्तु के बीच सम्बन्धों की भी आलोचनात्मक समझ है।

8.4 शांति-शिक्षा की दुविधाएं-यह दृष्टिकोण दो मूलभूत प्रश्नों से सम्बन्धित है-

- क्या हिंसा के द्वारा शांतिपूर्ण समाज रचना सम्भव है या यह केवल अहिंसक कार्यों एवं साधनों से ही सम्भव है?
- क्या शांतिपूर्ण समाज रचना संरचनात्मक परिवर्तन से सम्भव है या मानवीय विकास से?

उपर्युक्त प्रश्नों पर विचार करें तो यह स्पष्ट होगा कि सैनिक शिक्षा, युद्ध एवं हिंसा से शांति स्थापना सम्भव नहीं है। पूंजीवादी व समाजवादी ढांचों के ढह जाने से यह और भी अधिक स्पष्ट हो चुका है। शांति केवल अहिंसक प्रशिक्षण और अहिंसक कार्यों से ही सम्भव है। अहिंसक आंदोलनकारी जैसे- गांधी, मार्टिन लूथर किंग आदि ने अहिंसा की शक्ति का पूर्ण परिचय प्रस्तुत किया है।संरचनात्मक परिवर्तन से समाज में शांति के पक्षधर गाल्टुंग रहे हैं। उनका मानना है- ''शासक उच्च वर्ग, शिक्षा के लक्ष्यों का निर्धारण वर्तमान ढांचे की सुरक्षा के लिए करता रहा है, जो हिंसा की संस्कृति है। हमें इस संस्कृति को सरंचनात्मक परिवर्तन से अलग करना होगा क्योंकि संरचनात्मक हिंसा असमान सम्बन्धों की प्रतीक है। हमें इस ढांचे के निषेध के लिए प्रयत्न करना चाहिए तथा अन्याय पर आधारित ढांचे को न्याय पर आधारित ढांचे में रूपान्तरित करना चाहिए।मानवीय सुधार द्वारा शांति स्थापित करने के दृष्टिकोण में मनुष्य को महत्त्व दिया गया है। कांट के अनुसार-

- युद्ध कोई ईश्वरीय कार्य या दैविक निर्णय नहीं है।
- शांति का अनुभव वर्तमान की आवश्यकता है, जिसे भविष्य के लिए टाला नहीं जा सकता।
- यदि राजनीतिज्ञ, शांति कार्यकर्त्ताओं तथा शिक्षा-शास्त्रियों को अवकाश दें तो शांति-शिक्षा संभव है।
- शांति आत्मविश्लेषण का और विशेषकर नैतिक परिप्रेक्ष्य में आत्म-विश्लेषण का अवसर देती है। इसका प्रारंभ सामान्य चीजों जैसे-सहयोग के लिए तत्पर रहना, दैनिक अनुभवों से सीखना आदि को व्यक्तित्व का अभिन्न अंग बना लेना चाहिए।

8.5 शांति शिक्षा की सीमाएं-इस तथ्य से इन्कार नहीं किया जा सकता कि पिछले लगभग तीन दशकों से शांति शिक्षा के क्षेत्र में महत्त्वपूर्ण कार्य हुए हैं। पवित्र उद्देश्यों तथा बहुत से प्रयत्नों के

बावजूद शांति शिक्षा का कार्यक्रम कई कारणों से बाधित रहा है, विशेषकर तीसरी दुनिया के परिप्रेक्ष्य में। शांति शिक्षा का कार्यक्रम केवल कुछ उच्च वर्ग तक सीमित रहा है तथा यह मानव-समूहों तक पहुंचने में असफल रहा है।

सम्पूर्ण शांति आन्दोलन बौद्धिक व संगठनात्मक- दोनों ही स्तरों पर यूरोप केन्द्रित रहा है। तीसरी दुनिया के व्यक्ति, संस्थाएं तथा संगठन परिधि में ही रहे हैं। परमाणु अस्त्र-शस्त्रों का खतरा तथा तीसरी दुनिया में भूख, कुपोषण, अविकास, सामाजिक अन्याय, आतंकवाद आदि अधिक महत्त्वपूर्ण रहे हैं। राष्ट्रीय व अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर इन समस्याओं से जूझने के प्रयत्न ही प्रमुख रहे हैं फलस्वरूप शांति शिक्षा की तरफ लोगों व राष्ट्रों का ध्यान कम गया है। व्यक्तिगत स्तर पर भी शांति शिक्षा की कुछ समस्याएं हैं। चूंकि शांति शिक्षा अभी तक उच्च वर्ग तक पहुंच पाई है जबकि ऐसे आधुनिकता वाले उच्च वर्गीय व्यक्ति अपने जीवन को भौतिकता की चकाचौंध के कारण खाली एवं अर्थहीन पाते हैं।

उपर्युक्त सीमाओं के बावजूद शांति शिक्षा को नकारा नहीं जा सकता है। इसकी आवश्यकता पूरे विश्व को है, भविष्य में निर्णय पर इसकी आवश्यकता को नहीं छोड़ा जा सकता।

9.शांतिशोध

एक समस्या पर किया जाने वाला अध्ययन उस तत्त्व की ओर इंगित करता है जो अशांति के लिए जिम्मेदार है तथा जो व्यक्त और अव्यक्त हिंसा से लड़ने के लिए कदम निर्धारित करने में सहयोग करे और सामाजिक, राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय विकास को आगे बढ़ाये, ऐसे कार्य को शांतिशोध कहा जा सकता है।

पाश्चात्य विचारक गुनार माइडल (Gunnar Myrdal) के अनुसार-''शांतिशोध समाजविज्ञानों के विभिन्न क्षेत्रों में एक व्यवस्थित अध्ययन है जो संघर्ष, तनाव और युद्धों के बारे में हमारी समझ और सोच में सुधार लाता है।''

उपर्युक्त दोनों अर्थों को देखें तो प्रथम परिभाषा ही व्यापक मानी जाएगी क्योंकि वहां केवल अशांति के लिए जिम्मेदार तत्त्वों पर नियंत्रण पाने की बात ही नहीं है बल्कि सामाजिक विकास के लिए कदम निर्धारित करने की बात भी शामिल है। शांति युद्ध का अभाव मात्र नहीं है, शांति समाज का समग्र विकास है।वर्तमान में शांतिशोध की अभिरूचि केवल शांति और युद्ध की समस्या तथा राजनैतिक संघर्षों तक ही सीमित है। शांति की नवीन परिभाषा के अनुसार युद्ध या हिंसा राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय संघर्षों में सतत विद्यमान है। क्योंकि कुविकास (Mal development) गरीबी, आंतरिक हिंसा और युद्ध में एक निकट संबंध देखा जा सकता है। इसलिए युद्ध विरोधी साधनों का विकास व खोज आवश्यक है। इन युद्ध विरोधी साधनों का उद्देश्य केवल युद्ध और हिंसा को समाप्त करना नहीं है अपितु सभी प्रकार की हिंसा और समाज के सभी स्तरों में व्याप्त सभी प्रकार के शोषण को समाप्त करना है। इसलिए शांतिशोध का आन्दोलन वस्तुतः संपूर्ण व मूलभूत परिवर्तन का है। अहिंसा, हिंसा का विरोधी मात्र नहीं बल्कि सामाजिक परिवर्तन की शक्ति है। इस प्रकार शांतिशोध का विचार नये समाज निर्माण के लिए है। शांतिशोध में शांति के इस नवीन संप्रत्यय को सम्मिलित करना होगा, जिससे समाज परिवर्तन के साथ अन्तर्राष्ट्रीय परिवर्तन व कलह-शमन भी संभव हो सके।

शांतिशोध का उपर्युक्त अर्थ व विचार इसलिए महत्त्वपूर्ण है क्योंकि शांतिशोध किसी विशेष अनुशासन या विषय (Discipline) से संबंधित नहीं है, इसे किसी भी दिशा में विकसित किया जा सकता है जो दिशा शांतिशोधकर्त्ता के मन में हो। इसलिए शांतिशोध अन्तःअनुशासित (Inter

Disciplinary) है। उदाहरणार्थ किसी भी देश की समस्या केवल राजनैतिक ही नहीं होती। वे आर्थिक भी हैं, सामाजिक भी हैं, सांस्कृति भी हैं। किसी एक क्षेत्र के आधार पर हमारा अध्ययन गलत होगा। किसी भी समस्या को विभिन्न दृष्टिकोणों से देखकर उसके निदान के प्रयत्न हों तभी शांति संभव होगी। गाल्टुंग का मानना है- शांतिशोध में हम विषय केन्द्रित क्षेत्र को समस्या केन्द्रित क्षेत्र में बदलें जिससे समस्या की गहराई तक पहुंचा जा सके और उसका निदान संभव हो सके। समस्या के निदान के लिए शांतिशोध में साधन-शुद्धि पर सदैव ध्यान रखा जाएगा।इसलिए शांतिशोध समाज, राष्ट्र और अन्तर्राष्ट्रीय स्तर में योजनाबद्ध प्रयत्नों द्वारा अहिंसक तरीके से सामाजिक परिवर्तन लाने के लक्ष्य का अनुसरण करता है।

गाल्टुंग ने अपने एक निबन्ध ''ए क्रिटिकल डेफिनेशन ऑफ पीस'' में कहा है- ''शांतिशोध उन स्थितियों को समझने का प्रयास है जो हमें अन्तर्राष्ट्रीय और अन्तर्सामूहिक हिंसा को रोकने में योगदान करता है तथा राष्ट्रों और जनता के बीच सामंजस्यपूर्ण तथा रचनात्मक संबंधों के विकास में सहायक होता है।''शांतिशोध को व्यापक रूप से दो वर्गों में विभाजित किया जा सकता है-

- संघर्ष-शोध और
- शांति के लिए पहल।

उपर्युक्त दोनों क्षेत्रों से संबंधित शोध शांतिशोध है।

9.1 शांतिशोध के उद्देश्य-शांतिशोध के उपर्युक्त विभाजन इसके उद्देश्यों को भी स्पष्ट करते हैं अर्थात् संघर्ष-शोध व शांति के लिए पहल इसका प्रमुख उद्देश्य हो सकता है। समाज में अशांति की जो स्थितियां हैं, संघर्ष या तनाव की जो स्थितियां हैं, उनके कारणों का पता लगाना तथा उनके निराकरण के उपाय सुझाना-यह शांतिशोध का प्रमुख उद्देश्य होगा। दूसरा महत्त्वपूर्ण उद्देश्य होगा- समाज का समग्र विकास करना क्योंकि सामाजिक असमानताएं हिंसा का कारण बनती हैं इसलिए सबका समग्र विकास इसका एक और मुख्य उद्देश्य हो सकता है। इनके अतिरिक्त निम्न बिन्दुओं के अन्तर्गत शांतिशोध के उद्देश्यों पर विचार कर सकते हैं-

9.1.1 अहिंसक समाज रचना-शांतिशोध का एक महत्त्वपूर्ण उद्देश्य है-अहिंसक व गरीबी मुक्त समाज की रचना। यद्यपि कोई भी समाज ऐसा नहीं है जो केवल हिंसा या केवल अहिंसा पर चल सके। जीवन निर्वाह के लिए हिंसा आवश्यक है पर समाज-रचना अहिंसा के आधार पर हुई है। एक दूसरे के हित में बाधा न डालने का समझौता सामाजिक जीवन का सुदृढ़ स्तम्भ है। अत: समाज में जो वर्ग भेद हैं, संघर्ष हैं उन्हें मिटाना आवश्यक है। शांतिशोध का यह उद्देश्य होगा कि एक ऐसे समाज की रचना करें जिसमें हिंसा का वर्चस्व न हो तथा सबका समान विकास हो सके।

9.1.2 नि:शस्त्रीकरण-शस्त्रास्त्रों के भयावह खतरे के बावजूद शस्त्रीकरण की होड़ जारी है। पारस्परिक अविश्वास व शक्ति संतुलन का सिद्धान्त इस समस्या को और अधिक गहरा बनाये हुए है। शांति स्थापना आर्थिक कल्याण व पुनर्निर्माण, समस्याओं के शांतिपूर्ण समाधान तथा आणविक संकट व पर्यावरण प्रदूषण से बचने के लिए नि:शस्त्रीकरण की अपेक्षा है। शांतिशोध का उद्देश्य है-शस्त्रीकरण से होने वाले संघर्षों का पता लगाकर उनके समाधान के रूप में नि:शस्त्रीकरण को प्रस्तुत करना क्योंकि विश्वशांति का एक मार्ग यह भी है।

9.1.3 समुचित व संतुलित विकास के लिए-विश्व में कुविकास की समस्या बड़ी जटिल है। एक ओर तो विकसित राष्ट्र हैं, जहां भौतिक समृद्धि है, शक्ति है फिर भी वहां अशांति है। दूसरी तरफ

अविकसित और पिछड़े राष्ट्र हैं जहां गरीबी अशांति का कारण बनी हुई है। अर्थात् असंतुलित विकास विश्व शांति के लिए खतरा बन गया है। शांतिशोध का उद्देश्य है-इस कुविकास या असंतुलित विकास के कारणों का पता लगाकर समुचित व संतुलित विकास का मार्ग प्रशस्त करे।

9.1.4 पारस्परिक सहयोग-राष्ट्रों की परस्पर अन्तर्निर्भरता इतनी अधिक बढ़ गई है कि पारस्परिक सहयोग के बिना कार्य नहीं चल सकता। पारस्परिक सहयोग की कमी के कारण अनेक संघर्ष भी होते हैं। आज आवश्यकता है कि पारस्परिक सहयोग के क्षेत्र को बढ़ायें और प्रतिस्पर्धा व अविश्वास की भावना को छोड़ें। ये शस्त्रीकरण व अशांति के स्रोत हैं जबकि पारस्परिक सहयोग विश्वशांति का आधार है। शांतिशोध का उद्देश्य है पारस्परिक सहयोग के क्षेत्रों की खोज कर पारस्परिक सहयोग को बढ़ाये।

9.1.5 नव्य-उपनिवेशवाद पर नियंत्रण-उपनिवेशवाद की समाप्ति के पश्चात् नव्य-उपनिवेशवादी नीतियां सामने आई हैं। शक्तिशाली राष्ट्र अविकसित राष्ट्रों के आर्थिक विकास में इसलिए रूचि लेते हैं ताकि उनकी अर्थव्यवस्था पर नियंत्रण स्थापित कर उस राष्ट्र को अपने नियंत्रण में ले सकें। शांतिशोध का यह उद्देश्य है कि उपनिवेशवाद के इस नवीन संस्करण के रूपों व कारणों का पता लगाकर निदान का मार्ग प्रशस्त करे।

9.1.6 संरचनात्मक हिंसा-समाज की संरचना में जो दोष हैं उनके कारण हिंसा को बढ़ावा मिलता है। शांतिशोध का यह एक और उद्देश्य है कि वह समाज-व्यवस्था और समाज की जड़ों में जो हिंसा के बीज छुपे हैं, उनका पता लगाकर संरचनात्मक हिंसा पर काबू पाये।

9.2 शांतिशोध की आवश्यकता-निम्नांकित विषयों के अध्ययन के लिए शांतिशोध की आवश्यकता है-

9.2.1 विश्व के बड़े धर्मों का शांति के प्रति क्या दृष्टिकोण है-यह बड़ा महत्त्वपूर्ण है कि विश्वशांति का मार्ग विभिन्न धर्मों के शांति के प्रति दृष्टिकोण से जुड़ा हुआ है। विश्व में अनेक ऐसे युद्ध हुए हैं जो धार्मिक आधारों पर लड़े गये हैं। प्रारंभ से धर्म और राजनीति के बीच संघर्ष चलता रहा है। आज इस बात की अपेक्षा है कि विभिन्न धर्मों का शांति के प्रति क्या दृष्टिकोण है इसका पता लगाया जाए तथा शांति का एक सर्वसम्मत आधार प्रस्तुत करें।

9.2.2 समसामयिक समाज में समाज परिवर्तन की क्या आवश्यकता है-चीन, रूस, फ्रांस आदि राष्ट्रों में समाज परिवर्तन का इतिहास खूनी क्रांतियों का इतिहास है। समाज परिवर्तन के लिए इतना खून बहाया जाने के बावजूद भी वांछित परिवर्तन नहीं आ सके हैं। हमें समस्या को दूसरे दृष्टिकोण से भी सोचना होगा। यदि हिंसा समस्या का समाधान नहीं हो सकती तो अहिंसक साधनों से समाज परिवर्तन की बात सोचनी होगी। इस दिशा में गांधी, विनोबा, जयप्रकाश नारायण व आचार्य तुलसी के प्रयास महत्त्वपूर्ण हैं। अहिंसक साधनों से समाज परिवर्तन के लिए जिन साधनों को काम में लिया जाता रहा है उनमें सत्याग्रह, स्वदेशी, अहिंसा-प्रशिक्षण, हृदय परिवर्तन आदि प्रमुख हैं। शांतिशोध की आवश्यकता इसलिए है, वह यह पता लगाये कि सम-सामयिक समाज परिवर्तन की क्या आवश्यकता है? कैसे समाज-परिवर्तन किया जा सकता है और उसके क्या-क्या साधन हो सकते हैं?

9.2.3 शांति संगठनों की क्या भूमिका है-शांतिशोध की आवश्यकता इसलिए भी है कि वह यह पता लगाये कि विश्वशांति की दृष्टि से शांति संगठनों की क्या भूमिका हो सकती है? विश्व के अनेक राष्ट्रों में कुछ सरकारी व गैर सरकारी संस्थान (NGO's) हैं जो शांति के कार्यक्रमों में संलग्न

हैं। पर उन संगठनों के बीच न तो कोई तालमेल है और न कोई संचार। शांतिशोध इस दिशा में प्रयत्न करे कि किस तरह इन शांति संगठनों को एक विश्वव्यापी नेटवर्क से जोड़ा जा सकता है और कैसे इनमें समन्वय स्थापित कर विश्वशांति के प्रयासों को गति दी जा सकती है।

9.2.4 शांतिशिक्षण की समस्याएं और चुनौतियां–शांतिशोध की आवश्यकता शांतिशिक्षण की समस्याओं और चुनौतियों के कारणों की खोज और निदान का मार्ग प्रशस्त करने के लिए भी है। गाल्टुंग का विचार रहा है–''शांति, शक्ति के समान बंटवारे व संसाधनों के समान बंटवारे के बिना कभी भी प्राप्त नहीं की जा सकती''–यह विचार शांति शिक्षण का आधार बना है।व्यक्ति संस्कृति का एक तत्त्व है, इसलिए वह इसके एक अंग के रूप में रहेगा पर समूह में भाईचारे या मानवता की भावना होगी। शांति शिक्षण का एक आधार यह भी हो सकता है।

उपर्युक्त समस्याओं के अलावा कुछ और महत्त्वपूर्ण समस्याएं हैं जिनके लिए शांतिशोध की आवश्यकता है–

- अन्तर्राष्ट्रीय संबंधों को पुनर्व्यवस्थित करने के लिए।
- राजनैतिक संगठनों में विशेष रूप से तनाव के समय और नक्सलवादियों के बीच हिंसा की रोकथाम के लिए।
- आर्थिक ढांचे में विशेषकर जमींदार और कृषक तथा पूंजीपति व श्रमिक के संबंधों के लिए।
- संस्कृति के क्षेत्र में जिसमें भाषा, अर्थ, शिक्षा और सांस्कृतिक भिन्नता आदि के कारण संघर्ष हो रहे हैं।

10.सामाजिक पुनर्निर्माण के लिए शिक्षा

मानव समाज प्राचीनकाल से आज तक निरन्तर विकसित और परिवर्तित होता चला आ रहा है। प्राचीन और मध्यकाल में जब शिक्षा का प्रसार नहीं था, समाजिक पुनर्निर्माण का कार्य समाज की विभिन्न संस्थाओं द्वारा किया जाता था। आज जब शिक्षा का पर्याप्त प्रसार हो गया है, तो शिक्षा को ही सामाजिक पुनर्निर्माण का प्रमुख साधन माना जाता है। डॉ. राधाकृष्णन् के शब्दों में– ''शिक्षा परिवर्तन व पुनर्निर्माण का साधन है। जो कार्य साधारण समाजों में परिवार, धर्म और सामाजिक एवं राजनीतिक संस्थाओं द्वारा किया जाता था, वह आज शिक्षा द्वारा किया जा रहा है।''

भारतीय शिक्षा आयोग 1964–66 ने सामाजिक पुनर्निर्माण को आधुनिकीकरण से जोड़ा, जिससे नवीन विचार, नवीन ज्ञान–विज्ञान, तकनीकी आदि द्वारा समान्य जीवन की भौतिक परिस्थितियों में परिवर्तन आ रहा है तथा समस्त समाज का जीवन परिवर्तित हो रहा है। सुख–संवृद्धि की संभावनाएं अधिक प्रशस्त हो रही हैं। मानवीय कौशल, ज्ञान और गतिशीलता में अन्तर आ रहा है जो सम्पूर्ण समाज के आर्थिक और सामाजिक ढांचे को प्रभावित करता है। समाज एक स्थिति से उठकर उन्नत स्थिति की ओर बढ़ता है। इस प्रकार की दशा पुनर्निर्माण की दशा होती है।

10.1 सामाजिक पुनर्निर्माण क्या है–सामाजिक पुनर्निर्माण हमारे सोचने–समझने और तौर–तरीकों में ऐसा अन्तर है जो हमारे जीवन में आर्थिक, सामाजिक, राजनैतिक, सांस्कृतिक, सभी पक्षों में सुधारात्मक प्रभाव लाता है। राबर्ट हीन ब्रोनर ने सामाजिक पुनर्निर्माण को ''महान् आरोहण'' की संज्ञा दी है। उनका मत है– ''आर्थिक विस्तार के लिए अनिवार्य पूंजी या संसाधनों की पूर्ति से ही परम्पराओं से जकड़े हुए समाज का पुनरुद्धार नहीं हो सकता तथा इस रूपान्तरण के लिए व्यापक सामाजिक कायापलट भी पर्याप्त नहीं है अपितु आदतों में आमूल परिवर्तन, समय, प्रतिष्ठा, धन और कार्य संबंधी मूल्यों का

परिवर्तन तथा स्वयं के दैनिक जीवन के ताने-बाने को भी बदलकर सामाजिक पुनर्निर्माण को संभव बनाया जा सकता है।''

सामाजिक पुनर्निर्माण का संबंध आर्थिक, सामाजिक, राजनैतिक व्यवस्था में बदलाहट से लगाया जाता है। समाज की आर्थिक, सामाजिक व राजनैतिक व्यवस्था में जब सुधारात्मक परिवर्तन होता है, तब समाज में नवीन प्रवृत्तियों का उदय होता है, नये प्रतिमान स्थापित होते हैं। पुरातन मान्यताएं खण्डित होती हैं तथा विकास की संभावनाएं प्रशस्त होती हैं। रेडोवान ने लिखा है- सभी विकासोन्मुख समाजों में सारे सचेतन प्रयास इस हेतु किये जा रहे हैं कि वे ऐसी संस्कृति को जन्म दें जो तकनीकी युग और सार्वभौमिकता की मांगों को पूरी कर सके।''

विश्व के विभिन्न समाजों का अध्ययन करें तो यह जानने को मिलेगा कि विश्व में कुछ समाज ऐसे हैं जो बहुत अधिक विकसित हैं। यह विकास आर्थिक और भौतिक है। यहां संस्कृतियों का विनाश हो रहा है। परिवार, विवाह जैसी सामाजिक संस्थाएं टूट रही हैं। व्यक्ति अकेलापन महसूस कर रहा है। भौतिक चकाचौंध उसे सुखशांति नहीं अपितु तनाव और संघर्ष दे रही है। दूसरी तरफ कुछ समाज ऐसे हैं जहां विकास नगण्य है। भूखमरी, बेकारी, गरीबी, कुपोषण इन समाजों को त्रस्त किये हुए है परिणामत: ये समाज भी अशांत हैं, संघर्षरत हैं। एक तरफ समृद्धि है एक तरफ गरीबी। यह कुविकास अशांति का कारण है, अत: इस कुविकास को दूर कर संतुलित विकास के लिए इन दोनों ही समाजों के पुनर्निर्माण की आवश्यकता है। यह पुनर्निर्माण विश्व-बन्धुत्व, परस्पर सहयोग एवं सौहार्द द्वारा ही हो सकता है, जिसके लिए शिक्षा की महत्त्वपूर्ण भूमिका होगी।

सामाजिक विकास, परिवर्तन और पुनर्निर्माण का आधार मनुष्य ही है। मनुष्य अपनी इच्छाओं की पूर्ति के लिए ही आविष्कार करता है। जब इच्छाएं असीम हो जाती हैं तब परस्पर संघर्ष अवश्यंभावी हो जाता है। मनुष्य के जीवन की श्रेष्ठता इस बात में है कि वह सामाजिक पुनर्निर्माण के अनुकूल आचारण करना सीखे तथा स्वयं को उन परिवर्तनों के अनुकूल ढाले। इस प्रकार मनुष्य पुनर्निर्माण प्रक्रिया में दो प्रकार से भाग लेता है-एक तो समाज में आवश्यकताओं के अनुरूप परिवर्तन लाने का प्रयास करता है तथा दूसरे वह उत्पन्न परिवर्तन के अनुरूप स्वयं को ढालने का प्रयत्न करता है। अर्थात् परिवर्तन मनुष्य स्वयं लाता है तथा मनुष्य का अपना तदनुरूप आचारण ही उस परिवर्तन को लागू करता है।

10.2 सामाजिक पुनर्निर्माण के लिए शिक्षा एक साधन-शिक्षा द्वारा अनेक देशों एवं समाजों का पुनर्निर्माण किया गया है। इस हेतु निम्नलिखित तथ्य ज्ञातव्य हैं-

10.2.1. भारत में अंग्रेजी शिक्षा के कारण सामाजिक पुनर्निर्माण-अंग्रेजी शिक्षा के प्रवेश से भारत ने कई सदियों की कुम्भकर्णी निद्रा का परित्याग कर अपने समाज में असाधारण आर्थिक, राजनीतिक, सामाजिक परिवर्तन किये। सामाजिक पुनर्निर्माण का श्रेय राजा राममोहन राय, टैगोर, केशवचन्द्र सैन, स्वामी दयानन्द सरस्वती आदि महान् व्यक्तियों को प्राप्त हुआ। इन्होंने सती प्रथा, कन्या वध, बालविवाह आदि कुप्रथाओं का अंत कर हमारे समाज की कायापलट कर दी। राजनैतिक पुनर्निर्माण का श्रेय दादाभाई नौरोजी, गोखले, गांधीजी व नेहरूजी को जाता है। यह सच है कि देश के शैक्षिक विचारों में महत्त्वपूर्ण परिवर्तनों के बिना आधुनिक भारत की सामान्य जागृति संभव नहीं होती।

10.2.2. भारत में मूल्यपरक शिक्षा के कारण सामाजिक पुनर्निर्माण का प्रयास-प्राचीन भारत के निवासियों में धर्म और नैतिकता में आस्था होने के कारण न्याय, सहयोग, सहिष्णुता, सह-अस्तित्व,

नि:स्वार्थता आदि मूल्यों पर सदैव बल दिया गया है। उन्होंने आध्यात्मिक मूल्यों की तुलना में भौतिक मूल्यों को निरन्तर स्थान दिया था। स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात् भारत में आर्थिक, सामाजिक व राजनैतिक क्षेत्रों में स्वार्थ व शोषण की भावनाएं प्रबल हो गई थीं तथा सहयोग व सहिष्णुता का स्थान अलगाव, घृणा व द्वेष ने ले लिया था। सामाजिक परिवर्तन और विघटन की इस प्रक्रिया में सबसे शक्तिशाली तत्त्व विज्ञान की शिक्षा का विकास था।आज अलगाववाद, असहिष्णुता आदि को दूर कर सामाजिक पुनर्निर्माण के लिए मूल्यपरक शिक्षा पर बल दिया जा रहा है ताकि सर्वांगीण व्यक्तित्व का विकास संभव हो सके तथा सहयोग व भ्रातृत्व पर आधारित समाज का पुनर्निर्माण हो सके।

10.2.3. जर्मनी में शिक्षा द्वारा सामाजिक परिवर्तन–सन् 1860 में जेना के युद्ध में नेपोलियन द्वारा धूल–धूसरित कर दिये जाने के कारण जर्मन लोगों की देश–प्रेम, राष्ट्रीयता, बलिदान आदि भावनाओं पर घातक प्रभाव हुआ था। इन भावनाओं का पुनर्निर्माण करके अपने समाज को पूर्व रूप में परिवर्तित करने के लिए शिक्षा का सहारा लिया गया था।

10.2.4. सोवियत संघ में शिक्षा द्वारा समाजवाद का व्यापक प्रचार–सोवियत संघ में जार के सामन्तवादी विचारों के स्थान पर समाजवादी समाज के पुनर्निर्माण के लिए शिक्षा का सहारा लिया गया था। समाजवाद को विश्वव्यापी बनाने के लिए भी सोवियत संघ ने शिक्षा का भरपूर सहारा लिया।

10.2.5. शांति शिक्षा द्वारा वर्तमान विश्व के कायापलट का प्रयास–वर्तमान में विश्व के असंतुलित विकास या कुविकास को खत्म करने, शस्त्रीकरण को रोकने तथा अहिंसक व शांतिवादी विश्व समाज की रचना के लिए शांति शिक्षा व नि:शस्त्रीकरण की शिक्षा का सहारा लिया जा रहा है। इस प्रकार समाज के पुनर्निर्माण में शिक्षा एक महत्त्वपूर्ण साधन के रूप में सामने आई है। भविष्य की राष्ट्रीय व अन्तर्राष्ट्रीय आकांक्षाओं के अनुरूप सामाजिक पुनर्निमाण के लिए यह आवश्यक है कि शिक्षा इस तरह की आयोजित की जाए कि वह बालकों में परिवर्तन व नवीन प्रवृत्तियों पर आलोचनात्मक ढंग से विचार कर सकने की योग्यता दे।

10.3 सामाजिक पुनर्निर्माण हेतु प्रयत्न–सामाजिक पुनर्निर्माण हेतु निम्न दो स्तरों पर प्रयत्न करने आवश्यक हैं–

- भौतिक संसाधनों का विकास व उनका समान वितरण
- मानवीय संसाधनों का विकास व उनका पूर्ण उपयोग।

शिक्षा इन दोनों क्षेत्रों में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाती है। व्यक्ति को नये मूल्य देने, उसकी प्रवृत्ति, सोचने–विचारने के ढंग और नये परिवर्तन के प्रति आस्था उत्पन्न करने का कार्य शिक्षा ही करती है। रूस में क्रांति के बाद समाज के पिछड़े ग्रामीण और परम्परागत स्थिति को उन्नत, विकासशील और आधुनिक समाज में बदलने का कार्य विद्यालयों को ही सौंपा गया था। कोठारी आयोग ने उचित ही कहा था– ''हमारा देश जिस प्रकार के समाजवादी ढंग का समाज निर्मित करना चाहता है, वह समाज व्यक्तिगत या समूहगत संकीर्ण निष्ठा व स्वार्थता के द्वारा नहीं अपितु राष्ट्रीय विकास के सभी घटकों के प्रति व्यापक निष्ठा व उसके प्रति उत्सर्ग से ही बन सकेगा और इस हेतु शिक्षा अहम साधन होगी।''

10.4 सामाजिक पुनर्निर्माण कैसे–सामाजिक पुनर्निर्माण दो प्रकारों से किया जा सकता है–

- संगठित व नियोजित रूप से धीरे–धीरे परिवर्तन लाकर।
- क्रांति अथवा आन्दोलन द्वारा एकाएक परिवर्तन लाकर।

इन दोनों विधियों में प्रथम विधि उपयोगी एवं संतोषजनक है। दूसरी विधि घृणा, अत्याचार, हिंसा और अशांति उत्पन्न कर सकती है। 1688-89 की इंग्लैण्ड की, 1783 की फ्रांस की, 1917 की रूसी क्रांतियां इसकी प्रमाण हैं।

10.5 शिक्षा का सहयोग-योजनाबद्ध सामाजिक पुनर्निर्माण के लिए शिक्षा तीन प्रकार से सहयोग कर सकती हैं-

- व्यक्तियों में यह समझ विकसित की जाए कि वे अच्छी व उपयोगी परम्पराओं और व्यवस्थाओं का चयन कर सकें तथा अनुपयोगी एवं बुरी परम्पराओं तथा रूढ़ियों को छोड़ सकें।
- व्यक्ति निर्भीक एवं स्वतंत्र होकर सामाजिक बुराइयों की आलोचना कर सके।
- व्यक्ति योग्य बनकर सुनियोजित एवं सुनिश्चित योजना में सहयोग दे सके।

यद्यपि वर्तमान शिक्षा सामाजिक पुनर्निर्माण के स्वरूप को निश्चित करने में असफल रही है। प्रो. सचदेवा के शब्दों में- ''शिक्षा, जिसे सामाजिक व्यवस्था को नवीन रूप प्रदान करने में नेतृत्व करना चाहिए था, उसकी चाटुकार सहचरी के रूप में कार्य करके संतोष का अनुभव कर रही है।'' इसलिए वर्तमान शिक्षा में परिवर्तन की बात बहुत जोरों से की जा रही है। शिक्षा में आज मूल्यों का अकाल-सा पड़ गया है, इसी कारण विश्व कुविकास की समस्या से ग्रस्त है। वर्तमान शिक्षा में मूल्यों तथा अहिंसा एवं शांति के तत्त्वों के समावेश से विश्व द्वारा चाहे जा रहे संतुलित सामाजिक पुनर्निर्माण को संभव बनाया जा सकता है।

11. इक्कीसवीं शताब्दी की शिक्षा

विश्व या समाज की समस्या वास्तव में व्यक्ति की समस्या है। विश्व तभी शांति से रह सकता है, जब व्यक्ति शांति से रहने के लिए अपना मन बनाये। ऐसा तभी संभव हो सकता है जब व्यक्ति के शरीर, मन और भाषा के बीच समन्वय हो। शिक्षा की आवश्यकता व्यक्ति को यही प्रशिक्षण देने के लिए है। प्रचलित शिक्षा पद्धतियों ने यद्यपि कई सार्वजनिक उद्देश्यों की पूर्ति की है पर इसका मुख्य लक्ष्य समाज का संतुलित विकास और शिक्षा के ढांचे का सुदृढ़ीकरण होने की बजाय सर्वश्रेष्ठ शासक वर्ग का निर्माण रहा है, इसी कारण अभी तक लोक कल्याण नहीं हो पाया है। यद्यपि मानव सभ्यता, विकास के कई सोपानों से गुजरी है पर यह केन्द्रीय दृष्टि अपरिवर्तनीय रही है। नौकरशाही, औद्योगीकरण, विज्ञान, प्रबन्ध, सेना, राष्ट्रवाद, समाजवाद, योजनाबद्ध विकास- सबने इस प्रक्रिया में भरपूर सहयोग किया है। व्यक्ति ने व्यक्ति का शोषण किया है, शक्तिशाली व्यक्तियों द्वारा कमजोर लोगों पर अत्याचार हुए, पुरुषों ने स्त्रियों का तथा सबल ने निर्बल का शोषण किया है, उन पर शासन किया है। इतिहास से चली आ रही इस शिक्षा की व्यवस्था ने केवल शासक समाज की सेवा की है और हिंसा को बढ़ावा दिया है।

योजनाबद्ध हिंसा आज की देन नहीं, बल्कि सदियों से चली आ रही है, इस तरह के बहुत से साक्ष्य प्राचीन इतिहास में देखने को मिलते हैं। एक इटालियन यात्री ने भारत यात्रा का अपना अनुभव लिखते हुए कहा है- वह एक ब्राह्मण से मिला और सूर्यग्रहण के बारे में जानकारी चाही। ब्राह्मण ने वैज्ञानिक विस्तार से उसे प्रामाणिक जानकारी दी। संयोगवश उसी समय एक अस्पृश्य व्यक्ति ने भी ब्राह्मण से वही जानकारी चाही। ब्राह्मण का उत्तर था- राक्षस राहू सूर्य देवता को निगल जाता है और सूर्यग्रहण हो जाता है। जब इटालियन यात्री ने यह सब देखकर पूछा-कौन सा उत्तर सही है? ब्राह्मण का जवाब था-जो उत्तर आपको दिया गया, वही सही है। ज्ञान सबके लिए नहीं है, सामान्य आदमी के

लिए दूसरी शिक्षा है। प्राचीन भारत में स्त्री और अस्पृश्य को वेदाध्ययन का अधिकार नहीं था। अत: शिक्षा अभ्यास के लिए नहीं वरन् शासक वर्ग की सेवा के लिए रही है। ये शासक पूरे राष्ट्र के विकास को अकेले ही निगल लेते हैं। विकसित राष्ट्र इसी प्रकार की शिक्षा को महत्त्व देते रहे हैं। ग्रेट ब्रिटेन में शिक्षा केवल उच्च वर्ग के लिए ही है। केवल 16% लोग ही उच्च शिक्षा प्राप्त करते हैं, इनमें से भी 80%लोग शारीरिक श्रम न करने वाले परिवारों से आते हैं। यद्यपि ग्रेट ब्रिटेन में 98% साक्षरता है पर इनमें से 80% नाम मात्र के लिए ही शिक्षित हैं। शिक्षा का यह एकाधिकार पद और धन के एकाधिकार से भी खतरनाक है। इससे बुरा क्या होगा कि एक छोटा समुदाय अपने विशेष ज्ञान के कारण पूरे समूह पर शासन कर रहा है। प्राचीनकाल की तुलना में आज शूद्रों की संख्या अधिक हो गई है। वैशिष्ट्य के बिना सामाजिक ज्ञान रखने वाले लोग समाज में अविश्वसनीय हैं। अत: मात्र विशिष्ट लोगों के पास ही शिक्षा व सत्ता का अधिकार है। उनके पास ही ऐसे मंत्र हैं जो नियम-उपनियम, आचार संहिताओं आदि का निर्माण करते हैं।

ज्ञान की यह संकीर्णता व्यक्ति को प्राकृतिक विवेक से दूर ले जा रही है तथा उसकी आंतरिक प्रतिभा और विवेक शक्ति को नष्ट कर रही है। अत: आज आवश्यक है 21वीं शताब्दी के लिए शिक्षा पर पुनर्विचार व पुनर्निर्माण की। यदि शिक्षा को रोजगार के साथ जोड़ा जाता है तो इसके परिणाम भी भयावह ही हैं। रोजगार प्राप्त व बेराजगारों के बीच संघर्ष है। अनुत्पादक शिक्षित रोजगार प्राप्त व उत्पादक अशिक्षित स्वयं रोजगार प्राप्त व्यक्तियों के बीच संघर्ष है। यह कहना मात्र धोखा है कि आज अनुत्पादक शिक्षित रोजगार व्यक्ति पूंजी पर नियंत्रण स्थापित कर रोजगार उत्पन्न कर रहे हैं। यदि ऐसी ही स्थिति रही तो परिणाम खतरनाक भी हो सकते हैं।

गांधीजी की भाषा में इस प्रश्न का समाधान है-हम किसी भी समाज का रख-रखाव करने की जगह शिक्षा के माध्यम से ऐसे नए समाज-तंत्र का निर्माण करें जो अहिंसक समाज का निर्माण और उसका नेतृत्व करे। ऐसी शिक्षा दलितों के उत्थान के लिए होगी, शक्ति को विकेन्द्रित करने के लिए होगी तथा समानता की संस्कृति के विकास के लिए होगी। सबके लिए समान अवसर का नारा आज अधिक सार्थक नहीं क्योंकि समाज के विभिन्न वर्ग, जातियां बहुत अधिक असमान स्तर तक पहुंच चुके हैं। अत: पिछड़े वर्ग को कुछ अतिरिक्त लाभ देने होंगे जिससे शिक्षा उन्हें समान स्तर पर ला सके। ऐसी शिक्षा स्वप्रकाशित करने वाली तथा मूल्य केन्द्रित होगी जिसका उद्देश्य डॉक्टर, इंजीनियर व प्रशासक देना नहीं अपितु इन लोगों में वैसे गुण व मूल्य भी हैं या नहीं, यह देखना होगा। इस प्रकार की शिक्षा द्वारा परिवर्तित अभिवृत्तियों का विकास होगा, बौद्धिक परिपक्वता आएगी जिससे अहिंसक संस्कृति का निर्माण होगा। फोयरस्टीर ने ठीक ही कहा था- शांति केवल संस्कृति के पुनर्निर्माण से ही स्थापित हो सकती है। इस संस्कृति में सामंजस्य व सेवा भावना पर बल दिया जाएगा। हिंसा व केन्द्रीयकरण की जगह सहभागिता व अहिंसक भावना का विकास होगा। कार्ल मेनहीन ने ठीक ही कहा है- ''हिंसक दृष्टिकोण को उपयुक्त शिक्षा के द्वारा रोका जा सकता है।''

गांधीजी से एक बार पूछा गया- आपकी शिक्षा का क्या उद्देश्य है? गांधीजी का उत्तर था-चरित्र निर्माण। मैं साहस, शक्ति तथा कार्य करते समय स्वयं को भूल जाने की योग्यता का निर्माण करना चाहूंगा, जो साक्षरता से कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण है। आज की शिक्षा हमें सब कुछ सिखाती है पर हमारे आंतरिक अस्तित्व से परिचित नहीं करवाती। हम नहीं जानते कि हम अपनी इच्छाओं और स्वार्थों के कितने गुलाम हैं। हम दूसरों की सेवा करने की बजाए स्वयं की महत्त्वाकांक्षाओं की पूर्ति क्यों करते हैं? क्यों हमारे पास अच्छाई और बुराई के बीच भेद करने का विवेक नहीं है? इसलिए

सूचनाएं एकत्र करना शिक्षा का एकमात्र उद्देश्य नहीं अपितु मानवीय बदलाव ही इसका उद्देश्य हो सकता है। आइन्सटीन ने कहा था-हमारे कार्यों में नैतिकता आये यह मानवता का महान् उद्देश्य है। संक्षेप में हम 21वीं शताब्दी के लिए शिक्षा के स्वरूप में निम्न तत्त्वों का समावेश मान सकते हैं।

- साक्षरता न तो शिक्षा का प्रारंभ है न ही अंत।
- बौद्धिक ज्ञान शिक्षा का एक पहलू है, इसका दूसरा पहलू है-इच्छाओं व भावनाओं को प्रशिक्षित करना तथा चरित्र निर्माण।
- शिक्षा का व्यक्तिवादी मूल्य ठीक नहीं, व्यक्ति का विकास समाज के विकास के साथ जोड़ना चाहिए।
- विज्ञान के योगदान को नकार नहीं सकते पर हमें अपनी आंतरिक शक्तियों के लिए अपनी आंखें बंद नहीं कर लेनी चाहिए।

12. शैक्षिक व्यय उपभोग है या विनियोग

पिछले कुछ वर्षों में अर्थशास्त्र की एक नई शाखा का उद्भव हुआ, जिसे शिक्षा का अर्थशास्त्र कहा जाता है। इसके अन्तर्गत शिक्षा पर किये जाने वाले व्यय और उससे मिलने वाले लाभ का विवेचन किया जाता है। शिक्षा के अर्थशास्त्र के विकास में जॉन वेजी, शुल्ज आदि अर्थशास्त्रियों की महत्त्वपूर्ण भूमिका रही।

द्वितीय विश्वयुद्ध के पश्चात् सम्पूर्ण विश्व में शिक्षा के प्रसार का व्यापक दौर प्रारम्भ हुआ। विकास की इस तीव्र गति का कारण ज्ञान-विज्ञान का विस्फोट तथा उद्योग में नवीन तकनीकी क्रांति आना था। इसके परिणाम स्वरूप शिक्षा पर किये जाने वाले व्यय में आशातीत वृद्धि हुई है। इस बढ़ते हुए व्यय का क्या औचित्य है? इसका उत्तर शिक्षा का अर्थशास्त्र देने का प्रयत्न करता है। जब शैक्षिक क्षेत्र में राष्ट्रीय सीमित-साधनों के इतने बड़े भाग का उपभोग होता है, तब यह आवश्यक है कि शैक्षिक व्यय की भी अन्य क्षेत्रों में विनियोजित धन-राशि के समान जांच की जाए। शैक्षिक निर्णय केवल सामाजिक एवं राजनैतिक आधार पर अथवा अन्य विकसित देशों की शैक्षिक उपलब्धि की दृष्टि से लिए जाने उचित नहीं हैं, उनके आर्थिक पक्ष को भी समुचित महत्त्व दिया जाना आवश्यक है, जिससे राष्ट्र के सीमित साधनों का श्रेष्ठतम उपयोग हो सके।

12.1 शैक्षिक व्यय : उपभोग या विनियोग-शैक्षिक व्यय को उपभोग रूप माना जाए अथवा विनियोग रूप, यह एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न है। वस्तुओं और सेवाओं को दो वर्गों में विभक्त किया जा सकता है-एक वह, जिसका लाभ उपभोक्ता तत्काल उठा सके तथा दूसरा वह, जिसका उपयोग दीर्घकालीन उत्पादन में किया जा सके। प्रथम वर्ग उपभोग कहलाता है दूसरा वर्ग विनियोग। शिक्षा एक दृष्टि से उपभोग की वस्तु है, क्योंकि उससे व्यक्ति के व्यक्तित्व का विकास होता है, दूसरी दृष्टि से शिक्षा एक विनियोग रूप प्रवृत्ति है क्योंकि इसके द्वारा ऐसे शिक्षा प्राप्त व्यक्तियों का उत्पादन होता है जो व्यक्तिगत धन कमाने की क्षमता प्राप्त करने के साथ-साथ देश की उत्पादन प्रक्रिया में सहायक होते हैं। उपभोग की दृष्टि से शिक्षा की आवश्यकता सामाजिक, सांस्कृतिक एवं राजनैतिक उद्देश्यों की पूर्ति हेतु उत्पन्न होती है और विनियोग के रूप में उसका प्रावधान मुख्यत: उसकी उत्पादन क्षमता द्वारा निश्चित होता है।

शैक्षिक नियोजन द्वितीय विश्वयुद्ध के पश्चात् भी कुछ समय तक स्वतंत्र रूप से होता रहा, उसका राष्ट्रीय विकास योजना से विशेष संबंध नहीं था। शिक्षा और आर्थिक क्षेत्र के मध्य सर्वप्रथम

संबंध राष्ट्रीय विकास योजना के अन्तर्गत विभिन्न क्षेत्रों हेतु शिक्षित मानव-शक्ति की मांग के कारण हुआ। शिक्षा प्रणाली में अब यह भी अपेक्षा की जाने लगी है कि वह वांछित संख्या में निर्धारित योग्यता के व्यक्ति निश्चित समयोपरान्त उपलब्ध करे। शैक्षिक विकास को राष्ट्रीय विकास का एक प्रमुख साधन माना जाने लगा और नियोजकगण शैक्षिक नियोजन और राष्ट्रीय विकास नियोजन के एकीकरण पर बल देने लगे।

अर्थशास्त्री यह मानने लगे कि आर्थिक विकास की उपलब्धि प्रमुखत: भौतिक साधनों से इतनी नहीं होती जितनी तकनीकों द्वारा मानवीय साधनों को उन्नत करने से। मानवीय पूंजी के विकास के आधार हैं-शिक्षा, व्यावसासिक प्रशिक्षण, स्वास्थ्य संबंधी सेवाएं, पौष्टिक आहार आदि। इन पर किये गये व्यय से मानवीय पूंजी उन्नत होती है, जिससे देश अपनी आय के स्तर को उन्नत करने में समर्थ होता है और आर्थिक विकास की गति में तीव्रता आती है।जॉन वेजी, शुल्ज आदि अर्थशास्त्रियों ने आर्थिक विकास व शैक्षिक व्यय के बीच घनिष्ठ सहसंबंध पाया है। जैसे-ब्रिटेन में सन् 1900 में शैक्षिक बजट राष्ट्रीय उत्पादन का 2 प्रतिशत था जो 1958 में बढ़कर 4 प्रतिशत हो गया, यही अनुपात आर्थिक विकास की गति का भी देखा जा सकता है। वेजी का निष्कर्ष है- जैसे-जैसे धन बढ़ता जाता है, वैसे-वैसे शिक्षा पर किया जाने वाला व्यय उपभोग माना जा सकता है। दूसरी ओर शिक्षा पर जिस मात्रा में व्यय किया जाता है, उससे कई गुना अधिक प्रतिफल शीघ्र ही मिलने लगता है, इस दृष्टि से यह विनियोग भी है।

अर्थशास्त्र में पूंजी को उत्पादन का साधन माना जाता है और यह पूंजी स्वयं भी एक उत्पादित वस्तु अथवा सेवा होती है। यह तीन प्रकार की मानी गई है-भौतिक पूंजी, जैसे फैक्टरी में मशीन या खेत में ट्रैक्टर आदि, मानवीय पूंजी जैसे शिक्षा प्राप्त मनुष्य तथा वित्तीय पूंजी। शुल्ज ने मानवीय पूंजी शब्द का प्रयोग उच्च शिक्षा प्राप्त मानवीय पूंजी से किया है। राष्ट्र की जनसंख्या में जो संभावित शक्ति छिपी है, उसे विकसित करने हेतु जो व्यय किया जाता है, उसको अब केवल उपभोग या समाज कल्याण के प्रकार का व्यय नहीं माना जाता है। रूस, अमेरिका, जर्मनी तथा जापान में मानवीय पूंजी की कार्य कुशलता उन्नत करने से वहां के उत्पादन में महत्त्वपूर्ण वृद्धि हुई है। इस दृष्टि से शिक्षा दीर्घकालीन विनियोग भी है।

12.2 मानवीय पूंजी में विनियोग-देश का आर्थिक विकास केवल प्राकृतिक साधन और भौतिक पूंजी पर आधारित नहीं बल्कि उसका वास्तविक कारण मानव शक्ति है। द्वितीय विश्वयुद्ध में विध्वंसित देश, जैसे-जर्मनी एवं जापान ने थोड़े ही समय में अपनी अर्थव्यवस्था को पुन: स्थापित कर लिया क्योंकि वहां की मानवीय शक्ति काफी उन्नत थी। इसलिए शिक्षा की सफलता अन्ततोगत्वा उसके द्वारा उत्पादित पुरुषों व स्त्रियों के सांस्कृतिक स्तर, उनकी व्यवसायिक निपुणता तथा उनके चरित्र पर निर्भर करती है।

शिक्षा के परिणामस्वरूप मनुष्य ज्ञान एवं कुशलताएं प्राप्त करता है। यह एक प्रकार की पूंजी है जो शिक्षा पर किये गये विनियोग का परिणाम है। अर्जित ज्ञान तथा कुशलताओं का आर्थिक मूल्य होता है क्योंकि ये तकनीकी दृष्टि से उन्नत राष्ट्रों की उत्पादक क्षम का प्रमुख कारण हैं। शिक्षा प्रणाली को राष्ट्रीय विकास से संबंधित करने का अर्थ है- शिक्षा के परिणामस्वरूप व्यक्ति की उत्पादन क्षमता में वृद्धि।

प्रश्न उठता है कि हम मानवीय विनियोग की मात्रा का किस प्रकार अनुमान लगाएं तथा शैक्षिक व्यय के उपभोग और विनियोग के मध्य किस प्रकार भेद करें। यह व्यय तीन प्रकार से हो सकता है-

- वह व्यय जो केवल उपभोक्ता की संतुष्टि से संबंधित हो और किसी प्रकार की व्यक्ति की क्षमताओं में वृद्धि न करे, शुद्ध उपभोग प्रकार का व्यय है।
- जो व्यय मानव क्षमताओं को उन्नत करता है और जो उपभोक्ता की संतुष्टि से संबंधित नहीं है, शुद्ध विनियोग है।
- जिस व्यय का प्रभाव दोनों प्रकार का होता है वह अंशत: उपभोग और अंशत: विनियोग कहलाता है।

प्रश्नोत्तर

निबंधात्मक प्रश्न

1. शांति की अवधारणा को स्पष्ट करते हुए शांति शिक्षा का विस्तार से वर्णन कीजिए।

लघुत्तरात्मक प्रश्न

1. संघर्ष के प्रकारों की विवेचना कीजिए।
2. शांति शोध की विस्तृत व्याख्या कीजिए।

वस्तुनिष्ठ प्रश्न

1. निम्न में से संघर्ष की प्रक्रिया का गुण है-
   अ. चेतन ब. सार्वभौमिकता स. वैयक्तिक द. उपरोक्त सभी
2. संघर्ष का मूल कारण है-
   अ. लोभ ब. प्रतिस्पर्धा स. भय द. ईर्ष्या
3. संघर्ष की प्रक्रिया का प्रारंभ किससे होता है-
   अ. कुण्ठा ब. अन्याय स. प्रतिस्पर्धा द. भय
4. ''एंजेल ऑफ पीस'' नामक पुस्तक किसके द्वारा लिखी गयी है-
   अ. रूसो ब. मार्क्स स. फ्रोबेल द. कोमेनियस
5. गांधीजी के अनुसार शिक्षा का उद्देश्य था-
   अ. जीविकोपार्जन ब. व्यक्तित्व विकास स. चरित्र निर्माण द. समानता
6. किस समाजशास्त्री के अनुसार समाज में संघर्ष का प्रमुख कारण मानव स्वार्थों का द्वन्द्व है-
   अ. कार्बर ब. वाल्टर स. टर्नर द. डारेनडॉफ
7. आज तक अस्तित्व में रहे समाज का इतिहास ..... का इतिहास है।
8. सामाजिक विकास, परिवर्तन और पुनर्निर्माण का आधार ..... ही है।
9. संघर्ष से व्यक्ति में ..... का विकास होता है।
10. ..... की नीतियां विश्व के लिए एक बड़ा कलंक है।

इकाई–2

संघर्ष निराकरण–अभिवृत्ति परिवर्तन एवं संघर्ष निराकरण, संघर्ष निराकरण की विधियां, संघर्ष निराकरण की कूटनीतिक विधियां

उद्देश्य

1. संघर्ष निराकरण की अवधारणा को समझना।
2. संघर्ष निराकरण की विभिन्न विधियों का अध्ययन करना।

संरचना

1. संघर्ष निराकरण का स्वरूप
2. संघर्ष प्रबंधन
3. अभिवृत्ति परिवर्तन और संघर्ष निराकरण
    - 3.1 अभिवृत्ति (Attitude)
    - 3.2 अभिवृत्ति की विशेषतायें(Characteristics of Attitudes)
    - 3.3 अभिवृत्ति का विकास तथा निर्माण (Development and Formation of Attitudes)
        - 3.3.1. आवश्यकता पूर्ति
        - 3.3.2. प्रदत्त सूचनाएँ
        - 3.3.3. सामाजिक सीखना
        - 3.3.4 समूह सम्बन्धन
        - 3.3.5 सांस्कृतिक कारक
        - 3.3.6 व्यक्तित्व कारक
        - 3.3.7 रूढ़िकृतियाँ
    - 3.4 अभिवृत्ति परिवर्तन (Attitue Change)
    - 3.5 अभिवृत्ति परिवर्तन के कारक
        - 3.5.1 संदर्भ समूह में परिवर्तन
        - 3.5.2 समूह सम्बन्ध में परिवर्तन
        - 3.5.3 अतिरिक्त सूचनाएं
            - 3.5.3.1 सामूहिक परिस्थिति या एकान्त परिस्थिति
            - 3.5.3.2 प्रकट एवं गुप्त वादा
            - 3.5.3.3 समूह निर्णय विधि
        - 3.5.4 प्रभावी या विश्वासोत्पादक संचारण
            - 3.5.4.1 संचारण का स्रोत या संचारक की विशेषता
            - 3.5.4.2 संचारण का विषय एवं विशेषता
            - 3.5.4.3 संचार का माध्यम
            - 3.5.4.4 श्रोता की विशेषताएं
        - 3.5.5 बाधित सम्पर्क
        - 3.5.6 अपेक्षित भूमिका–निर्वाह
        - 3.5.7 व्यक्तित्व परिवर्तन प्रविधियां

3.5.8 सांस्कृतिक कारक
3.5.9 प्रचार
3.6 अभिवृत्ति परिवर्तन की विधियाँ
3.6.1 व्यक्ति को बाह्य प्रभाव में रखकर
3.6.2 अन्योन्य क्रिया
3.6.3 समूह-परिचर्चा तथा समूह-निर्णय-
3.7 अभिवृत्ति परिवर्तन कब कठिन हो जाता है
3.7.1 प्रतिघात
3.7.2 पूर्व चेतावनी
3.7.3 अभिवृत्ति टीका
3.8 अभिवृत्ति परिवर्तन के उदाहरण
4. कलह शमन एवं आक्रामकता
4.1 आक्रामकता के कारण
4.1.1 कुण्ठा एवं हानिकारक उद्दीपक
4.1.2 इतिहास या अतीत
4.1.3 सामाजिक कारण
4.1.4 मनुष्य का स्वभाव
4.2 अन्त:स्रावी ग्रंथि तंत्र और आक्रामकता
4.3 समूह आक्रामकता
4.4 आक्रामकता पर नियंत्रण
5. संघर्ष निराकरण की गांधीवादी विधियां-
5.1 असहयोग
5.2 हड़ताल
5.3 बहिष्कार
5.4 धरना
5.5 प्रदर्शन
5.6 हिजरत
5.7 सविनय अवज्ञा
5.8 आत्मपीड़न
5.9 उपवास
6. संघर्ष निराकरण की कूटनीतिक विधियां
6.1 मानवीय सम्बन्धों में सुधार
6.2 वार्ताएं
6.2.1 प्रत्यक्ष वार्ता
6.2.2 अप्रत्यक्ष वार्ता
6.3 सामूहिक सौदेबाजी
6.4 शुभ कार्यालय (Good Offices)
6.5 वाद-विवाद

6.6 जाँच

6.7 संराधन

6.8 मध्यस्थता

6.9 विवाचन

6.9.1 विवाचन का इतिहास

6.9.2 विवाचन का स्वरूप

6.9.3 विवाचन के आधुनिक उदाहरण

6.10 एक पक्षीय समाधान

6.11 तथ्यों की खोज

6.12 न्याय योग्यता

संघर्ष की दो स्थितियां हैं- प्रथम किसी लक्ष्य की प्राप्ति हेतु न्यायोचित कार्यो के लिए प्रतिस्पर्धा में शामिल होना और दूसरी स्थिति जो न्यायोचित नहीं है, अतर्कसंगत और अविवेकपूर्ण है। दोनों ही स्थितियां, संघर्ष की हैं। प्रथम स्थिति को हम अपने सामाजिक जीवन से कभी अलग नहीं कर सकते क्योंकि यह एक विशेष परिणाम की प्राप्ति के लिए न्यायपूर्ण तरीके से प्रयत्न है। इस स्थिति को हम यथार्थवादी संघर्ष कह सकते हैं। दूसरी स्थिति, जिसमें किये गये प्रयत्न अन्यायपूर्ण होते हैं तथा इस स्थिति का सामाजिक जीवन में भी कोई विशेष महत्त्व नहीं होता। यह हमारे जीवन में रूपान्तरण किये जाने योग्य होती है अथवा त्याज्य होती हैं। यह अयथार्थवादी संघर्ष की स्थिति है। मैक्स वेबर ने कहा- ''जिसे हम शांति कहते हैं वह और कुछ नहीं अपितु संघर्ष के स्वरूप का रूपान्तरण है अथवा संघर्ष के उद्देश्यों में परिवर्तन है और विरोधी का हृदय परिवर्तन है।'' अतएव यह स्पष्ट है कि संघर्ष निराकरण का सही और न्यायोचित मार्ग है। इस तथ्य की पुष्टि गांधी के इस तथ्य से भी होती है- ''मैं इसे (संघर्ष को) मेरे जीवन से कभी अलग नहीं कर सकता'' अर्थात् महात्मा गांधी संघर्ष को सामाजिक जीवन से कभी अलग नहीं मानते थे किन्तु वे संघर्ष कार्ल मार्क्स के स्वरूप को स्वीकार न कर, संघर्ष की अहिंसक पद्धति के प्रयोग करने पर बल देते थे।

1. संघर्ष निराकरण का स्वरूप

संघर्ष निराकरण का अर्थ, संघर्ष का विलोपन नहीं है अर्थात् संघर्ष को पूर्ण रूपेण समाप्त करना नहीं है। इसका अर्थ है- निराकरण का सही मार्ग प्रशस्त करना। संघर्ष अर्थात् संघर्ष निराकरण का सम्बन्ध मुख्यत: संघर्ष के अहिंसक और शांतिपूर्ण समाधान से है। किसी भी संघर्ष के निराकरण के दो मार्ग हो सकते हैं- पहला हिंसात्मक तरीके से संघर्ष का निराकरण करना, दूसरा- अहिंसात्मक तरीके से संघर्ष का निराकरण करना। संघर्ष निराकरण का हिंसात्मक स्वरूप दमन एवं अन्याय पर आधारित है। इस रूप में संघर्ष तात्कालिक रूप से समाप्त होता प्रतीत होता है किन्तु कालान्तर में वह पुन: प्रकट हो जाता है क्योंकि इसमें विरोधी के साथ न तो सुलह होती है और न ही किसी भी प्रकार से संघर्ष के उद्देश्यों में परिवर्तन होता है। जबकि संघर्ष निराकरण के अहिंसात्मक स्वरूप में विरोधी के साथ सुलह होने से संघर्ष के उद्देश्यों में परिवर्तन होने के कारण संघर्ष का समाधान स्थायी रूप से होता है। अतएव यही मार्ग संघर्ष निराकरण का सही और उचित मार्ग है।

स्पष्ट है कि संघर्ष स्वाभाविक है। यह किसी असफलता का द्योतक नहीं और न ही यह किसी व्यवस्था का गलत तरीके से कार्य करना है। यह न तो कोई गलत वैयक्तिक समायोजन है और न ही कोई अपराध है। संघर्ष एक सृजनात्मक शक्ति है जो कि समस्याओं को हमारे सामने

लाती है और नये व अच्छे समाधान प्रस्तुत करती है अर्थात् संघर्ष परिवर्तन को लाने वाला बड़ा साधन है तथा इसे हम परिवर्तन को घटित करने वाले इंजन की उपमा दे सकते हैं।प्रो. महेन्द्र कुमार के अनुसार, ''संघर्ष निराकरण एक समूह के अंदर और समूह के बीच संघर्ष का शांतिपूर्ण समाधान है।'' उनके अनुसार संघर्ष निराकरण का सम्बन्ध अहिंसक और शांतिपूर्ण समाधान से ही है।

संघर्ष निराकरण, विवाद या विरोध को निपटारे की प्रक्रिया है। संघर्ष का निराकरण, प्रत्येक पक्ष की आवश्यकताओं को पूरा करने और उन्हें सुनने का अवसर प्रदान करता है और उनके हितों की ओर पूर्ण रूप से ध्यान देता है ताकि दोनों पक्ष परिणाम से संतुष्ट हो सकें। संघर्ष निराकरण कर्त्ता सम्बन्धित पक्षों के साथ जीत-जीत या विजय-विजय के अवसर तलाशता है न कि एक पक्ष के जीत और दूसरे पक्ष की पराजय की। संघर्ष निराकरण के प्रारम्भ में ही संघर्ष की रोकथाम के प्रयत्न प्रारम्भ कर दिये जाते हैं ताकि संघर्ष वाचिक, शारीरिक, कानूनी लड़ाई या हिंसा का रूप न ले ले।

संघर्ष अपने आप में सकारात्मक और नकारात्मक दोनों निर्णय प्रस्तुत करता है। संघर्ष निराकरण में ऐसे रास्ते तलाश करने होते हैं जिससे सकारात्मक निर्णय प्राप्त हो सकें और नकारात्मक निर्णय निम्नतम किये जा सकें।

2.संघर्ष प्रबंधन

चूंकि सभी संघर्षो का समाधान नहीं किया जा सकता इसलिए कई बार संघर्ष निराकरण के स्थान पर संघर्ष प्रबन्धन, संघर्ष रूपान्तरण और संघर्ष हस्तक्षेप जैसे शब्दों का प्रयोग किया जाता है। संघर्ष प्रबन्धन एक सामान्य प्रक्रिया हो सकती है जिसमें संघर्ष का प्रबन्धन, सम्बन्धित पक्षों द्वारा समाधान के लिए किया जाता है।

संघर्ष निराकरण की प्रक्रिया भिन्न-भिन्न हो सकती है। यद्यपि समूह के बीच संघर्ष में दो या अधिक समूह किन्हीं विशेष मुद्दों पर विरोधी विचार रखने वाले होते हैं तो ऐसे समूह में संघर्ष निराकरण ने संराधन, मध्यस्थता, पंच निर्णय और न्याय निर्णय होते हैं। इन सभी तरीकों में तीसरे पक्ष का हस्तक्षेप आवश्यक होता है। कभी-कभी किसी संघर्ष के बिना समाधान के भी, उसका प्रबन्धन किया जाता है ताकि वह हिंसा का रूप न लें। इसे संघर्ष प्रबन्धन कहा जाता है। संघर्ष प्रबन्धन व्यक्तियों, समूह, संगठन और यहां तक कि राष्ट्रों को ऐसे रणनीतिक तरीके उपलब्ध कराता है जिससे मतभेदों और विवादों से निपटा जा सकें। प्रतिस्पर्धी और विरोधी समूह के विरोधी लक्ष्यों, विचारों की भिन्नता, मतों की भिन्नता और विचारधाराओं की भिन्नता से निपटने के लिए कलह-प्रबन्धन कारगर होता है।

यद्यपि कलह-प्रबन्धन और कलह-शमन में थोड़ा अंतर है। कलह प्रबन्धन में संघर्ष का समाधान नहीं होता अपितु संघर्ष को एक बार शांत कर दिया जाता है जबकि कलह-शमन में संघर्ष का पूर्णरूपेण निराकरण कर दिया जाता है। मैकमिलन के अनुसार, ''वार्ता, पंच फैसला और इन्टीट्यूसन बिल्डिंग के तरीके और प्रक्रियाएं जो सामाजिक संघर्ष और युद्ध की समाप्ति करती है (युद्ध का शांतिपूर्ण समाधान करती है) संघर्ष निराकरण कहलाती है।''

3. अभिवृत्ति परिवर्तन और संघर्ष निराकरण

3.1 अभिवृत्ति (Attitude)-व्यक्ति के विचारों तथा क्रियाओं के बीच समन्वय करने वाली अभिवृत्ति ही होती है। विश्वास की भांति अभिवृत्तियों का मनुष्य जीवन में बड़ा महत्त्व है, क्योंकि इनके द्वारा व्यक्ति का व्यवहार संचालित होता है। अभिवृत्ति में व्यक्ति के सभी सामाजिक संज्ञान संगठित होते

रहते हैं। ऑक्सफोर्ड शब्दकोश में अभिवृत्ति को व्यवहार की निर्धारित विधि (Settled mode) बताया है। थर्स्टन ने अभिवृत्ति की परिभाषा देते हुए कहा- अभिवृत्ति किसी मनोवैज्ञानिक वस्तु के पक्ष या विपक्ष में धनात्मक या ऋणात्मक भाव की तीव्रता है। मनोवैज्ञानिक वस्तु कोई चिन्ह, व्यक्ति, वाक्य, बात, विचार आदि कुछ भी हो सकता है जिसके बारे में वैयक्तिक विभिन्न धारणायें प्राप्त हो सकती हैं। इस प्रकार अभिवृत्ति उस वस्तु का भावात्मक मूल्यांकन है। परन्तु अन्य मनोवैज्ञानिकों का विचार है कि अभिवृत्ति केवल भावात्मक ही नहीं, बल्कि संज्ञानात्मक व व्यवहारात्मक पक्ष भी रखती है। इस विचारधारा का वर्णन प्रमुखत: क्रैच तथा क्रचफील्ड व जिम्बार्डो तथा इबैसेन ने किया है। जिम्बार्डो तथ इबैसेन ने साधारण शब्दों में ही अभिवृत्ति को परिभाषित किया है। उनका कहना है कि अभिवृत्ति व्यक्ति के भाव तथा संज्ञान पर आधारित दूसरे व्यक्ति के प्रति प्रवृत्ति है। इस परिभाषा में केवल वैयक्तिक अभिवृत्ति पर ही बल दिया गया है। क्रैच तथा क्रचफील्ड का विचार था कि व्यक्ति के सभी व्यवहार अभिवृत्ति से निर्धारित होते हैं जो उसकी सभी मानसिक शक्तियों से बनती हैं। अभिवृत्ति को परिभाषित करते हुए उन्होंने बताया कि अभिवृत्ति, व्यक्ति के संसार के कुछ पहलुओं के बारे में प्रेरणात्मक, संवेगात्मक, प्रत्यक्ष ज्ञानात्मक तथा संज्ञानात्मक प्रक्रियाओं का एक स्थाई संगठन है।इस परिभाषा से यह विदित होता है कि अभिवृत्ति में व्यक्ति की सभी मानसिक प्रक्रियायें क्रियाशील होती हैं। इसका अर्थ है कि अभिवृत्ति संपूर्ण व्यवहार की कारक है। किसी मित्र को देखते ही व्यक्ति खुश होकर उससे अभिवादन करता है या हाथ मिलाता है। दूसरी ओर, शत्रु को देखते ही दूसरी ओर देखने लगता है-घृणा से भर जाता है, उसके बुर की कामना करता है आदि। इस प्रकार प्रेम या घृणा अभिवृत्ति के संवेगात्मक पहलू हैं, अभिवादन, हाथ मिलाना व दूर जाना प्रेरणात्मक पहलू हैं, दृष्टि फेरना व उन्हें पहचानना प्रत्यक्षज्ञान पहलू हैं तथा उनके बारे में पूर्वानुभव संज्ञान पहलू हैं।

उपरोक्त विवेचन से यह विदित है कि विश्वास केवल संज्ञानात्मक होते हैं तथा अभिवृत्ति संज्ञानात्मक होने के साथ-साथ संवेगात्मक व प्रेरणात्मक भी होती है। यह भी आवश्यक नहीं है कि सभी विश्वास अभिवृत्ति के ही भाग हों, कुछ हो सकते हैं। अभिवृत्ति व्यवहार क्रिया चाहती है, जबकि विश्वास नहीं। अभिवृत्ति लक्षित होने के कारण व्यक्ति को कार्य करने को प्रेरित करती है। यदि हमारी अभिवृत्ति चीनी लोगों के प्रति ऋणात्मक है तो उनका नाम या उपस्थिति हमें घृणा से भर देगी, तथा या तो हम उससे दूर चले जायेंगे, बातें नहीं करेंगे या गाली देंगे या बुरा-भला कहेंगे आदि। उस दशा में हम उनसे मित्रता बढ़ाना कभी नहीं चाहेंगे। इस प्रकार अभिवृत्ति में संवेग व प्रेरणा दोनों ही विभिन्न परिस्थितियों में प्रदर्शित होते हैं। यदि कोई चीनी बालक हमारे तूजों पर पॉलिश कर रहा हो तो ये दोनों बातें बिलकुल नहीं उभरेंगी। उस परिस्थिति में हम संवेग व प्रेरणा को दबा लेते हैं। इस प्रकार पर्यावरण के विभिन्न संकेत अभिवृत्ति को तुरंत बदल देते हैं। अभिवृत्ति किसी वस्तु के बारे में या तो ऋणात्मक होती है या धनात्मक, जबकि विश्वास इस प्रकार की विपरीतताओं की ओर नहीं खिंचता, वह सदा उदासीन होता है।

3.2 अभिवृत्ति की विशेषतायें (Characteristics of Attitudes)-अभिवृत्ति चाहे धनात्मक हो या ऋणात्मक, उसकी अपनी कुछ विशेषताएं होती हैं। अभिवृत्ति की प्रकृति से यह विदित होता है कि उसमें प्रमुखत: निम्न विशेषतायें होती है-

- अभिवृत्तियां जन्मगत नहीं होती अर्थात् वे मनुष्य प्रकृति में जन्म से नहीं पाई जाती बल्कि व्यक्ति सामाजिक परिस्थितियों में उसे अर्जित करता है। बहुत सी अभिवृत्तियां शारीरिक आवश्यकताओं से उत्पन्न हो सकती हैं, परन्तु उन सभी को व्यक्ति शनैःशनैः समाज में रहकर ही बढ़ाता है।

- जिन वस्तुओं, गुणों व विचारों को व्यक्ति जानता है, उन्हीं के बारे में वह अपनी कुछ राय बनाता है। इस प्रकार अभिवृत्तियां संज्ञानात्मक होती हैं तथा उन मानसिक वस्तुओं के गुण जानने के बाद ही व्यक्ति उनके बारे में कुछ धारणा बनाता है।
- अभिवृत्तियों की प्रकृति स्थाई व अस्थाई दोनों प्रकार की पाई जा सकती है। यदि किसी वस्तु प्रकृति तथा उसकी परिस्थितियां परिवर्तित नहीं होती तो वे स्थाई बनी रहती हैं। चीन से झगड़ा होने से पहले ''चीनी-हिन्दी भाई-भाई'' का नारा उनके प्रति धनात्मक अभिवृत्ति का द्योतक था, परन्तु चीन से युद्ध होने के बाद भारतीयों की अभिवृत्ति उनके प्रति ऋणात्मक हो गई।
- व्यक्ति का पर्यावरण बहुत जटिल है, क्योंकि उसके बहुत से उद्दीपक व्यक्ति को प्रभावित करते रहते हैं। उनसे व्यक्ति अपने प्रत्यक्षज्ञान की वृद्धि करता रहता है तथा उनके बारे में कुछ विचार बनाता है। ये विचार विभिन्न वस्तु, गुण, घटना, प्रतिभा, विचार आदि के बारे में विभिन्न होते हैं। इस प्रकार व्यक्ति एक ही समय में अनेक अभिवृत्तियां साथ-साथ रखता है।
- कुछ अभिवृत्तियां सामान्य होती हैं तथा कुछ विशिष्ट। सामान्य अभिवृत्तियां व्यक्ति की वे धारणायें हैं जो व्यक्ति अधिकतर सभी वस्तुओं के बारे में बनाता है। शांत स्वभाव का व्यक्ति अधिकतर वस्तुओं के बारे में धनात्मक विचार रखता है तथा अशांत स्वभाव वाला व्यक्ति ऋणात्मक या कटु। विशिष्ट अभिवृत्तियां केवल विशेष गुण, वस्तु, समुदाय, जाति, व्यक्ति के बारे में ही होती हैं।
- अभिवृत्ति संवेगों से जुड़ी हुई है। धनात्मक अभिवृत्ति का अर्थ होता है कि व्यक्ति वस्तु के बारे में कुछ अच्छा सोचता है, उसे व्यक्ति का प्रेम है तथा ऋणात्मक अभिवृत्ति घृणा की द्योतक होती है। प्रेम, घृणा, भय, खुशी आदि का पुट अभिवृत्तियों में सदा मिलता है, क्योंकि उनका आधार वस्तु के बारे में व्यक्ति के संवेगात्मक विचार ही होते हैं।
- अभिवृत्तियों में गत्यात्मकता होती हैं। वे व्यक्ति की किसी आवश्यकता या उद्देश्य से सम्बन्धित रहती हैं, इस कारण लक्ष्य प्राप्ति की ओर व्यक्ति प्रेरित रहता है। वह अभिवृत्ति को क्रिया द्वारा प्रदर्शित करता है, जैसे बुराई या बढ़ाई करके, गाली देकर, हंसकर, नारे लगाकर आदि।
- अभिवृत्तियां अपने तत्त्वों में भिन्नता रखती हैं। एक भारतीय की अभिवृत्ति पाकिस्तानी,चीनी, अमरीकी, रूसी, अंग्रेज सभी के लिये भिन्न-भिन्न होंगी।
- व्यक्ति की कुछ अभिवृत्तियां स्पष्ट होती हैं तथा कुछ अस्पष्ट होती हैं। उदाहरण के लिए दिन प्रतिदिन बाजार भावों के बारे में व्यक्ति की अभिवृत्ति स्पष्ट होगी, तथा धर्म के बारे में अस्पष्ट या ईश्वर के बारे में भी अस्पष्ट अभिवृत्ति होगी।
- व्यक्ति अभिवृत्तियों का सत्यापन किसी प्रमाण के आधार पर कर सकता है। सामान्य व्यक्ति अपनी अभिवृत्तियों का सत्यापन अपने अनुभवों के आधार पर करता है तथा मनोवैज्ञानिक वैज्ञानिक विधियों द्वारा।

3.3 अभिवृत्ति का विकास तथा निर्माण (Development and Formation of Attitudes)-अभिवृत्ति एक अर्जित प्रवृत्ति है किंतु इसके विकास में बहुत तरह के कारकों का प्रभाव पड़ता है। समाज मनोवैज्ञानिकों ने अभिवृत्ति के विकास को प्रभावित करने वाले कारकों से सम्बन्धित कई प्रयोग किये हैं। भिन्न-भिन्न प्रयोगों के आधार पर समाज मनोवैज्ञानिकों ने निष्कर्ष के रूप में कुछ ऐसे कारकों की ओर संकेत किया है जिससे अभिवृत्ति का निर्माण एवं विकास प्रभावित होता है। कुछ महत्त्वपूर्ण कारक निम्नांकित हैं-

3.3.1. आवश्यकता पूर्ति- जिस व्यक्ति, वस्तु तथा घटना से व्यक्ति को लक्ष्य की प्राप्ति होती है एवं आवश्यकता की पूर्ति होती हैं, उसके प्रति उनकी अभिवृत्ति अनुकूल होती है तथा जिस व्यक्ति,

वस्तु एवं घटना से लक्ष्य की प्राप्ति में बाधा उत्पन्न होती है एवं आवश्यकता की पूर्ति नहीं होती है, उनके प्रति व्यक्ति की अभिवृत्ति प्रतिकूल हो जाती है। इस तथ्य का प्रयोगात्मक समर्थन रोजेनवर्ग के अध्ययन से मिलता है। इस अध्ययन में कॉलेज के 120 छात्रों ने भाग लिया। अध्ययन के निष्कर्ष में उन्होंने पाया कि जो वस्तुएं छात्रों के लक्ष्य की प्राप्ति में सहायक थीं, उनके प्रति उनकी अनुकूल अभिवृत्ति बन गयी तथा जिन वस्तुओं से उन्हें लक्ष्य-प्राप्ति में सहायता नहीं होती थी उनके प्रति उन छात्रों की अभिवृत्ति प्रतिकूल बन गयी। इस अध्ययन से यह स्पष्ट हो जाता है कि आवश्यकता पूर्ति एक महत्त्वपूर्ण कारक है जिससे व्यक्ति की अभिवृत्ति का निर्माण होता है।

3.3.2. प्रदत्त सूचनाएँ– अभिवृत्ति के निर्माण में व्यक्ति की दी गयी सूचनाओं की भी महत्त्वपूर्ण भूमिका होती है। आधुनिक समाज में भिन्न-भिन्न माध्यमों से व्यक्ति को सूचनाएं दी जाती हैं। इन माध्यमों में रेडियो, टेलीविजन, अखबार, पत्रिकाएं आदि प्रमुख हैं। इन सूचनाओं के अनुसार व्यक्ति अपनी अभिवृत्ति विकसित करता है। इन माध्यमों के अलावा अन्य माध्यमों से भी व्यक्ति को सूचनाएं मिलती हैं और उनके अनुसार व्यक्ति अपनी अभिवृत्ति विकसित करता है। माता-पिता, भाई-बहनों, साथियों एवं पड़ोसियों से भी व्यक्ति को सूचनाएं मिलती हैं और इसके अनुसार भी व्यक्ति अभिवृत्ति का विकास करता है। प्रयोगात्मक परिणामों के आधार पर यह स्पष्ट हो गया है कि सभी तरह की सूचनाओं का प्रभाव अभिवृत्ति के विकास में समान रूप से नहीं पड़ता है। वास्तव में सूचनाओं की प्रभावशीलता कई बातों पर निर्भर करती है जिसमें सूचना के स्रोत की विश्वसनीयता सबसे अधिक प्रधान है। मेयर्स के अनुसार, ''यदि सूचना देने वाला स्रोत में व्यक्ति को पूरा विश्वास होता है तो वैसी परिस्थिति में दी गयी सूचना शत-प्रतिशत प्रभावकारी होती है एवं नयी अभिवृत्ति के विकास में सहायक होती है। फेस्टिंगर, कार्टराईट तथा हाबेरी आदि मनोवैज्ञानिकों द्वारा किये गये अध्ययनों से इस तथ्य की पुष्टि होती है।

3.3.3. सामाजिक सीखना– सामाजिक सीखने का प्रभाव भी अभिवृत्ति के विकास में काफी पड़ता है। जिस तरह से व्यवहार के भिन्न-भिन्न रूपों को व्यक्ति सीखता है, ठीक उसी तरह अभिवृत्ति के विकास में भी सीखने की प्रक्रिया की महत्त्वपूर्ण भूमिका होती है। समाज मनोवैज्ञानिकों द्वारा किये गये अध्ययनों से यह स्पष्ट है कि अभिवृत्ति के विकास में, सीखने के तीन प्रक्रियाओं का महत्त्वपूर्ण स्थान है। वे तीन प्रक्रियाएं हैं-क्लासिकी अनुकूलन, साधनात्मक अनुकूलन तथा प्रेक्षणात्मक सीखना। अभिवृत्ति के विकास में सीखने की इन तीनों क्रियाओं के महत्त्व की व्याख्या निम्नांकित है-

- **क्लासिकी अनुकूलन**– क्लासिकी अनुकूलन सीखने का एक महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त है। इस सिद्धान्त के अनुसार जब किसी तटस्थ उद्दीपन को अनुक्रिया उत्पन्न करने वाले उद्दीपक के साथ बार-बार उपस्थित किया जाता है तो वैसी परिस्थिति में कुछ समय के बाद तटस्थ उद्दीपन में भी उसी तरह की अनुक्रिया करने की क्षमता उत्पन्न हो जाती है। समाज मनोवैज्ञानिकों का विचार है कि क्लासिकी अनुकूलन के इस नियम द्वारा हम दिन-प्रतिदिन में अनेक अभिवृत्तियों को सीखते हैं। उदाहरणार्थ, एक बच्चा अपने पिता को जब बार-बार यह कहते सुनता है कि अमेरिकन साहसी, मेहनती, ईमानदार व्यक्ति होते हैं, तो धीरे-धीरे वह अमेरिकन के प्रति एक अनुकूल अभिवृत्ति विकसित कर लेता है। प्रारंभ में 'अमेरिकन' शब्द उस बच्चे के लिये एक तटस्थ शब्द था जिसके प्रति किसी तरह की अभिवृत्ति नहीं थी। उसी तरह से जब बच्चा अपने पिता से प्रायः यह सुनता है कि 'हरिजन' गंदे एवं पिछड़े होते हैं, तो वह भी धीरे-धीरे 'हरिजन' के प्रति वैसी ही अभिवृत्ति विकसित कर लेता है। कुछ समाज मनोवैज्ञानिकों ने प्रयोग द्वारा भी यह

स्पष्ट किया है कि क्लासिकी अनुकूलन के नियमानुसार किस तरह से अभिवृत्ति विकसित होती है। स्टॉटस तथा स्टॉट द्वारा किया गया प्रयोग काफी लोकप्रिय है। इन्होंने दो शब्द को एक पर्दे पर प्रयोज्यों के सामने दिखलाया। वे दो शब्द थे-'डच' तथा 'स्वेडिश'। इनमें से एक, राष्ट्रीयता शब्द दिखलाने के बाद धनात्मक विशेषण जैसे 'खुश' 'पवित्र', 'मेहनती' आदि शब्दों को, प्रयोगकर्त्ता बोलकर प्रयोज्यों को सुनाते थे तथा दूसरा राष्ट्रीयता शब्द को दिखलाने के बाद ऋणात्मक विश्लेषण जैसे-गंदा, कुरूप, तीखा आदि प्रयोगकर्त्ता द्वारा बोलकर, प्रयोज्यों को सुनाया जाता था।। परिणाम में देखा गया कि वैसे राष्ट्रीयता शब्द के प्रति अनुकूल अभिवृत्ति प्रयोज्यों में विकसित हो गयी जो धनात्मक विशेषण द्वारा युग्मित किये गये थे तथा जिस राष्ट्रीयता शब्द को ऋणात्मक विशेषण द्वारा युग्मित किया गया उसके प्रति ऋणात्मक अभिवृत्ति प्रयोज्यों में विकसित हो गयी। लोर्ह तथा स्टार्टॅस द्वारा बाद में किये गये अध्ययनों से यह स्पष्ट हो गया कि क्लासिकी अनुकूलन द्वारा किसी खास भाषा या संस्कृति के लोगों में ही नहीं अपितु सभी भाषा-भाषी एक संस्कृति में पले व्यक्तियों में इस नियम द्वारा अभिवृत्ति का विकास होता है।

- **साधनात्मक अनुकूलन**- साधनात्मक अनुकूलन का नियम सीखने का एक दूसरा महत्त्वपूर्ण नियम है जिससे अभिवृत्ति का विकास प्रभावित होता है। साधनात्मक अनुकूलन का नियम इस बात पर बल देता है जिस अनुक्रिया को करने से उसे दण्ड मिलता है, उसे वह दोहराना नहीं चाहता है। बच्चों में वैसी ही अभिवृत्ति बहुत जल्द विकसित होती है जैसा कि उनके माता-पिता की होती है। इसका मुख्य कारण यह है कि माता-पिता बच्चों को समान अभिवृत्ति दिखलाने पर उसे पुरस्कार देते हैं अर्थात् उसके व्यवहारों की प्रशंसा करते हैं, उन्हें चाकलेट, बिस्कुट आदि खाने के लिए देते हैं और यहां तक कि कुछ पैसे भी देते हैं। ठीक उसी तरह से अपने माता-पिता की अभिवृत्ति के विपरीत अभिवृत्ति दिखलाने पर उन्हें डांट-फटकार और कभी-कभी शारीरिक दण्ड भी दिया जाता है। फलस्वरूप, वे इस तरह की अभिवृत्ति नहीं विकसित कर पाते हैं। अभिवृत्ति निर्माण में साधनात्मक अनुकूलन के महत्त्व को दिखलाने के लिये कुछ प्रयोग भी किये गये हैं। जैसे, इन्सको एवं मैल्सन ने अपने प्रयोग में यह स्पष्ट किया है कि जब प्रयोगकर्ता द्वारा प्रयोज्य को थोड़ा शाब्दिक पुरस्कार दिया जाता है, तो वैसी परिस्थिति में प्रयोज्य बहुत ही जल्द एक अभिवृत्ति विकसित कर लेता है। करपेलमैन तथा हिमेंलफार्ब ने भी इसी तरह के प्रयोगात्मक सबूत द्वारा अपने प्रयोग की पुष्टि की है।
- **प्रेक्षणात्मक सीखना**- प्रेक्षणात्मक सीखना का अर्थ यह है कि मानव दूसरे की क्रियाओं को एवं उसके परिणामों को देखकर नयी अनुक्रिया करना सीख लेता है। इस नियम के प्रमुख प्रवर्तक बैण्डुरा है। समाज मनोवैज्ञानिकों का विचार है कि प्रेक्षणात्मक सीखना द्वारा बच्चे प्रायः वैसी अभिवृत्ति को भी अपने में विकसित कर लेते हैं। उदाहरणार्थ, यदि एक पिता अपने पुत्र को ईमानदारी की सबक सिखलाता है परन्तु स्वयं बेईमानी का कार्य करता है, तो पुत्र पिता की बातों को कम महत्त्व देते हुए स्वयं भी बेईमानी करने की अभिवृत्ति विकसित कर लेता है क्योंकि वह अपने पिता के गलत एवं कपटी क्रियाओं का प्रेक्षण करता है। ब्राएन, रेडफिल्ड तथा मैडर एवं रशटन द्वारा किये गये अध्ययनों से इस तथ्य की पुष्टि होती है।

3.3.4 समूह सम्बन्धन- व्यक्ति की अभिवृत्ति के निर्माण में समूह सम्बन्धन का भी प्रभाव पड़ता है। समूह सम्बन्धन से तात्पर्य व्यक्ति का किसी खास समूह के समबन्ध कायम करने से होता है। यह निश्चित है कि जब व्यक्ति अपना सम्बन्ध किसी खास समूह से जोड़ता है तो वह उस समूह के मूल्यों, मापदण्डों, विश्वासों, तौर-तरीकों को भी स्वीकार करता है। ऐसी परिस्थिति में व्यक्ति इन मूल्यों

एवं मानदण्डों के स्वरूप के अनुसार अपने में एक नयी अभिवृत्ति विकसित करता है। अनेक मनोवैज्ञानिक अध्ययनों से भी यह स्पष्ट हो गया है कि समूह सम्बन्धन द्वारा व्यक्ति की अभिवृत्ति विकसित होती है। समाज मनोवैज्ञानिकों ने निम्नलिखित दो प्रकार के समूह के सम्बन्धन का अभिवृत्ति विकास पर पड़ने वाले प्रभावों का अध्ययन किया है-

(क) प्राथमिक समूह- प्राथमिक समूह वह समूह है जिसमें सदस्यों की संख्या साधारणत: कम होती है तथा जिसके सदस्यों में घनिष्ठ एवं आमने-सामने का सम्बन्ध होता है। जैसे- परिवार, खिलाड़ियों का समूह आदि। चूंकि प्राथमिक समूह के सदस्यों में अधिक सहयोग, भाईचारा एवं सहानुभूति का गुण पाया जाता है अत: इसका हर एक सदस्य ठीक वैसी ही अभिवृत्ति विकसित करता है जैसी कि अन्य सदस्यों की होती है। भाई की अभिवृत्ति के अनुसार बहन की अभिवृत्ति के अनुकूल, भाई-बहन की अभिवृत्ति का विकास माता-पिता की अभिवृत्ति के अनुसार प्राथमिक समूह के इसी प्रभाव के कारण होता है। बच्चा जब जन्म लेता है तक उसका मस्तिष्क एक कोरा कागज होता है। परिवार के अन्य सदस्यों, विशेषकर अपने माता-पिता के व्यवहारों एवं उनके साथ हुई अंत:क्रियाओं से उत्पन्न अनुभवों के अनुसार वह एक विशेष अभिवृत्ति विकसित करता है। जिन व्यक्तियों एवं घटनाओं के प्रति माता-पिता की अभिवृत्ति अनुकूल होती है, बच्चों में भी उन घटनाओं एवं व्यक्तियों के प्रति अनुकूल अभिवृत्ति विकसित हो जाती है। दूसरी तरफ, जिन चीजों के प्रति माता-पिता की अभिवृत्ति प्रतिकूल होती है, बच्चे भी उन चीजों के प्रति एक प्रतिकूल अभिवृत्ति विकसित कर लेते हैं। सिर्फ बच्चे ही नहीं बल्कि परिवार के अन्य सदस्य भी अपनी अभिवृत्ति उसी दिशा में विकसित कर लेते हैं। इस तरह से हम देखते हैं कि प्राथमिक समूह के प्रभाव के कारण समूह के सदस्यों की अभिवृत्ति में एकरूपता पायी जाती है। कैम्पवेल, गुरीन तथा मिलर ने तीन तरह के प्राथमिक समुहों की राजनैतिक अभिवृत्ति के निर्माण में उच्च एकरूपता पायी है। फिर अन्य मनोवैज्ञानिकों जैसे लेजार्सफेल्ड तथा सहयोगियों तथा बेरेलसन, लेजॉर्सफेल्ड एवं मैकफी ने भी राजनीतिक अभिवृत्तियों के निर्माण में प्राथमिक समूह जैसे परिवार के महत्त्व को काफी स्पष्टतापूर्वक दिखलाया है।

क्रेच, क्रचफिल्ड तथा बैलेची के अनुसार, प्राथमिक समूह के प्रभाव के कारण अभिवृत्ति में जो एकरूपता आती है, उसके निम्नांकित चार कारण हैं-

- प्राथमिक समूह के सदस्यों पर अनुपालना के लिए सामूहिक दबाव अधिक होता है। इसके कारण ऐसे सदस्यों की अभिवृत्ति में एकरूपता पायी जाती है।
- प्राथमिक समूह एक ऐसी परिस्थिति उत्पन्न करता है जहां किसी सदस्य की अभिवृत्ति अन्य सदस्यों की अभिवृत्ति के अनुकूल होती है। इससे भी सभी सदस्यों की अभिवृत्ति में एकरूपता या समानता बढ़ती है।
- किसी भी प्राथमिक समूह के सदस्यों को एक समान सूचनाएं दी जाती हैं। फलत: उनके अभिवृत्तियों में एकरूपता आती है।
- प्राथमिक समूह का नया सदस्य अन्य सदस्यों की अभिवृत्ति को समूह स्वीकृति प्राप्त करने के उद्देश्य से अपनाता है।

(ख) संदर्भ समूह- अभिवृत्ति के निर्माण एवं विकास में, संदर्भ समूह का भी महत्त्वपूर्ण योगदान है। संदर्भ समूह से तात्पर्य ऐसे समूह से होता है जिसके साथ व्यक्ति आत्मीकरण कर लेता है चाहे वह उस समूह का सदस्य औपचारिक रूप से हो या न हो। प्राय: संदर्भ के लक्ष्य, मूल्य आदि को अपनाकर वह अपने व्यवहार एवं चरित्र में ठीक वैसा ही परिवर्तन लाता है जैसा कि इन लक्ष्यों एवं

मूल्यों से अपेक्षित है। स्पष्ट है उस समय संदर्भ समूह का प्रभाव अभिवृत्ति के निर्माण में काफी अधिक होता है। उदाहरणार्थ, जब एक मध्यवर्गीय परिवार का व्यक्ति उच्च वर्गीय परिवार को अपना संदर्भ समूह मानता है तो स्वभावत: अपनी अभिवृत्ति में परिवर्तन करके वह एक ऐसी अभिवृत्ति विकसित करेगा जो उच्च वर्गीय परिवार के सदस्यों की अभिवृत्ति के अनुकूल हो जाती है। रॉसी तथा रॉसी ने अपने अध्ययन के आधार पर अभिवृत्ति निर्माण में धार्मिक संदर्भ समूह के महत्त्व हो दिखलाया है। मेयर्स के अनुसार संदर्भ समूह व्यक्ति को नयी अभिवृत्ति के निर्माण में इसलिए सहायता प्रदान करता है क्योंकि संदर्भ समूह का मानक उसे वैसा करने के लिए बाध्य करता है।

3.3.5 सांस्कृतिक कारक– अभिवृत्ति के निर्माण एवं विकास में सांस्कृतिक कारकों का भी महत्त्वपूर्ण स्थान है। प्रत्येक प्रकृति का अपना मानदण्ड, मूल्य, परम्पराएं, धर्म आदि होते हैं। प्रत्येक व्यक्ति का पालन-पोषण किसी न किसी संस्कृति में ही होता है। फलस्वरूप उसका समाजीकरण इन्हीं सांस्कृतिक कारकों द्वारा अधिक प्रभावित होता है। व्यक्ति अपनी अभिवृत्ति इन्हीं सांस्कृतिक प्रारूप के अनुसार विकसित करता है। एक समाज की संस्कृति दूसरे समाज की संस्कृति से भिन्न होती है। इसी सांस्कृतिक विभिन्नता के कारण भिन्न-भिन्न संस्कृति के व्यक्तियों की अभिवृत्ति में भिन्नता पायी जाती है। परन्तु एक ही संस्कृति के सभी लोगों की अभिवृत्ति एक समान होती है। उसका सबसे अच्छा स्पष्टीकरण मुस्लिम संस्कृति तथा हिन्दू संस्कृति की तुलना करने पर मिलता है। मुस्लिम संस्कृति में पले व्यक्तियों की अभिवृत्ति मौसेरे एवं चचेरे भाई-बहनों में शादी के प्रति अनुकूल होती है परन्तु हिन्दू संस्कृति में पले व्यक्तियों की अभिवृत्ति इस तरह की शादी के प्रति प्रतिकूल होती है। उसी तरह से मरने के बाद व्यक्ति का अंतिम संस्कार किस ढंग से किया जाए इसमें भी हिन्दू एवं मुस्लिम संस्कृति में पले व्यक्तियों की अभिवृत्ति अलग-अलग होती है। हिन्दुओं की अभिवृत्ति शव को जला देने के प्रति अनुकूल तथा दफना देने के प्रतिकूल होती है। इसके विपरीत मुसलमानों की अभिवृत्ति शव को दफना देने के अनुकूल तथा जला देने के प्रतिकूल होती है। कुछ मानवशास्त्रियों ने अध्ययनों के आधार पर इस बात की पुष्टि की है कि सांस्कृतिक कारकों का प्रभाव अभिवृत्ति के विकास में काफी पड़ता है। जैसे, मीड़ ने अपने अध्ययन के आधार पर यह स्पष्ट किया है कि सांस्कृतिक विभिन्नता के कारण ऐरापेश जाति के लोगों की अभिवृत्ति में उदारता, सहयोग तथा दयालुता आदि की भावना अधिक होती है जबकि मुण्डुगुमोर जाति के लोगों की अभिवृत्ति ठीक इसके विपरीत अर्थात् आक्रामकता तथा कटुता अधिक पायी जाती है। इसी तरह से रूथ बेनेडिक्ट ने भी अपने अध्ययन में सांस्कृतिक विभिन्नताओं के कारण तीन जातियों अर्थात् क्वाकियूटल, डोबू तथा जूनी जातियों की अभिवृत्तियों में भिन्नता होना बतलाया है।

3.3.6 व्यक्तित्व कारक– अभिवृत्ति के निर्माण एवं विकास में व्यक्तित्व शीलगुणों का भी अधिक प्रभाव पड़ता है। व्यक्ति उन अभिवृत्तियों को जल्द सीख लेता है जो उसे व्यक्तित्व के शीलगुणों के अनुकूल होती है। समाज मनोवैज्ञानिकों ने भिन्न-भिन्न तरह का अभिवृत्तियों जैसे धार्मिक अभिवृत्ति, राजनैतिक अभिवृत्ति तथा संजातिकेन्द्रवाद में व्यक्तित्व कारकों के महत्त्व का अध्ययन किया है। जैसे फ्रेंच ने अपने अध्ययन में धार्मिक अभिवृत्ति के विकास में व्यक्तित्व के कारकों के महत्त्व को दिखलाया है। इन्होंने अपने अध्ययन में पाया है कि अधिक संगठित धार्मिक अभिवृत्ति रखने वाले व्यक्तियों का शीलगुण कम संगठित धार्मिक अभिवृत्ति रखने वाले व्यक्तियों से सम्बन्धित ऐसे तथ्यों को खुलकर स्वीकार नहीं किया करते थे। अत: ऐसे लोगों में दमन करने की प्रवृत्ति अधिक थी। मैकलोस्काई ने राजनैतिक अभिवृत्ति में व्यक्तित्व कारकों के महत्त्व को दिखलाया है। उन्होंने अपने अध्ययन में पाया कि कम पढ़े-लिखे तथा मंद बुद्धि के लोगों में अनुदार अभिवृत्ति अधिक पायी जाती

है। इन्होंने अपने अध्ययन के आधार पर यह भी बताया कि अधिक-से-अधिक अनुदार अभिवृत्ति रखने वाले व्यक्ति अधिक शक्की, झगड़ालू, दोषारोपण करने वाले, वैरपूर्ण, आक्रामक आदि होते हैं। ऐसे लोग अधिक चिंतित, दोष तथा अपूर्णता भाव से भी ग्रस्त होते हैं। ऐडोरनो तथा उनके सहयोगियों ने संजातिकेन्द्रवाद जैसी अभिवृत्ति के विकास में व्यक्तित्व शीलगुणों के महत्त्व का अध्ययन किया है। संजातिकेन्द्रवाद एक ऐसी अभिवृत्ति है जिसमें व्यक्ति अपने समूह या वर्ग के अन्य सभी समूहों या वर्गों की तुलना में श्रेष्ठ समझता है। इन्होंने अपने अध्ययन में संजातिकेन्द्रवाद को मापने के लिए एक मापनी बनाई जिसे एफ-स्केल कहा गया। इस स्केल पर आये प्राप्तांक के आधार पर इन्होंने प्रयोज्य के दो समूह तैयार किए-अधिक संजातिकेन्द्रवाद की अभिवृत्ति दिखलाने वाला समूह तथा कम संजातिकेन्द्रवाद की अभिवृत्ति दिखलाने वाला समूह। इन दोनों समूहों के व्यक्तित्व में काफी भिन्नता पायी गयी। जैसे- अधिक संजातिकेन्द्रवाद दिखलाने वाले व्यक्ति सामाजिक रूप से अवांछनीय विचचारों का खुलकर विरोध करते थे, सामाजिक मूल्यों के प्रति काफी आदर दिखलाते थे, व्यक्तिगत सम्बन्धों में प्रभुत्व एवं शक्ति का प्रयोग अधिक पसन्द करते थे तथा इनका व्यक्तित्व संगठन अधिक दृढ़ था। कम संजातिकेन्द्रवाद दिखलाने वाले व्यक्तियों में इनके विपरीत गुण देखे गये।

3.3.7 रूढ़िकृतियाँ- प्रत्येक समाज में कुछ रूढ़िकृतियां होती हैं जिनसे भी व्यक्ति की अभिवृत्ति का विकास प्रभावित होता है। रूढ़िकृतियों से तात्पर्य किसी वर्ग या समुदाय के लोगों के बारे में स्थापित सामान्यीकरण से होता है। उदाहरण के लिए हमारे समाज में महिलाओं के प्रति एक रूढ़िकृति है कि वे पुरुषों की अपेक्षा अधिक धार्मिक एवं परामर्शग्राही होती हैं। फलस्वरूप, समाज में महिलाओं के प्रति एक विशेष प्रकार की अभिवृत्ति सामान्य लोगों में पायी जाती है। उसी तरह से हिन्दू समाज में एक महत्त्वपूर्ण रूढ़िकृति है कि गाय हमारी माता है परन्तु मुस्लिम समुदाय में उस प्रकार की रूढ़िकृति नहीं पायी जाती है। फलस्वरूप, गाय के प्रति हिन्दुओं की अभिवृत्ति मुस्लिम अभिवृत्ति की अपेक्षा अधिक अनुकूल होती है। इसी तरह के कई ऐसे उदाहरण दिये जा सकते हैं जिससे यह स्पष्ट हो जाता है कि रूढ़िकृतियों द्वारा व्यक्ति की अभिवृत्ति का विकास एवं निर्माण होता है। इस सम्बन्ध में कुछ प्रयोगात्मक सबूत भी कुछ समाज मनोवैज्ञानिकों द्वारा प्रदत्त किए गए हैं।

3.4 अभिवृत्ति परिवर्तन (Attitue Change)-बहुधा ऐसा प्रतीत होता है कि लोग किसी व्यक्ति या वस्तु के बारे में जो अभिवृत्ति बना लेते हैं वे स्थिर हो जाती हैं तथा जीवन पर्यन्त चलती ही रहती हैं। परन्तु सभी अभिवृत्तियों के बारे में ऐसा नहीं है। कुछ अभिवृत्तियां समय के परिवर्तन के साथ बदलती रहती है या तो वे पूर्णत: परिवर्तित हो जाती हैं या कुछ बदल जाती हैं, या उनका स्थानापन्न हो जाता है। जिसने बचपन से प्याज नहीं खाया हो, उसकी अभिवृत्ति उसके बारे में ऋणात्मक होगी। यदि वह युवावस्था में कुछ अवसरों पर प्याज खा ले तथा डॉक्टर व पुस्तकों आदि द्वारा वह उसके लाभों के बारे में जानकारी प्राप्त कर ले तो प्याज के प्रति उसकी अभिवृत्ति परिवर्तित हो सकती है। सिगरेट पीना छोड़ देने के बाद भी व्यक्ति किसी विशेष छाप की सिगरेट के प्रति धनात्मक अभिवृत्ति रख सकता है, या वह सिगरेट के प्रति ऋणात्मक तथा सिगार के प्रति धनात्मक अभिवृत्ति उत्पन्न कर सकता है।

समाज मनोविज्ञान में ''अभिवृत्ति परिवर्तन'' विषय अति प्रमुखता का विषय है जिसके ऊपर बहुत अध्ययन हुए हैं। विभिन्न अध्ययनों के आधार पर यह स्पष्ट होता है कि सामाजिक परिवर्तन के साथ अभिवृत्ति परिवर्तन में सुगमता होती है। भारत में अंग्रेजों के समय छुआ-छूत व जाति पाति का अधिक बोलबाला था। हरिजनों को लोग छूते तक न थे। स्वाधीनता के बाद समाज का उत्थान हुआ तथा एक

बड़ा परिवर्तन आया। लोगों में जाति-पांति का भेद कम होने लगा व हरिजन अछूत नहीं रह गये। अंतर्जातीय विवाह भी होने लगे। जब समाज बदल गया तो क्या फिर लोगों की अभिवृत्ति परिवर्तन की आवश्यकता है? यदि पूरे समाज की अभिवृत्ति का पूर्णत: परिवर्तन लाने की सदा आवश्यकता रहती है तो उपरोक्त प्रश्न का उत्तर देने के लिये हम निम्न बातों की ओर ध्यान दे सकते हैं-

- कुछ अभिवृत्तियां समाज के उत्थान में बाधक होती हैं, उन्हें पूर्णत: समाप्त करना आवश्यक होता है। उदाहरणार्थ काले-गोरे का भेद, जाति-पांति, छूआछूत आदि की अभिवृत्तियां समाज में घुन का कार्य करती हैं, उन्हें दूर करना आवश्यक है।
- कुछ ऐसी अभिवृत्तियां हैं जो केवल रूढ़िवादिता पर आधारित होती है न कि गुण व योग्यता पर। प्याज, लहसुन खाना बुरा है चाहे उसमें कितने ही गुण हों, निम्न जाति के व्यक्ति को नौकरी में न लेना चाहे वह विशेषत: योग्य हो- इस प्रकार की अभिवृत्तियां ऐसी हैं जिनमें परिवर्तन लाना आवश्यक है।
- कुछ ऐसी अभिवृत्तियां होती है जिन्हें समूल नष्ट करने की आवश्यकता होती है। आज प्रजातांत्रिक समय में कुछ तत्त्व ऐसे भी होते हैं जो प्रजातंत्र विरोधी हो सकते हैं। ऐसे तत्त्वों की या अभिवृत्तियों की समाप्ति आवश्यक है।
- व्यक्तियों की विशेष अवांछित अभिवृत्ति में इसलिये भी परिवर्तन लाना आवश्यक है कि वे उस अभिवृत्ति को अधिक दिन न चलायें, या दूसरों में वे उसके बीज न बोयें। यदि मां बाप की कोई अभिवृत्ति बदल जाय तो वे अपने बच्चों में फिर उस अवांछित अभिवृत्ति को फैलने से बचा सकते हैं।
- कुछ वांछित अभिवृत्तियों के विकास के लिए व्यक्तियों की अभिवृत्ति परिवर्तन आवश्यक है। यदि प्याज के प्रति व्यक्तियों की अभिवृत्ति धनात्मक करनी है तो वर्तमान की उनकी प्याज के प्रति ऋणात्मक अभिवृत्ति में परिवर्तन करना आवश्यक हो जाता है।
- कुछ अभिवृत्तियों के कुछ तत्त्वों में परिवर्तन लाने की भी आवश्यकता होती है चाहे सम्पूर्णत: परिवर्तित करने की आवश्यकता न हो। यदि जाति-पांति व छुआछूत को पूर्णत: उखाड़ा नहीं जा सकता तो उसकी कुछ बातों को समाप्त किया जा सकता है।
- अभिवृत्तियों में परिवर्तन करके अंतर्राष्ट्रीय सद्भाव बढ़ाया जा सकता है। विभिन्न राष्ट्रों में मित्रता व व्यापार की संभावना को बढ़ाया जा सकता है।
- व्यक्तियों के संवेगों को नियंत्रित करने के लिये उनकी अभिवृत्तियों को परिवर्तित करना आवश्यक है। इससे व्यक्ति के व्यवहारों में सुदृढ़ता व सामंजस्यता बढ़ाई जा सकती है।
- अभिवृत्ति परिवर्तन द्वारा व्यक्ति की आवश्यकतायें व मांगों को भी आवश्यकतानुसार परिवर्तित किया जा सकता है।

3.5 अभिवृत्ति परिवर्तन के कारक-समाज मनोवैज्ञानिकों एवं समाजशास्त्रियों द्वारा किये गये अध्ययनों से यह स्पष्ट होता है कि अभिवृत्ति परिवर्तन दो प्रकार के होते हैं-संगत परिवर्तन तथा असंगत परिवर्तन। किसी एक व्यक्ति की अभिवृत्ति किसी व्यक्ति या घटना के प्रति अनुकूल से परिवर्तित होकर और अधिक अनुकूल हो सकती है। उसी तरह से उसकी अभिवृत्ति प्रतिकूल से और अधिक प्रतिकूल भी हो सकती है। अभिवृत्ति में ये दोनों परिवर्तन संगत परिवर्तन के उदाहरण हैं। अत: अभिवृत्ति में संगत परिवर्तन वैसे परिवर्तन को कहा जाता है जिसमें परिवर्तन पहले की ही दिशा में होते हैं। असंगत परिवर्तन इस परिवर्तन को कहा जाता है जिसमें अभिवृत्ति अनुकूल से बदलकर प्रतिकूल या प्रतिकूल से

बदलकर अनुकूल हो जाती है। स्पष्ट है कि असंगत परिवर्तन में अभिवृत्ति की दिशा बदल जाती है। अभिवृत्ति परिवर्तन से तात्पर्य इन दोनों या दोनों में से किसी एक तरह के परिवर्तन से होता है।

अभिवृत्ति परिवर्तन के क्षेत्र में किये गये अध्ययन से यह स्पष्ट हो गया है कि संगत परिवर्तन तथा असंगत परिवर्तन में एक तरह का नियम सम्मिलित नहीं होता है। इन दोनों तरह के परिवर्तनों से सम्बन्धित नियम अलग-अलग हैं, जो इस प्रकार हैं-

- अन्य बातें समान रहने पर, अभिवृत्ति में संगत परिवर्तन लाना असंगत परिवर्तन की अपेक्षा हमेशा आसान है।
- यदि व्यक्ति की वर्तमान अभिवृत्ति के तत्त्वों में अधिक शक्ति, आपस में घनिष्ठ सम्बन्ध, स्थिरता तथा संगति हो, तो वैसी परिस्थिति में अभिवृत्ति में संगत परिवर्तन लाना असंगत परिवर्तन की अपेक्षा तुलनात्मक रूप से अधिक सरल होता है।

उपर्युक्त विवरण से यह स्पष्ट है कि अभिवृत्ति परिवर्तन में जो संगत या असंगत परिवर्तन होते हैं, वे अलग-अलग नियमों द्वारा निर्धारित होते हैं।समाज मनोवैज्ञानिकों तथा समाजशास्त्रियों द्वारा किये गये अध्ययनों से यह स्पष्ट हो गया है कि अभिवृत्ति परिवर्तन कई कारकों द्वारा प्रभावित होता है। कुछ प्रमुख कारकों की व्याख्या निम्नत: है-

3.5.1 संदर्भ समूह में परिवर्तन- समाज मनोवैज्ञानिकों द्वारा किये गये अध्ययन से यह स्पष्ट है कि व्यक्ति के संदर्भ समूह में परिवर्तन कर उनकी अभिवृत्ति में भी परिवर्तन हो जाता है। न्यूकाम्ब ने एक अध्ययन से इसे स्पष्ट किया। उन्होंने वेनिंगटन कॉलेज की महिला छात्राओं पर कई वर्षों तक अध्ययन किया। कॉलेज के प्रथम वर्ष में ऐसी छात्राओं की अभिवृत्ति की माप की गयी और पाया गया कि इनकी अभिवृत्ति में उदारता अधिक थी। न्यूकाम्ब के अनुसार ऐसा स्वाभाविक ही था क्योंकि वे सभी धनी परिवार से आई थी और उनके माता-पिता स्वयं ही अधिक उदार थे। कॉलेज का वातावरण ऐसा था कि इससे उदार अभिवृत्ति को अधिक प्रोत्साहन मिलता था। यहां तक कि कॉलेज के अधिकारियों का छात्राओं में उदारता की अभिवृत्ति उत्पन्न करना भी प्रमुख उद्देश्यों में से एक था। कॉलेज के अंतिम वर्ष में जब इन छात्राओं की अभिवृत्ति मापी गयी तो यह देखा गया कि अधिकतर छात्राओं की अभिवृत्ति अनुदार से बदलकर उदार हो गयी थी। न्यूकाम्ब के अनुसार ऐसा इस कारण संभव हो सका क्योंकि छात्राओं के संदर्भ समूह बदलकर कॉलेज को गया था जहां उदार अभिवृत्ति की प्रधानता थी।

3.5.2 समूह सम्बन्ध में परिवर्तन- समूह सम्बन्ध में परिवर्तन का असर अभिवृत्ति परिवर्तन पर सीधा पड़ता है। यदि व्यक्ति अपने पुराने या वर्तमान समूह से सम्बन्ध तोड़कर एक नये समूह से सम्बन्ध जोड़ लेता है तो स्वभावत: वह अपनी अभिवृत्ति में नये समूह के नियमों के अनुसार परिवर्तन लाता है। उदाहरणार्थ, कोई एम.एल.ए. या एम.पी. जनता पार्टी को छोड़कर कांग्रेस पार्टी से अपना सम्बन्ध जोड़ता है तो स्वभावत: वह अपनी मनोदशा में एक ऐसा परिवर्तन लाता है जिससे उसकी अभिवृत्ति एवं अन्य व्यवहार कांग्रेस पार्टी के अन्य सदस्यों के अनुकूल हो जाती है।

जब समूह सम्बन्धन में परिवर्तन होता है, तब व्यक्ति की अभिवृत्ति की परिवर्तनशीलता दो बातों पर निर्भर करती है-समूह की विशेषता तथा समूह की सदस्यता की विशेषता। समूह की विशेषता से तात्पर्य समूह के मानदण्ड, विश्वास तथा मूल्य आदि से होता है। यदि किसी व्यक्ति के लिए नया समूह, जिसमें वह सम्बन्धन चाहता है, का मानदण्ड अधिक आकर्षक है, समूह का विश्वास स्वीकार के योग्य है तथा समूह का मूल्य या मान महत्त्वपूर्ण है, तो वैसी परिस्थिति में व्यक्ति अपनी अभिवृत्ति में इस नये समूह के मानदण्डों, विश्वासों एवं मूल्यों के अनुसार जल्द ही परिवर्तन कर लेता है। समूह में व्यक्ति की सदस्यता की विशेषता से तात्पर्य नए समूह में व्यक्ति की सदस्यता की स्थिति एवं उसके

महत्त्व से होता है। यदि नयी सदस्यता की स्थिति अधिक सराहनीय है एवं उसका महत्त्व तुलनात्मक रूप से अधिक है, तो व्यक्ति अपनी अभिवृत्ति में सदस्यता की मांग के अनुसार तुरंत परिवर्तन कर लेता है। होमान्स ने अपने अध्ययन के आधार पर यह स्पष्ट किया है कि यदि किसी व्यक्ति की स्थिति नये समूह में अधिक ऊंची होती है तथा साथ-ही-साथ उसमें लोकप्रियता अधिक होती है, तो वह अपने व्यवहार में समरूपता अधिक दिखलाता है अर्थात् अपनी अभिवृत्ति में नये समूह की सदस्यता की मांग के अनुसार जल्द ही परिवर्तन लाकर उसी के अनुसार व्यवहार करना प्रारम्भ कर देता है। बाद में अन्य मनोवैज्ञानिकों जैसे शेरीफ ने भी उपयुक्त तथ्य की पुष्टि अपने प्रयोगात्मक अध्ययन के आधार पर की है।

3.5.3 अतिरिक्त सूचनाएं- अभिवृत्ति में परिवर्तन, व्यक्ति को दी गयी अतिरिक्त सूचनाओं के द्वारा भी होता है। व्यक्ति को रेडियो, टेलिविजन, समाचार पत्र के माध्यम से भिन्न-भिन्न तरह की सूचनाएं दी जाती हैं। इतना ही नहीं व्यक्ति स्वयं भी अन्य व्यक्तियों के साथ अंत:क्रिया करके भिन्न-भिन्न तरह की सूचनायें प्राप्त करता है। इन सूचनाओं के फलस्वरूप व्यक्ति अपनी अभिवृत्ति में परिवर्तन लाता है। इन अतिरिक्त सूचनाओं के फलस्वरूप अभिवृत्ति में होने वाली परिवर्तनशीलता मूल रूप से इस बात पर निर्भर करती है कि उस परिस्थिति का स्वरूप क्या है जिनमें व्यक्ति को सूचनाएं दी गयी है। समाज मनोवैज्ञानिकों ने ऐसी परिस्थिति के तीन प्रकारों का वर्णन किया है और अभिवृत्ति पर उसके प्रभाव का अध्ययन किया है। ये तीन प्रकार इस प्रकार हैं-

3.5.3.1 सामूहिक परिस्थिति या एकान्त परिस्थिति- समाज मनोवैज्ञानिकों ने अपने अध्ययन के आधार पर यह स्पष्ट किया है कि यदि कोई सूचना व्यक्ति को एक ऐसी परिस्थिति में दी जाती है जहां बहुत से लोग एकत्रित होते हैं तो उसमें व्यक्ति की अभिवृत्ति परिवर्तन एकान्त परिस्थिति में दी गयी सूचना की अपेक्षा अधिक होती है। इन्केल्स ब्रोडवेक आदि ने अपने प्रयोगों के आधार पर उपयुक्त तथ्य की पुष्टि की है।

3.5.3.2 प्रकट एवं गुप्त वादा- जब व्यक्ति अपने मतों एवं विचारों को खुलकर लोगों के सामने रखता है तो उसे हम ''प्रकट वादा की संज्ञा'' देते हैं। परन्तु जब वह अपने विचारों एवं मतों को गुप्त रखता है अर्थात् दूसरे लोग उसके बारे में नहीं जान पाते हैं तो इसे गुप्त वादा कहा जाता है। मनोवैज्ञानिक अध्ययनों से यह स्पष्ट है कि प्रकट वादा की परिस्थिति में जब अभिवृत्ति परिवर्तन के उद्देश्य से कोई सूचना दी जाती है, तो वह सूचना अधिक प्रभावकारी नहीं होती। परन्तु यदि वही सूचना गुप्त वादा की परिस्थिति में दी जाती है तो उससे अभिवृत्ति परिवर्तन प्रभावकारी दिशा में होता है। होमलैण्ड, कैम्पबेल तथा ब्रोक ने एक अध्ययन किया जिसमें छात्रों के दो समूहों ने अपनी अभिवृत्ति एक महत्त्वपूर्ण विषय पर किया। मत देने की उम्र 21 से घटाकर 18 वर्ष किया जाय, के प्रति अध्ययन किया। दोनों समूहों के सदस्यों की अभिवृत्ति में परिवर्तन के लिए विशेष सूचना दी गयी परन्तु एक समूह को 'प्रकट वादा' की परिस्थिति में तथा दूसरे समूह को 'गुप्त वादा' की परिस्थिति में। प्रकट वादा की परिस्थिति में छात्रों को अपनी अभिवृत्ति व्यक्त करके अपना नाम लिख देना था और उनसे यह भी कहा गया था कि उनके विचारों एवं मतों को अखबार में प्रकाशित किया जायेगा। परन्तु 'गुप्त वादा' की परिस्थिति में छात्रों को सिर्फ अपना विचार एवं मत प्रकट करना था। न तो उन्हें अपना नाम लिखने को कहा गया और न उनसे यह कहा गया कि उनके मतों को प्रकाशित किया जायेगा। परिणाम में देखा गया था कि जिन छात्रों ने अपना मत एवं विचार अन्य लोगों के सामने किया था। उनकी अभिवृत्ति विशेष सूचना द्वारा बहुत कम परिवर्तित हुई। परन्तु जिन छात्रों ने अपना मत एवं विचार लोगों के सामने प्रकट नहीं किया था उनकी अभिवृत्ति विशेष सूचना द्वारा काफी अधिक परिवर्तित हो गयी।

इस अध्ययन से यह स्पष्ट हुआ कि वादा करने की परिस्थिति भी एक महत्त्वपूर्ण कारक है जिससे अभिवृत्ति परिवर्तन प्रभावित होता है।

3.5.3.3 समूह निर्णय विधि– समाज मनोवैज्ञानिकों का मत कि जब कोई सूचना, समूह निर्णय विधि द्वारा दी जाती है तो उससे अभिवृत्ति में अधिक परिवर्तन आता है। समूह निर्णय विधि वह विधि है जहां कई व्यक्ति एक साथ मिलकर किसी विषय पर विमर्श करते हैं। इसी विमर्श के माध्यम से उन्हें अभिवृत्ति में परिवर्तन करने के लिए विशेष सूचना भी दी जाती है। समूह निर्णय द्वारा अभिवृत्ति में परिवर्तन करने के लिए सबसे पहला प्रयोग लेविन तथा उनके सहयोगियों द्वारा किया गया। इस अध्ययन में गृहणियों के कई समूह लिये गये। इसका उद्देश्य पशुओं के खास अंगों जैसे हृदय, गुर्दा आदि जिसे मनुष्यों द्वारा भोजन के रूप में कम खाया जाता है, के प्रति गृहणियों में चली आ रही नकारात्मक अभिवृत्ति में परिवर्तन लाना था। गृहणियों के कुछ समूहों को इन अंगों को भोज्य पदार्थ के रूप में ग्रहण किये जाने की उपयोगिताओं को व्याख्यान विधि द्वारा बताया गया। प्रयोगकर्त्ता द्वारा व्याख्यान के माध्यम से उनकी उपयोगिता बढ़ाने सम्बन्धी विशेष सूचना उन्हें दी गयी। गृहणियों के कुछ दूसरे समूहों में इन अंगों को भोज्य पदार्थ के रूप में ग्रहण किये जाने की उपयोगिताओं पर एक गोष्ठी का आयोजन किया गया जिसमें समूह की सभी गृहणियों ने खुलकर अपना मत व्यक्त किया। इसी गोष्ठी के माध्यम से प्रयोगकर्त्ता ने ठीक वही सूचना दी जिसे व्याख्यान विधि द्वारा गृहणियों को दिया गया था। परिणाम देखा गया कि व्याख्यान विधि द्वारा दी गयी सूचनाओं द्वारा 30 प्रतिशत गृहणियों की अभिवृत्ति में परिवर्तन आया जबकि समूह निर्णय विधि द्वारा दी गयी सूचनाओं द्वारा 32 प्रतिशत गृहणियों ने अपनी अभिवृत्ति में परिवर्तन लाया। लेविन ने ही अपने अन्य अध्ययनों में ऐसा ही परिणाम प्राप्त कर पहले के परिणाम की पुष्टि की है।

3.5.4 प्रभावी या विश्वासोत्पादक संचारण–अभिवृत्ति परिवर्तन के अनेक कारकों में विश्वासोत्पादक संचारण एक प्रधान कारण है। विश्वासोत्पादक संचारण से तात्पर्य ऐसे तथ्यों से आकर्षक एवं मनमोहक होते हैं और व्यक्ति की अभिवृत्ति पर सीधा असर करते हैं। प्रायः ऐसे संचारण को जब व्यक्ति स्वीकार करता है, तो इससे उसकी अभिवृत्ति में परिवर्तन आ जाता है। इस ढंग का विश्वासोत्पादक संचारण का अच्छा उदाहरण टेलीविजन एवं रेडियो द्वारा किये गये विज्ञापनों में मिलता है। आये दिन रेडियो तथा टेलीविजन से हमें कहा जाता है कि अपने स्वास्थ्य की रक्षा करना है तो आप अमुक साबुन का ही प्रयोग करें क्योंकि उसमें मैल में छिपे कीटाणुओं को मारने की शक्ति सबसे अधिक है। यह प्रभावी या विश्वासोत्पादक संचारण का एक उदाहरण है।

होमलैण्ड, जैनिस तथा केली द्वारा येल विश्वविद्यालय में अभिवृत्ति परिवर्तन में विश्वासोत्पादक संचार को दिखलाने के लिये काफी प्रयोग एवं शोध किये गये। इन प्रयोगकर्त्ताओं का सामान्य निष्कर्ष यही था कि विश्वासोत्पादक संचारण द्वारा अभिवृत्ति में होने वाला परिवर्तन मूलतः चार कारकों पर निर्भर करता है-संचारण का स्रोत, संचारण का विषय एवं विशेषता, संचार का माध्यम तथा श्रोतागण की विशेषता। अभिवृत्ति परिवर्तन में इन चारों कारकों के महत्त्व का वितरण इस प्रकार है–

3.5.4.1 संचारण का स्रोत या संचारक की विशेषता– अभिवृत्ति परिवर्तन करने के लिए जो तथ्य एवं सूचना दूसरे व्यक्ति को दी जा रही है उसका स्रोत कैसा है– इस पर अभिवृत्ति की परिवर्तनशीलता अधिक निर्भर करती है। होभलैण्ड, जैनिस एवं केली का विचार है कि सूचना देने वाला व्यक्ति अर्थात् संचारक की कुछ खास विशेषताएं होती है जिससे उनके द्वारा दी गयी सूचनाएं अभिवृत्ति परिवर्तन के

लिए काफी प्रभावी सिद्ध होती है। ऐसी विशेषताओं में संचारक की विश्वसनीयता, आकर्षकता, शक्ति आदि प्रमुख हैं।

(अ) विश्वसनीय संचारक– इस तरह के संचारक विशेषज्ञ एवं भरोसेयोग्य होते हैं। फलस्वरूप उनके द्वारा दी गयी किसी प्रकार की सूचना पर श्रोतागण अधिक विश्वास करते है और अपनी अभिवृत्ति में आसानी से परिवर्तन करते हैं। होभलैण्ड तथा विश ने एक प्रयोग किया जिसमें कॉलेज के छात्रों को एक ही तरह की सूचनाएं पढ़ने के लिये दी गई। परन्तु कुछ छात्रों से कहा गया कि इन तथ्यों एवं सूचनाओं का स्रोत एक विश्वसनीय व्यक्ति है तथा कुछ छात्रों से कहा गया कि इन तथ्यों एवं सूचनाओं का स्रोत एक कम विश्वसनीय व्यक्ति है। परिणाम में देखा गया कि विश्वसनीय स्रोत होने पर 23 प्रतिशत छात्रों की अभिवृत्ति में परिवर्तन आया परन्तु कम विश्वसनीय स्रोत के होने पर मात्र 7 प्रतिशत छात्रों की अभिवृत्ति में परिवर्तन आया। यह भी देखा गया कि कुछ समय (4 सप्ताह) के बीतने के बाद विश्वसनीय स्रोत वाले छात्रों की अभिवृत्ति तथा कम विश्वसनीयता स्रोत वाले छात्रों की अभिवृत्ति में अंतर समान हो गया। दूसरे शब्दों में समय बीतने पर उच्च विश्वसनीय संचारक का प्रभाव कम हो गया तथा निम्न विश्वसनीय संचारक का प्रभाव बढ़ गया। इसे समाज मनोवैज्ञानिकों ने स्लीपर प्रभाव कहा है।

(ब) आकर्षक संचारक– आकर्षक संचारक द्वारा दी गयी सूचनाएं अभिवृत्ति में अधिक प्रभावकारी सिद्ध हुई है। आकर्षकता में दो पक्ष महत्त्वपूर्ण हैं–शारीरिक सुन्दरता तथा समानता। चाईकिन तथा पालाक एवं उनके सहयोगियों द्वारा किये गये अध्ययन से यह स्पष्ट हुआ है कि जब सुन्दर लोगों द्वारा कोई तर्क तथा सूचना दी जाती है तो उसका प्रभाव सुनने वाले व्यक्ति की अभिवृत्ति पर अधिक पड़ता है और ऐसे व्यक्ति अपनी अभिवृत्ति में तत्परता के साथ परिवर्तन लाते हैं। जब संचारक में सुन्दरता कम होती है या नहीं होती है तो उनके तर्क का प्रभाव व्यक्ति की अभिवृत्ति पर कम पड़ता है। समानता, आकर्षकता का दूसरा महत्त्वपूर्ण पक्ष है। हम लोग वैसे व्यक्तियों को पसंद करते हैं जो हमारे समय के होते हैं। फलस्वरूप, वे हमारे लिये आकर्षक होते हैं और उनके द्वारा दी गयी सूचनाओं द्वारा अभिवृत्ति में आसानी से परिवर्तन आ जाता है। डेम्ब्रोस्काई तथा उनके सहयोगियों ने अपने अध्ययन में पाया कि स्कूल के कुछ श्याम छात्रों को दांत की देख–रेख से सम्बन्धित कुछ तथ्य श्याम संचारकों द्वारा तथा कुछ अन्य श्याम छात्रों को उसी प्रकार का तथ्य गोरे संचारकों द्वारा दिये गये। दूसरे दिन जब एक दांत के डॉक्टर द्वारा उन छात्रों के दांतों की जांच की गयी तो देखा गया कि जो श्याम छात्र श्याम संचारक से सुनकर तथ्य प्राप्त किये थे, वे अपनी दांतों की सफाई उन श्याम छात्रों की अपेक्षा अधिक ठीक ढंग से कर रखे थे जिन्होंने गोरे संचारक से सुनकर तथ्य प्राप्त किये थे। इन अध्ययनों से यह स्पष्ट हो जाता है कि वैसे व्यक्ति द्वारा दिये गये तथ्यों एवं सूचनाओं से हमारी अभिवृत्ति अधिक परिवर्तित होती है जो हमारे समान होते हैं। रेभेन तथा फ्रेंच ने अपने अध्ययन से बतलाया है कि जो व्यक्ति समाजिक, राजनैतिक या आर्थिक रूप से अधिक शक्तिशाली होते हैं, उनकी बातों एवं तर्कों से भी अभिवृत्ति अधिक प्रभावित होती है और उनके द्वारा बतायी गयी दशा में अभिवृत्ति में परिवर्तन लाने के लिए हम विवश हो जाते हैं।

3.5.4.2 संचारण का विषय एवं विशेषता– व्यक्ति को दी गयी सूचनाओं का स्वरूप एवं विशेषता भी एक महत्त्वपूर्ण कारक है जिस पर अभिवृत्ति परिवर्तन निर्भर करता है। समाज मनोवैज्ञानिकों ने ऐसी सूचनाओं की विशेषताओं के कई पक्षों का अध्ययन किया है जिसमें निम्नांकित तीन अधिक महत्त्वपूर्ण हैं–

- **डर उत्पन्न करने वाली सूचना**– कुछ समाज मनोवैज्ञानिकों ने अपने प्रयोगात्मक अध्ययनों के आधार पर यह स्पष्ट किया है कि जब कोई तथ्य या सूचना ऐसी होती है जिससे व्यक्ति में ऋणात्मक संवेग जैसे डर उत्पन्न होता है और साथ-ही-साथ उस डर को कम करने का उपाय भी उनके सामने होता है, तो इससे अभिवृत्ति में परिवर्तन आसानी से होता है। लेभेन्थाल एवं रोजर्स तथा न्यूवार्न ने अपने प्रयोगों के आधार पर इस तथ्य की पुष्टि की है। सरकार की ओर से सिगरेट पीने वालों को यह चेतावनी दिया जाना कि सिगरेट पीने से फेफड़ों में कैंसर होता है, डर उत्पन्न कर अभिवृत्ति में परिवर्तन करने वाली सूचना का एक महत्त्वपूर्ण उदाहरण है।
- **एक-तरफा बनाम दो-तरफा संचारण**– जब दी जाने वाली सूचना का सिर्फ एक पक्ष अर्थात् धनात्मक या ऋणात्मक पक्ष पर ही संचारक बल देता है, तो इसे एक तरफा संचारण कहा जाता है। परन्तु यदि संचारक सूचना के दोनों पक्षों पर बल डालता है अर्थात् उसके लाभ और हानि दोनों को ही श्रोता को वह बताता है, तो इसे दो-तरफा संचारण कहा जाता है। होमलैण्ड, लम्सडेन तथा शैफिल्ड ने एक अध्ययन किया जिसमें अमेरिका-जापान युद्ध सैनिकों के दो समूह को सूचना दी गयी। एक समूह को एक-तरफा सूचना दी गयी जिसमें सिर्फ इस बात पर बल दिया गया कि जापान के साथ अमेरिका का युद्ध लम्बे समय तक चल सकता है क्योंकि जापान के पास लड़ने के साधन काफी हैं। दूसरे प्रयोगात्मक समूह को दो-तरफा सूचना दी गयी, जिसमें युद्ध से अमेरिका को होने वाले लाभों एवं जापान को होने वाली हानियों पर बल दिया गया। परिणाम में देखा गया कि दो-तरफा सूचना द्वारा अभिवृत्ति में असंगत परिवर्तन अधिक हुए जबकि एक-तरफा सूचना द्वारा अभिवृत्ति में संगत परिवर्तन अधिक हुए।
- **(स) प्राथमिकता बनाम अभिनवता**– किसी व्यक्ति या घटना के बारे में पहले दी गयी सूचनाएं उसी व्यक्ति या घटना के बारे में बाद में दी गयी सूचनाओं की अपेक्षा अभिवृत्ति में जल्द परिवर्तन लाती है। क्योंकि पहले दी गयी सूचनाओं का असर व्यक्ति के मस्तिष्क पर अपेक्षाकृत अधिक होता है। पहले दी गयी सूचना के प्रभाव को प्राथमिकता तथा बाद में दी गयी सूचना के प्रभाव को अभिनवता की संज्ञा दी जाती है। ।बीए 1946 ने एक प्रयोग किया जिसमें कॉलेज के छात्रों को निम्नांकित दो तरह के वाक्य पढ़ने के लिए दिया-

  जॉन– बुद्धिमान, मेहनती, आवेगशील, विवेचनात्मक, जिद्दी तथा डाही है।

  जॉन– डाही, जिद्दी, विवेचनात्मक, आवेगशील, मेहनती तथा बुद्धिमान है।

जिन छात्रों ने पहले वाक्य को पढ़ा, उनकी अभिवृत्ति जॉन के प्रति सकारात्मक हो गयी तथा जिन छात्रों ने दूसरे वाक्य को पढ़ा, उनकी अभिवृत्ति जॉन के प्रति नकारात्मक हो गयी। बाद में लैंगर एवं रॉथ तथा मैकएण्ड्रयू ने भी अपने प्रयोगों में उपर्युक्त तथ्य की पुष्टि की है। मैकगुरी ने भी अपने प्रयोग के आधार पर यह स्पष्ट किया है कि जब किसी व्यक्ति के वांछनीय गुणों को पहले तथा अवांछनीय गुणों को बाद में उपस्थित किया जाता है, तो सुनने वाले व्यक्ति की अभिवृत्ति में वांछनीय गुणों की दिशा में परिवर्तन हो जाती है।

3.5.4.3 संचार का माध्यम– अभिवृत्ति परिवर्तन के लिए दी जाने वाली सूचना का माध्यम भी एक महत्त्वपूर्ण कारक है जिससे अभिवृत्ति में परिवर्तन होता है। समाज मनोवैज्ञानिकों ने संचार के निम्नांकित तरह के माध्यमों के प्रभावों का अध्ययन किया है-

- **सामूहिक माध्यम बनाम व्यक्तिगत प्रभाव**-रेडियो, टेलिविजन, अखबार आदि संचार के सामूहिक माध्यम के उदाहरण हैं जिनमें संचारक, जनता को सामूहिक रूप से किसी बात की सूचना देता है।

इनमें संचारक एवं सामान्य व्यक्तियों के बीच सीधा सम्बन्ध या आमने-सामने का सम्बन्ध नहीं होता है। व्यक्तिगत प्रभाव में संचारक प्रत्येक व्यक्ति से व्यक्तिगत रूप से मिलकर अपनी बात को समझाता है। लेजार्सफेल्ड, बेरेलसन तथा गाडेट ने अपने प्रयोग के आधार पर बतलाया है कि किसी विशेष राजनैतिक पार्टी के प्रति वोट देने की अभिवृत्ति में परिवर्तन के लिए सामूहिक माध्यम से दी गयी सूचना व्यक्तिगत रूप से दी गयी सूचना की अपेक्षा कम प्रभावकारी होता है। उसी तरह से एल्डर्स-भेल्ड एवं डोज ने अपने अध्ययन में पाया कि जब सूचनाएं सामूहिक माध्यम के सहारे दी गयी तो किसी विशेष पार्टी के प्रति वोट देने की अभिवृत्ति में मात्र 19 प्रतिशत परिवर्तन हुआ। परन्तु जब वही सूचनाएं व्यक्तिगत रूप से सभी लोगों को दी गयीं तो इससे उनकी अभिवृत्ति में 75 प्रतिशत परिवर्तन हुआ। इन अध्ययनों से स्पष्ट हुआ कि अभिवृत्ति परिवर्तन के लिए सामूहिक माध्यम से दी गयी सूचनाएं, व्यक्तिगत रूप से दी गयी सूचनाओं की अपेक्षा कम प्रभावकारी होती है।

- **सक्रिय अनुभव बनाम निष्क्रिय ग्रहण**- समाज मनोवैज्ञानिकों ने सूचना ग्रहण करने के इन दोनों माध्यमों का तुलनात्मक अध्ययन करके यह स्पष्ट किया है कि जब व्यक्ति कोई अनुभव सक्रिय रूप से क्रियाशील होकर प्राप्त करता है, तो इससे अभिवृत्ति में परिवर्तन तेजी से होता है। परन्तु जब उसे कोई अनुभव दीवार पर कुछ लिखा देखकर या इश्तहार पढ़कर प्राप्त होता है, तो इससे व्यक्ति की अभिवृत्ति में परिवर्तन कम होता है। क्राफार्ड ने अपने अध्ययन के आधार पर इस तथ्य की पुष्टि की है। क्राफार्ड के अनुसार निष्क्रिय रूप से दी गयी सूचनाओं पर व्यक्ति ज्यादा ध्यान नहीं देता है।

3.5.4.4 श्रोता की विशेषताएं- अभिवृत्ति परिवर्तन के लिए किए गए अनुनयन की सफलता इस बात पर निर्भर करती है कि श्रोतागण कौन हैं, उनकी विशेषताएं क्या हैं, आदि। समाज मनोवैज्ञानिकों द्वारा किये गये अध्ययनों से यह स्पष्ट है कि कुछ लोग अनुनयन किये जाने पर अपनी अभिवृत्ति में तुरन्त परिवर्तन कर लेते हैं तथा कुछ लोगों पर प्रभावी अनुनयन का भी कोई असर नहीं पड़ता है। उदाहरणार्थ, जिन व्यक्तियों में आत्मसम्मान अधिक होता है उनमें आत्मविश्वास अधिक होता है। फलस्वरूप ऐसे व्यक्तियों पर अनुनयन का प्रभाव कम पड़ता है और इनकी अभिवृत्ति में परिवर्तन आसानी से नहीं होता है। मेयर्स के अनुसार, आक्रमणकारी स्वभाव के व्यक्ति में हटधर्मिता अधिक पायी जाती है एवं वे संकुचित विचार के होते हैं। फलत: इनकी अभिवृत्ति में भी परिवर्तन लाना आसान नहीं होता। श्रोतागण की उम्र का भी प्रभाव उनकी अभिवृत्ति परिवर्तनशीलता पर पड़ता है। सीयर्स ने अपने अध्ययन के आधार पर बताया है कि जैसे-जैसे व्यक्ति की आयु बढ़ती जाती है, उसकी अभिवृत्ति में परिवर्तन एक विशेष दिशा में होता जाता है। दूसरे शब्दों में उनकी अभिवृत्ति में उदारता कमती जाती है तथा अनुदारता बढ़ती जाती है। यही कारण है कि बूढ़े व्यक्तियों की सामाजिक अभिवृत्ति एक वयस्क की सामाजिक अभिवृत्ति की अपेक्षा अधिक अनुदार होती है। हमारे देश में सह-शिक्षा के प्रति अधिकतर बूढ़ व्यक्तियों की अभिवृत्ति उसी कारण नकारात्मक होती है।

3.5.5 बाधित सम्पर्क- अभिवृत्ति परिवर्तन में बाधित सम्पर्क का भी महत्त्व काफी अधिक है। बाधित सम्पर्क से तात्पर्य वैसे सम्पर्क से होता है जिसमें व्यक्तियों को कुछ ऐसे व्यक्तियों के साथ लाचारी में अंत:क्रिया करनी पड़ती है जिनके साथ वह अंत:क्रिया करना सचमुच में नहीं चाहता है। उदाहरणार्थ, एक हरिजन एवं एक ब्राह्मण को एक ही कमरे में यदि एक साथ रहने को कहा जाय, तो यह बाधित सम्पर्क का उदाहरण होगा। समाज मनोवैज्ञानिकों ने ऐसे अनेक अध्ययन किये हैं जिसमें देखा गया है कि बाधित सम्पर्क में व्यक्तियों को एक-दूसरे को समझने का मौका गहन रूप से मिलता है। फलस्वरूप

एक दूसरे के प्रति उनकी अभिवृत्ति में धीरे-धीरे अपने आप ही परिवर्तन आने लगता है। बाधित सम्पर्क से वर्तमान अभिवृत्ति में संगत परिवर्तन तथा असंगत परिवर्तन दोनों ही हो सकते हैं। ब्राह्मण को हरिजनों के साथ रहने पर संभव है कि उसकी अभिवृत्ति नकारात्मक से बदलकर सकारात्मक हो जाए या संभव है कि नकारात्मक से और अधिक नकारात्मक हो जाय।

द्वितीय विश्वयुद्ध में अमेरिकी सैनिक के शोध विभाग द्वारा एक अध्ययन किया गया जिसमें गोरे सैनिकों तथा श्याम सैनिकों को एक साथ, एक ही दल में रहकर दुश्मनों का सामना करना था। शोध विभाग द्वारा सर्वे के अनुसार अधिकतर गोरे सैनिक एवं दो तिहाई गोरे सैनिक के पदाधिकारियों ने पहले इस ढंग से दल कायम करने के प्रति नकारात्मक अभिवृत्ति व्यक्त की। परन्तु दो महीने के बाद दूसरा सर्वे करने पर देखा गया कि 77 प्रतिशत सैनिकों एवं पदाधिकारियों की अभिवृत्ति नकारात्मक से बदलकर सकारात्मक हो गयी थी। डियूश एवं कोलिन्स ने एक अध्ययन किया जिसमें आवासीय योजना में बाधित सम्पर्क का, अभिवृत्ति परिवर्तन पर प्रभाव देखा गया। इस अध्ययन में दो तरह की आवासीय योजना सम्मिलित की गयी-पृथक आवासीय योजना तथा संगठित आवासीय योजना। पृथक आवासीय योजना में गोरी गृहपत्नियां एवं श्याम (या निग्रो) गृहपत्नियां अलग-अलग मकान में रहा करती थीं जबकि संगठित अवासीय योजना में वे दोनों तरह की पत्नियां एक ही मकान में एक साथ रहा करती थी। कुछ दिनों के बाद दोनों तरह की आवासीय योजनाओं में रहने वाली गोरी पत्नियों की अभिवृत्ति (श्याम पत्नियों के प्रति) मापी गयी। परिणाम में देखा गया कि संगठित आवायीय योजना में रहने वाली गोरी गृहपत्नियां की अभिवृत्ति पृथक आवासीय योजना में रहने वाली गोरी गृहपत्नियों की अभिवृत्ति की तुलना में काफी परिवर्तित थी। संगठित आवासीय योजना की 95 प्रतिशत गोरी गृहपत्नियों की अभिवृत्ति निग्रो या श्याम पत्नियों के प्रति अनुकूल पायी गयी जबकि पृथक आवासीय योजना के मात्र 25 प्रतिशत गोरी पत्नियों की अभिवृत्ति निग्रो पत्नियों के प्रति सौहार्दपूर्ण पायी गयी। इसी तरह के अन्य कई अध्ययनों में भी ऐसा ही परिणाम पाया गया। हार्डिग तथा हागरेफे ने एक अध्ययन किया जिसमें एक ही नौकरी में एक ही तरह के पद पर गोरे कर्मचारी तथा निग्रो कर्मचारी साथ-साथ काम करते थे। इन प्रयोगकर्त्ताओं ने निग्रो कर्मचारियों के प्रति गोरे कर्मचारियों की अभिवृत्ति मापने पर पाया कि गोरे कर्मचारियों को निग्रो कर्मचारियों के साथ काम करने में किसी प्रकार की हिचकिचाहट या अन्य किसी तरह का प्रतिबंध या शर्त नहीं था। स्पष्ट है कि गोरे कर्मचारियों की अभिवृत्ति (जो निग्रो के प्रति सामान्यत: नकारात्मक होती है) परिवर्तित थी। इसी तरह का एक अध्ययन मुसेन द्वारा भी किया गया जिसमें यह पाया गया कि एक गर्मी ऋतु के कैम्प में चार सप्ताह तक एक साथ रहने के कारण 73 प्रतिशत गोरे बच्चों की नकारात्मक अभिवृत्ति निग्रो बच्चों के प्रति कम हो गयी।

उपर्युक्त अध्ययनों से यह स्पष्ट हो जाता है कि बाधित सम्पर्क स्थापित किये जाने पर विभिन्न समूहों या जातियों को एक दूसरे को समझने का मौका अधिक मिलता है। फलस्वरूप उनके मन में पहले से चली आ रही गलतफहमियां दूर हो जाती हैं और व्यक्ति अपनी अभिवृत्ति परिवर्तित कर लेता है।

3.5.6 अपेक्षित भूमिका-निर्वाह- कभी-कभी ऐसा होता है कि व्यक्ति कुछ ऐसी क्रियाएं या व्यवहार लोगों के सामने करता है, जिसे वह नहीं करना चाहता। क्योंकि ऐसी क्रियाएं उसकी निजी अभिवृत्ति के विपरीत होती हैं। ऐसा पाया गया कि इस तरह की भूमिका करते-करते व्यक्ति की निजी अभिवृत्ति परिवर्तित होकर किये गये व्यवहार के अनुकूल हो जाती है, अर्थात् वह आम अभिवृत्ति के समान हो जाती है। कल्बर्टसन ने एक प्रयोग किया जिसमें पाया कि भूमिका-निर्वाह के कारण निग्रो के प्रति

प्रयोज्य की सामान्य अभिवृत्ति तथा निग्रो-गोरे आवासीय संगठन के प्रति प्रयोज्यों की विशिष्ट अभिवृत्ति में क्रमशः 76.1 तथा 76.7 प्रतिशत धनात्मक परिवर्तन हुआ। इतना ही नहीं भूमिका-निर्वाह का प्रभाव भूमिका करने वाले के अलावा भूमिका देखने वाले की अभिवृत्ति में क्रमशः 56.8 तथा 42.9 प्रतिशत परिवर्तन हुआ। जैनिस तथा किंग ने भी अपने अध्ययनों में इसी ढंग का तथ्य पाया। इन लोगों ने भूमिका-निर्वाह के प्रभाव के कारण अभिवृत्ति में होने वाले परिवर्तन की व्याख्या करने के लिए दो प्राक्कल्पनाएं भी बनायी हैं-आशुक्रिया प्राक्कल्पना तथा संतोष प्राक्कल्पना। आशुक्रिया प्राक्कल्पना के अनुसार भूमिका-निर्वाह से अभिवृत्ति में परिवर्तन इसलिए आता है क्योंकि वह दूसरों को अपने द्वारा व्यक्त किये विचारों को स्वीकार कराये जाने के लिए दिये गये तर्कों से स्वयं ही काफी उत्तेजित एवं प्रभावित हो जाता है। संतोष प्राक्कल्पना के अनुसार भूमिका-निर्वाहक अभिवृत्ति में परिवर्तन इसलिए आता है क्योंकि उसे भूमिका करने से एक संतोष होता है, जिससे भूमिका से व्यक्त किया गया मत अपने-आप ही प्रकट होता है और फलस्वरूप, वह उसी के अनुसार अपनी अभिवृत्ति में परिवर्तन कर लेता है। किंग एवं जैनिस ने अपने अध्ययनों में इन दोनों तरह की प्राक्कल्पनाओं द्वारा अभिवृत्ति परिवर्तन की व्याख्या की पुष्टि किया है।

3.5.7 व्यक्तित्व परिवर्तन प्रविधियां- कुछ समाज मनोवैज्ञानिकों ने व्यक्तियों के व्यक्तित्व में परिवर्तन लाकर उनकी अभिवृत्तियों में परिवर्तन लाने की कोशिश की है। मनोवैज्ञानिकों का यह भी दावा है कि व्यक्तित्व संरचना में परिवर्तन लाने से व्यक्ति की अभिवृत्ति में होने वाला परिवर्तन अपेक्षाकृत अधिक स्थायी होता है। एक्सलाईन द्वारा किये गये अध्ययन से उपर्युक्त तथ्यों को पूर्ण समर्थन मिलता है। इस अध्ययन में सात वर्षीय कुछ ऐसे गोरे समस्यात्मक बच्चों को लिया गया जो प्रजातीय अभिवृत्तियों से काफी पीड़ित थे अर्थात् ऐसे बच्चे निग्रो बच्चों के प्रति या तो काफी आक्रामक थे या काफी असामाजिक व्यवहार करते थे। गोरे बच्चों के व्यक्तित्व में खेल चिकित्सा द्वारा परिवर्तन लाया गया जिसके बाद यह भी देखा गया कि निग्रो बच्चों के प्रति उनकी उदारता एवं प्रेम बढ़ गया। काज तथा उनके सहयोगियों ने भी एक अध्ययन किया जिसमें निग्रो के प्रति अभिवृत्ति परिवर्तन के लिए तथ्यपूर्ण-सूचना अपील तथा आत्म-सूझ विधि का तुलनात्मक अध्ययन किया गया और उन्होंने पाया कि निग्रो बच्चों के प्रति गोरे प्रयोज्यों की प्रतिकूल अभिवृत्ति में तथ्यपूर्णसूचना अपील विधि द्वारा कोई परिवर्तन नहीं हुआ परन्तु आत्म-सूझ विधि द्वारा विशेषकर वैसे गोरे व्यक्तियों की अभिवृत्ति में परिवर्तन हुआ जिसमें आत्म-रक्षात्मकता का शीलगुण कम था। इन अध्ययनों से यह स्पष्ट है कि व्यक्तित्व परिवर्तन द्वारा भी व्यक्ति की अभिवृत्ति में परिवर्तन होता है।

3.5.8 सांस्कृतिक कारक- प्रत्येक समाज की एक संस्कृति होती है जिसमें व्यक्ति का व्यक्तित्व विकसित होता है। संस्कृति के मूल्यों, मानदण्डों आदि में परिवर्तन होने से व्यक्ति में पहले से चली आ रही अभिवृत्ति परिवर्तित होकर बदले हुए सांस्कृतिक मूल्यों एवं मानदण्डों के अनुसार विकसित हो जाती है। आधुनिक शिक्षा के कारण भारतीय समाज में सांस्कृतिक मूल्यों में काफी परिवर्तन आया है। यही कारण है कि आजकल एक औसत भारतीय की अभिवृत्ति हरिजनों के प्रति, औरतों द्वारा नौकरी किये जाने के प्रति, अन्य सामाजिक समस्याओं के प्रति अब उतनी नकारात्मक नहीं रह गयी है जितनी कि 30-40 वर्ष पहले थी। फैल्डमैन तथा मेयर्स ने अपने अध्ययनों में पाया कि भिन्न-भिन्न संस्कृति में पले व्यक्तियों की अभिवृत्ति एक ही तरह की सामाजिक समस्या के प्रति एक समान नहीं होती है और इस सांस्कृतिक विभिन्नता के कारण उनकी अभिवृत्तियों में परिवर्तन का प्रयास भी एक समान का परिणाम नहीं देता है। एक खास संस्कृति में पले व्यक्तियों की अभिवृत्ति में किसी सामाजिक समस्या के प्रति अभिवृत्ति में परिवर्तन करना आसान हो जाता है तो दूसरी संसकृति में पले व्यक्तियों की अभिवृत्ति में

उसी सामाजिक समस्या के प्रति अभिवृत्ति में परिवर्तन करना कठिन हो जाता है। मेयर्स ने अपने अध्ययनों में पाया कि यहूदी छात्रों में ईश्वर, युद्ध तथा संतति-नियमन के प्रति अभिवृत्ति में आसानी से परिवर्तन लाया जा सकता था परन्तु कैथोलिक या ईसाई छात्रों में इन सब विषयों के प्रति अभिवृत्ति में परिवर्तन लाना एक दुष्कर कार्य था।

3.5.9 प्रचार- अभिवृत्ति परिवर्तन में प्रचार का महत्त्व सर्वविदित है। रेडियो, सिनेमा, दूरदर्शन तथा समाचार पत्र आधुनिक युग में प्रचार के प्रमुख साधन हैं। साधनों का उपयोग सरकार तथा विज्ञापनकार दोनों ही व्यक्तियों की अभिवृत्ति में परिवर्तन लाने के लिए करते हैं। प्रचार का रूप लिखित अथवा मौखिक तथा प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष कुछ भी हो सकता है। अभिवृत्ति परिवर्तन में लिखित प्रचार की अपेक्षा मौखिक प्रचार तथा अप्रत्यक्ष प्रचार की अपेक्षा प्रत्यक्ष प्रचार अधिक प्रभावकारी सिद्ध हुआ है। भारत सरकार अनेक महत्त्वपूर्ण सामाजिक समस्याओं जैसे वयस्क शिक्षा, दहेज-प्रथा, परिवार कल्याण या परिवार नियोजन, हरिजन एवं पिछड़ी जातियों की समस्याएं आदि के प्रति विभिन्न तरह के प्रचार द्वारा जनता की अभिवृत्ति में वांछित दिशा में काफी हद तक परिवर्तन करने में सफल हो सकी है। मेयर्स तथा बेरोन एवं बर्न ने अपने प्रयोगात्मक अध्ययन के आधार पर यह स्पष्ट किया है कि प्रचार, व्यक्तियों की अभिवृत्ति के परिवर्तन में उस परिस्थिति में सबसे अधिक प्रभावकारी होता है जब लोग प्रचारक को विश्वासी एवं निर्भरयोग्य समझते हों तथा उसके द्वारा किये गये प्रचार के खिलाफ में दूसरा विरोधी प्रचार न हो।

उपर्युक्त विवरण से यह स्पष्ट है कि अभिवृत्ति परिवर्तन बहुत कारकों द्वारा निर्धारित होता है। इन सभी कारकों में से प्रभावी या विश्वासोत्पादक संचारण समाज मनोवैज्ञानिकों द्वारा सबसे महत्त्वपूर्ण कारक बतलाया गया है। चूंकि अभिवृत्ति परिवर्तन में अनेकों कारकों का योगदान होता है, इसलिए इसे क्रेच, क्रचकिल्ड एवं वैलेची ने 'बहु निर्धारित' कारक कहा है।

3.6 अभिवृत्ति परिवर्तन की विधियाँ-हाल ही के वर्षो में, अभिवृत्तियों में परिवर्तन लाने की विधियों के निर्धारण हेतु परीक्षण किए गए हैं। अभिवृत्तियों में परिवर्तन के लिए निम्नांकित विधियां काम में लाई जाती हैं-

3.6.1 व्यक्ति को बाह्य प्रभाव में रखकर- इसमें व्यक्तियों को बाह्य प्रभाव में रखकर, उनमें होने वाले परिवर्तनों का अध्ययन कर अभिवृत्ति परीक्षण लिया जाता है। किसी विषय विशेष के प्रति उनकी अभिवृत्ति का माप लिया जाता है। उदाहरणार्थ, लोगों के एक समूह की हरिजनों के प्रति अभिवृत्ति का परीक्षण लिया जा सकता है। इसके पश्चात् सारे समूह को एक प्रकार का विशेष अनुभव कराया जाएगा-जै हरिजन सेवक संघ के किसी नेता को हरिजन समस्या पर भाषण देने ` लिए बुलाया जा सकता है तथा हरिजन सेवक संघ द्वारा हरिजनों का जीवन-स्तर उन्नत करने के लिए किए गए प्रयत्नों के सम्बन्ध में या किसी चलचित्र द्वारा हरिजन ग्राम की दशा, उसकी धूल, उसकी गंदगी, उसकी दरिद्रता और उन निम्न स्थितियों को दिखाया जा सकता है, जिनमें हरिजन रहते हैं तथा हरिजनोत्थान, उनकी शिक्षा, घरों की दशा में सुधार, कार्य करने की स्थितियां, अन्य समूह के लोगों के साथ सामाजिक सम्बन्धों आदि को प्रदर्शित भी किया जा सकता है। समूह को एक विशेष प्रकार का अनुभव या कई प्रकार के अनुभव कराने के बाद, पुनः एक अभिवृत्ति-परीक्षण किया जा सकता है। यदि इन दोनों परीक्षणों की माप में कोई अंतर पाया गया, तो उससे अभिवृत्ति में परिवर्तन के बारे में अनुभव के प्रभाव का पता चलेगा। उदाहरणार्थ, किसी क्षेत्र विशेष में विनोबा जी के प्रवेश के पूर्व भूदान आंदोलन के प्रति वहां के लोगों की अभिवृत्ति का अध्ययन किया गया है। विनोबा जी द्वारा क्षेत्र के भ्रमण कर

लेने के बाद, पुनः अभिवृत्ति-परीक्षण लिया जा सकता है। इससे पता चला कि किस सीमा तक विनोबा जी का व्यक्तित्व, उनके भाषण, तथा भूदान कार्यकर्त्ताओं के सम्पर्क द्वारा वहां के लोगों में भूदान आंदोलन के प्रति परिवर्तन आया।

3.6.2 अन्योन्य क्रिया- जिन परिस्थितियों के अंतर्गत अभिवृत्ति में परिवर्तन आता है, उनको अध्ययन करने की दूसरी विधि का नाम है-अन्योन्यक्रिया प्रविधि। इसके अनुसार व्यक्ति को ऐसे सामाजिक परिवेश में रखा जाता है जहां उसे अन्य व्यक्तियों के साथ अन्योन्यक्रिया करने का अवसर मिलता है। इस प्रविधि के प्रयोग में सर्वाधिक प्रभावशील खोज न्यूकोंब की बेनिंगटन विधि है। बेनिंगटन कॉलेज संयुक्त राष्ट्र अमेरिका में स्त्रियों का एक छोटा विद्यालय था जिसमें लगभग 250 छात्राएं अध्ययनरत थी। यह एकान्त स्थान में स्थित है। फलतः छात्राएं नगर के सामान्य वातावरण का अनुभव नहीं कर पातीं। विश्वविद्यालय के अधिकारीगण तथा अध्यापक लोग सामाजिक तथा आर्थिक समस्याओं के प्रति उदारमना हैं। इस कॉलेज के आदर्शों में एक आदर्श यह रहा कि विद्यार्थी को सामाजिक समस्याओं के प्रति जागरूक किया जाए। इसकी छात्राएं नगर के आर्थिक दृष्टि से सुसम्पन्न परिवारों से आई हैं। अतः कुछ सामाजिक तथा राजनैतिक समस्याओं के प्रति उनकी अभिवृत्ति सामान्य रूप से रूढ़िवादी रहती थी। न्यूकोंब ने विद्यमान सामाजिक समस्याओं के प्रति अभिवृत्तियों का अध्ययन करने के लिए प्रतिवर्ष छात्रो की जांच की। उसने साक्षात्कार लेने की प्रविधि का भी प्रयोग किया। इन समस्याओं में बेकारी, जन सहायता, श्रम संगठन आदि समस्याएं थी। ये अध्ययन 1930 के मंदी के वर्षो में किए गए थे। न्यूकोंब ने देखा कि छात्राओं का बहुमत इन समस्याओं के प्रति रूढ़िवादी रुख को छोड़कर उदार रुख वाला हो गया, यह पाया गया कि जो छात्राएं बहुत अधिक उदार थीं, उन्होंने ही प्रतिष्ठा तथा नेतृत्व का उपार्जन किया। इन विद्यमान समस्याओं से सम्बन्धित अभिवृत्तियों में जो अंतर देखे गए, वे सांख्यिकीय दृष्टि से ही थे। लेकिन इसके साथ यह भी देखने में आया कि कुछ छात्राएं ऐसी भी थीं जिनमें समुचित परिवर्तन नहीं आया। इसके पश्चात् कुछ छात्राएं ऐसी भी पाई गयीं जिन्होंने परिवर्तन का प्रतिरोध किया। न्यूकोंब का कथन है कि छात्राओं की बड़ी संख्या में परिवर्तनों की व्याख्या तथा थोड़ी छात्राओं में परिवर्तन के प्रति प्रतिरोध की व्याख्या, संदर्भ-समूह की संकल्पना के प्रसंग द्वारा की जा सकती है। जैसाकि स्पष्ट है कि प्रत्येक समूह के अपने प्रतिमान होते हैं, अपने ढंग की प्रस्थितियां होती है तथा अपने ही ढंग की भूमिका-संरचनाएं होती हैं। व्यक्ति अपने समूह के व्याप्त प्रतिमानों से अपनी अभिवृत्तियों का निर्माण करता है। जिस बड़ी संख्या में छात्राओं की अभिवृत्तियां रूढ़िवादिता से उदारता में परिणत हो गईं, उनके लिए विद्यालय एक संदर्भ-समूह बन गया। दूसरी ओर, जिन्होंने परिवर्तन का प्रतिरोध किया, उनके लिए उनके परिवार ही 'संदर्भ-समूह' बने रहे तथा उन पर प्रभाव डालते रहे हैं। दूसरे शब्दों में इन लोगों के लिए विद्यालय-समुदाय, संदर्भ-समूह नहीं बना। फलतः विद्यालय के भीतर माने जाने वाले प्रतिमानों ने उनकी अभिवृत्तियों को प्रभावित नहीं किया। अतः न्यूकोंब के अध्ययन सेयह पता चला है कि व्यक्ति में अभिवृत्ति परिवर्तन कैसे होता है। उन्होंने यह भी जानने का प्रयत्न किया कि विद्यालय-समुदाय बहुत से व्यक्तियों के लिए संदर्भ-समूह क्यों बन गया और अन्य लोगों के लिए संदर्भ-समूह क्यों नहीं बन सका। उन्होंने देखा कि छात्राओं की बड़ी संख्या के लिए विद्यालय समुदाय, प्रभावशाली सिद्ध हुआ क्योंकि इससे उनमें सम्बन्ध, प्रस्थिति तथा उपलब्धि की भावना का उदय हुआ। इस प्रकार छात्राओं ने बतलाय कि वे ''विद्यालय-समिति के मामलों में घुलमिल गए है'' एवं ''सामुदायिक प्रत्याशाओं द्वारा प्रभावित हुए है।'' इसके बाद यह देखने में आया कि इन छात्राओं में से कुछ के घरों एवं परिवारों के आदर्शों में संघर्ष रहता है। एक लड़की ने कहा, ''विद्या-विभाग के विरूद्ध परिवार मेरे लिए संघर्ष का विषय रहा है।'' अतः अभिवृत्ति-परिवर्तन सम्बन्धी वैयक्तिक

विभिन्नताओं के सम्यक् अध्ययन में प्रत्येक व्यक्ति, उसका निजी इतिहास तथा अनौपचारिक दलों आदि का अध्ययन भी सन्निहित रहता है, जिनसे उसका व्यक्तिगत सम्बन्ध होता है।

3.6.3 समूह-परिचर्चा तथा समूह-निर्णय-कुर्ट लेविन के प्रयोगात्मक कार्य का सबसे बड़ा गुण था उसके द्वारा तैयार किया अभिकल्प तथा प्रोग्राम, जिसे इस विषय के अध्ययन के लिए बनाया गया था। द्वितीय विश्वयुद्ध के दौरान लोगों की खाने की आदतों में परिवर्तन लाने के लिए इसका प्रयोग किया गया था। खाद्य-पदार्थों की कुछ किस्में काफी पोषक थीं लेकिन अमरीकी लोग उनका इस्तेमाल नहीं करते थे। लेविन ने छः रेडक्रास समूहों के स्वयंसेवकों पर अपने प्रयोग किए। प्रत्येक समूह में 13 से 17 तक व्यक्ति थे। तीन समूहों के लिए 'भाषण-पद्धति' तथा अन्य तीन समूहों के लिए 'परिचर्चा पद्धति' का प्रयोग किया गया। दोनों पद्धतियों में एक समय अर्थात् 45 मिनट दिए गए। भाषण-पद्धति द्वारा अप्रयुक्त खाद्य-पदार्थों के पोषक तत्त्वों का सविस्तार वर्णन किया गया। स्वयंसेवकों को बताया गया कि ये पदार्थ कितने लाभदायक हैं; उन्हें इन खाद्यों का सेवन करने के लिए प्रोत्साहित किया गया ताकि वे युद्ध-कार्यों के लिए कुछ मांस बचा सकें। इन अप्रयुक्त खाद्य-पदार्थों को तैयार करने के नुस्खों की प्रतिलिपियां भी वितरित की गयीं। परिचर्चा वाले दूसरे समूहों में यह बात समस्या के रूप में प्रस्तुत की गई। भाग लेने वालों से परिचर्चा के लिए कहा गया कि गृहिणियों को भोजन की आदतें बदलने के लिए किस प्रकार से प्रेरित किया जाए ताकि युद्ध-कार्यों में सहायता मिल सके और आम-जनता के स्वास्थ्य में भी प्रगति हो। नए खाद्य पदार्थों के प्रयोग में जो बाधाएं आईं और परिवार जिन बातों का विरोध करते थे, परिचर्चा पद्धति द्वारा उन्हें हल कर लिया गया। तदुपरांत पोषण-विशेषज्ञ ने नुस्खे दिए। अंत में समूह से निर्णय प्राप्त किया गया। कुछ दिनों के बाद इस बात की जांच की गई कि कितने व्यक्तियों ने नए खाद्य पदार्थों को अपने भोजन में शामिल किया। परिणामस्वरूप यह देखने में आया कि जहां भाषण-समूह के 3 प्रतिशत लोगों ने नए खाद्य-पदार्थों को अपने भोजन का अंग बनाया वहां परिचर्चा-समूह के 32 प्रतिशत लोगों ने ऐसा किया। इस तरह इस परीक्षण से दो महत्त्वपूर्ण पक्ष सामने आए। एक तो यह कि अभिवृत्ति तथा व्यवहार में परिवर्तन लाने के लिए भाषण-पद्धति की अपेक्षा परिचर्चा प्रणाली अधिक अच्छी है। दूसरी यह कि चाहे किसी भी प्रविधि को काम में लाया जाए लेकिन समूह के कुछ लोग ऐसे अवश्य होंगे जिन्हें बदलना संभव नहीं है।

अभिवृत्ति तथा व्यवहार-परिवर्तन के अन्य अध्ययनों के लिए यह प्रयोग, एक नमूना सिद्ध हुआ। पहले प्रयोग में एक कमी यह थी कि दो भिन्न-भिन्न व्यक्ति दो भिन्न-भिन्न समूहों में नेता बनाए गए थे। फलतः, दूसरे प्रयोग में वही एक ही व्यक्ति जो कि भाषण-समूह का नेता बनाया गया था, परिचर्चा-समूह का नेता बनाया गया। इस प्रयोग में सभी गृहिणियां थीं। प्रत्येक सत्र के, प्रत्येक समूह में 6 से 9 तक व्यक्ति थे। दो बार जांच की गई-पहली दो सप्ताह के बाद, तथा दूसरी चार सप्ताह के अंतराल के बाद। पुनः परिचर्चा-समूह निश्चित रूप से अधिक अनुक्रियाशील पाया गया। यह भी देखा गया कि परिचर्चा-समूह में जो परिवर्तन आया वह अधिक टिकाऊ रहा। लेनिन तथा बटलर ने इन परिणामों को एक औद्योगिक-योजना के अध्ययन द्वारा पुष्ट किया। इस कारखाने में 29 पर्यवेक्षक थे। उन्होंने उच्च पदों वाले लोगों का अधिमूल्यांकन तथा निम्न पदों वाले लोगों का निम्न मूल्यांकन किया था। समस्या थी उनकी अभिवृत्तियों के परिवर्तन की, ताकि उनमें उन लोगों के पक्ष या विपक्ष में कोई पूर्वाग्रह न हो, जिनका वे प्रतिनिधित्व करते हैं। इन पर्यवेक्षकों के तीन समूह बनाए गए, जिनमें एक समूह पर भाषण प्रविधि आजमाई गई। उन्हें बताया गया कि मूल्यांकन में त्रुटियों को कैसे दूर किया जा सकता है। दूसरे समूह को समस्या पर परिचर्चा करके सामूहिक निर्णय करने के लिए कहा गया; जबकि

तीसरा समूह नियंत्रण-समूह के रूप में कार्य करता रहा। यह देखा गया कि अन्य दो समूहों की अपेक्षा परिचर्चा-समूह में उल्लेखनीय सुधार हुआ है।

उपर्युक्त प्रयोगों से यह स्पष्ट है कि भाषण-समूह की अपेक्षा परिचर्चा-समूह में सक्रिय सहयोग द्वारा व्यक्ति की अभिवृत्ति तथा व्यवहार में अधिक प्रभावशाली ढंग से परिवर्तन लाया जा सकता है। जब व्यक्ति सक्रिय सहभागिता से किसी विषय पर बात करते हैं तो वे व्यक्तिगत रूप से उसके प्रति अनुरक्त रहते हैं। इसके बाद, व्यक्तिगत निश्चय की अपेक्षा समूह-निर्णय, अधिक अनिवार्य रूप से पालनीय होते हैं। शेरिफ का कथन है, ''अभिवृत्ति में महत्त्वपूर्ण परिवर्तन लाने के लिए कठिन समस्या यह है कि विचाराधीन विषय में वैयक्तिक अहंमान्यता को सन्निहित किया जाए। वैयक्तिक अहंमान्यता को सन्निहित करने का अभिप्राय है अहम्-अभिवृत्तियों को उकसाना। ऐसा वैयक्तिक आवेष्टन सामाजिक परस्पर क्रिया की प्रक्रिया के आदान-प्रदान द्वारा बढ़ता है। केवल सूचनाया तर्क अभिवृत्ति को बदलता है तो ''वह समूह के चिरकालीन सम्बन्धों की सुरक्षा से टूटकर अलग हो सकता है।''

स्पष्ट है कि यदि व्यक्ति को अपनी अभिवृत्ति में भी परिवर्तन करना पड़े, तो भी वह समूह-प्रतिमानों से ही उनमें कोई परिवर्तन करता है। इसका अभिप्राय यह है कि वह एक सीमा तक समूह-प्रतिमानों से दूर हट रहा है। यह कोई सरल कार्य नहीं है। यह समाजीकरण के विपरीत है। दूसरी ओर जब कोई व्यक्ति समूह में बैठकर किसी समस्या पर परिचर्चा करता है, तब वह परिवर्तन के पक्ष में अपने विचारों को निस्संकोच प्रकट कर सकता है। जब समूह में अनेक व्यक्ति परिवर्तन के लाभों का संकेत करते हैं, तब समूचे समूह में परिवर्तन आता है। जब समूह बदलता है तो समूह-प्रतिमान बदलते हैं। इससे व्यक्ति प्रभावित होता है और परिवर्तन को संबल मिलता है। तत्पश्चात् जैसाकि समूह का नया प्रतिमान व्यक्ति का स्वायत्त-प्रतिमान बन जाता है। शेरिफ के प्रयोगात्मक कार्य से यह स्पष्ट हुआ है कि व्यक्ति चाहे समूह में हो अथवा अकेला, किन्तु उसका व्यवहार नये ढंग का ही होगा। बाद में, यदि कोई सदस्य व्यक्ति ऐसे नव-निर्मित प्रतिमान से अलग हटता है, तो वह ऐसा अनुभव करता है जैसे वह अपने स्वयं के मूल्यों को भंग कर रहा है, क्योंकि वह अब इन सामाजिक मूल्यों को अपने व्यक्तित्व का अंग बना चुका होता है। इस प्रकार ''समूह-निर्णय में व्यक्ति की अहंमान्यता की से अभिवृत्ति और व्यवहार में प्रभावशाली परिवर्तन घटित होता है।''।

कोथुर्कर ने हाईस्कूल के छात्रों में जातीय-अभिवृत्ति की कठोरता को कम करने के लिए अन्वेषण कार्य किया। उसने निम्न तीन पद्धतियां अपनाई-

- भारत की विभिन्न जातियों तथा समुदायों की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि का व्यवस्थित तथा तर्कसंगत लेखा-जोखा।
- विभिन्न समूहों की विशेषताओं को ध्यान में रखने, और देश के निर्माण में उन समूहों के योगदान को ध्यान में रखने के लिए भावनात्मक अपील।
- परिचर्चा प्रविधि।

कोथुर्कर की प्राक्कल्पना थी कि अभिवृत्ति में परिवर्तन लाने के लिए तर्कसंगत या भावनात्मक उपागम की अपेक्षा परिचर्चा पद्धति अधिक प्रभावपूर्ण होती है। फिर भी, सांख्यिकीय दृष्टि से विशेष महत्त्वपूर्ण परिणाम नहीं पाए गए। गार्डनर मर्फी का दावा है कि भावनात्मक अपील इसलिए अधिक प्रभावकारी हो सकती है क्योंकि अनुदेशक समूह को उद्बोधन द्वारा प्रेरित करता है। दूसरी ओर, शेरिफ का दृढ़ निश्चय था कि सांस्कृतिक-विभिन्नताएं ही इसका कारण है। उसका कथन है कि जिन समुदायों

में समाजीकरण की प्रक्रिया प्राधिकार पर निर्भर रहने को बाध्य करती है, उनमें परिचर्चा-प्रविधि प्रभावशाली नहीं हो सकती। शेरिफ ने एक प्रकाशित रिपोर्ट को उद्धृत किया, जिसमें लिखा है कि द्वितीय विश्वयुद्ध के तुरंत बाद जर्मनी युवकों में एक प्रत्याशा प्रस्फुटित हुई कि उनमें से किसी को आगे आकर भावी कार्यक्रम की रूपरेखा तैयार करनी चाहिए। कोथुर्कर ने लिखा कि ''परिणामों का जो भी महत्त्व हो, मै अपने प्रयोगों के मुख्य निष्कर्ष की प्रामाणिकता से सहमत हूं क्योंकि जहां तक इन लड़कों का सम्बन्ध था, उनकी अभिवृत्तियों को तथ्यों के आधार पर या परिचर्चा प्रणाली द्वारा बदलने की अपेक्षा अन्य समूहों के प्रति आदर और श्रद्धा के वातावरण द्वारा भावनात्मक उपागम अधिक अच्छी पद्धति सिद्ध हुई। हमारी मूल प्रत्याशाओं एवं प्राक्कल्पनाओं के विपरीत, ये युवक परिचर्चा-प्रविधि द्वारा अपने सामाजिक सम्बन्धों को सुधारने के लिए स्वयं को अनुकूल स्थिति में नहीं पा सके। क्या यह स्थिति इस बात का संकेत करती है कि हमारे बालकों की परिचर्चा के प्रजातांत्रिक तरीके अपनाने पड़ेंगे और इस समय वे यह बात ज्यादा पसंद करते हैं कि सही अभिवृत्तियों की चर्चा करने की बजाय उन्हें यह साफ बता दिया जाए कि सही अभिवृत्तियां कौन-सी हैं'।

यह कहा जा सकता है कि कोथुर्कर और शेरिफ दोनों की युक्तियों में कुछ सत्यता है। यह संभव है कि सांस्कृतिक विभिन्नताओं की स्थिति में परिचर्चा प्रविधि अन्य प्रविधियों की अपेक्षा उत्कृष्ट नहीं होती। लेकिन यह बात भी ध्यान देने योग्य है कि जिन समूहों में परिचर्चा प्रविधि का प्रयोग किया जाता हो उनमें यह बहुत प्रभावकारी हो सकती है। पुन: यह भी समझ लेना चाहिए कि पूना-अध्ययन के जो परिणाम प्राप्त हुए उनके परिचर्चा-प्रविधि तथा भावनात्मक अपील प्रविधि वाले परिणामों में कोई खास अंतर देखने को नहीं मिला। संभवत: मूलभूत बात अहंमान्यता की है। इस विशिष्ट मामले में भावनात्मक अपील अहंमन्यता को शामिल करके परिचर्चा प्रविधि की भांति ही अधिक प्रभावकारी सिद्ध हुई।

3.7 अभिवृत्ति परिवर्तन कब कठिन हो जाता है-दिन-प्रतिदिन के जीवन में हमारी अभिवृत्तियों को परिवर्तन करने के लिए अनेक तरह के प्रभावी संचारण किये जाते हैं। प्रभावी संचारण अभिवृत्ति परिवर्तन का सबसे महत्त्वपूर्ण कारक है। अनेक तरह के प्रभावी संचरण के बावजूद भी हमारी अभिवृत्ति में तुरंत परिवर्तन नहीं होता है। किसी समस्या या विषय के प्रति प्राय: हम एक स्थिर अभिवृत्ति कुछ समय तक अवश्य ही बना कर रखते हैं। अत: प्रश्न यह उठता है कि अभिवृत्ति परिवर्तन में स्थिरता क्यों आती है? अनेक तरह के प्रभावी संचरण के बावजूद भी हम किसी समस्या या विषय के प्रति एक स्थिर अभिवृत्ति बनाकर क्यों रखते हैं? समाज मनोवैज्ञानिकों द्वारा इस विषय पर हाल के वर्षों में काफी शोध एवं प्रयोग किऐ गये हैं। इन शोधों एवं प्रयोगों के आधार पर इन लोगों ने निम्नांकित तीन कारकों को अभिवृत्ति परिवर्तन में सबसे प्रमुख बाधक कारक माना है-प्रतिघात, पूर्वचेतावनी एवं अभिवृत्ति टीका। इन कारकों का वर्णन इस प्रकार है-

3.7.1 प्रतिघात- जब कोई व्यक्ति अपने विचार या मत को स्वीकार कराने के ख्याल से किसी दूसरे व्यक्ति पर अधिक बल डालता है तो प्राय: देखा जाता है कि दूसरा व्यक्ति उनके द्वारा बताये गये विचारों का ठीक विपरीत विचार या मत बना लेने की ठान लेता है। इसे ही समाज मनोविज्ञान में प्रतिघात की संज्ञा दी जाती है। प्रतिघात की परिस्थिति में संचारक द्वारा बताई गई दिशा में व्यक्ति की अभिवृत्ति में परिवर्तन नहीं होता है। समाज मनोवैज्ञानिकों के अनुसार प्रतिघात की स्थिति में वांछित दिशा में अभिवृत्ति में परिवर्तन इसलिए नहीं होता क्योंकि ऐसी स्थिति में व्यक्ति अपने विचारों की

व्यक्तिगत स्वतंत्रता खतरे में पाता है। व्यक्ति को ऐसा महसूस होता है कि संचारक अनावश्यक रूप से हमारे विचारों का गला घोंट कर, अपने विचारों को मान लेने के लिए बाध्य कर रहा है।

अत: संचारक द्वारा बताई गई दिशा के ठीक विपरीत दिशा में वह अपनी अभिवृत्ति बना लेता है। यही कारण है कि कुछ समाज मनोवैज्ञानिकों जैसे ब्रेह्म तथा रोडवाल्ड एवं डेविसन ने प्रतिघात को एक नकारात्मक अभिवृत्ति परिवर्तन की स्थिति कहा है। प्रतिघात का उदाहरण हमारे दैनिक जीवन में काफी मिलता है। जब कोई दुकानदार कोई विशेष कम्पनी का ही माल खरीदने पर अधिक बल डालता है तो प्राय: व्यक्ति सचेत होकर यह सोचने लगता है, ''आखिर बात क्या है, वह दूसरी कम्पनी के माल के बारे में कुछ नहीं कह रहा है। कम-से-कम अभी हमें उसकी बातों में नहीं आना चाहिए।''

3.7.2 पूर्व चेतावनी- कई समाज मनोवैज्ञानिकों का विचार है कि जब व्यक्ति किसी समस्या या विषय को महत्त्वपूर्ण समझता है और उसे पहले से किसी तरह यह पता चल जाता है कि अमुक सूचना या संचारण का उद्देश्य उनकी अभिवृत्ति मात्र में परिवर्तन करना है, तो वैसी सूचनाओं या संचारणों का प्रभाव व्यक्ति पर कम पड़ता है या यों कहें कि न के बराबर पड़ता है। इसे ही समाज मनोविज्ञान में पूर्व चेतावनी की संज्ञा दी गयी। आम समाज मनोवैज्ञानिकों का विचार है कि पूर्व चेतावनी से अभिवृत्ति परिवर्तन में काफी बाधा पहुंचती है। बरोन एवं बर्न ने टिप्पणी करते हुए ठीक ही कहा है, ''जब हम लोग यह जान लेते हैं कि कोई भाषण अभिलेखित संदेश या लिखित अपील हमारे विचारों को बदलने के लिए ही तैयार किया गया है, तो प्राय: इसेस हम लोग बहुत कम ही प्रभावित होते हैं।'' कुछ समाज मनोवैज्ञानिकों जैसे सियालडिनी एवं पेटी तथा पेटी एवं कैकिओपो ने अपने प्रयोगात्मक अध्ययनों से इस तथ्य की पुष्टि की है कि प्रभावी संचारण के उद्देश्य से पूर्व परिचित हो जाने पर व्यक्ति में अभिवृत्ति परिवर्तन न के बराबर होता है। ऊड के अनुसार पूर्वचेतावनी की स्थिति में व्यक्ति को अपनी स्मृति से वैसे तथ्यों को संग्रह कर लेने का समय अधिक मिल पाता है जिससे वह प्रभावी संचारण को गलत साबित कर सके। यही कारण है कि पूर्वचेतावनी की स्थिति में अभिवृत्ति परिवर्तन काफी कम होता है। इस तरह से पूर्वचेतावनी व्यक्ति को पहले से शस्त्र-सज्जित कर देती है ताकि वह अपनी अभिवृत्ति पर प्रभावी संचारण के पड़ने वाले प्रभाव को नाकामयाब कर दें।

3.7.3 अभिवृत्ति टीका- समाज अभिवृत्ति में अभिवृत्ति टीका का संप्रत्यय मैकगुरी द्वारा प्रतिपादित किया गया है। इनका विचार था कि जिस तरह से बच्चों को पोलियो, कुकुरखांसी आदि का टीका लगा देने से भविष्य में बच्चे, पोलियो तथा कुकुरखांसी के प्रभाव से मुक्त हो जाते हैं, ठीक उसी तरह से यदि किसी व्यक्ति की अपनी अभिवृत्ति के विपरीत विचारों से हल्के-फुल्के ढंग से यदि पहले से ही अवगत करा दिया तो बाद में उसकी अभिवृत्ति में परिवर्तन करने के लिए जो प्रभावी संचारण किया जाता है, उसका उसकी अभिवृत्ति पर कोई असर नहीं पड़ता है। ऐसा इसलिए होता है कि व्यक्ति को पहले से अपनी अभिवृत्ति के विपरीत विचारों द्वारा झटका या 'टीका' लगा दिया गया होता है। इससे उसमें ऐसे विचारों को सहने की शक्ति तीव्र हो जाती है। मैकगुरी ने इस तरह की मानसिक स्थिति को 'अभिवृत्ति टीका' की संज्ञा दी है। 'अभिवृत्ति टीका' की वैधता को दिखाने के लिए अनेक प्रयोग पहले किये गये हैं और आज भी किये जा रहे हैं। इन अध्ययनों में मैकगुरी तथा पापेजियार्गिस द्वारा किया गया अध्ययन काफी महत्त्वपूर्ण एवं प्रचलित है। इस अध्ययन में प्रयोज्यों के तीन समूह बनाये गये-सहायक रक्षा समूह, खण्डन रक्षा समूह तथा नियंत्रित समूह। सहायक रक्षा समूह के छात्रों को विभिन्न विषयों एवं समस्याओं से सम्बन्धित उनकी अभिवृत्ति के समर्थन में कुछ सूचनाएं दी गयीं। खण्डन रक्षा समूह के छात्रों को उन्हीं विषयों एवं समस्याओं से सम्बन्धित उनकी अभिवृत्ति के विपरीत

कुछ कमजोर तर्क दिये गये जिन्हें बाद में प्रयोगकर्त्ता द्वारा खण्डित किया गया। इस तरह से इस समूह को अपनी अभिवृत्ति के विपरीत विचारों द्वारा हल्का झटका नहीं दिया गया। नियंत्रित समूह को किसी तरह का संचारण नहीं दिया गया। कुछ दिनों के बाद तीनों समूहों के प्रयोज्यों को इन समस्याओं एवं विषयों से सम्बन्धित ऐसी सूचनाएं एवं संचरण दिये गये, जो उनकी अभिवृत्ति के बिलकुल विपरीत थे। परिणाम में देखा गया कि खण्डन रक्षा समूह के छात्र, अन्य दोनों समूहों के छात्रों की तुलना में ऐसी विपरीत सूचनाओं एवं संचारणों से कम प्रभावित हुए। फलस्वरूप विपरीत सूचनाओं एवं संचारणों की दिशा में ऐसे छात्रों में अन्य दोनों समूह के छात्रों की अपेक्षा अभिवृत्ति में परिवर्तन कम हुआ। इस अध्ययन से यह स्पष्ट हो जाता है कि अभिवृत्ति टीका भी अभिवृत्ति परिवर्तन में एक प्रमुख बाधक कारक है।

निष्कर्ष यह है कि अभिवृत्ति परिवर्तन के लिए किया गया प्रभावी संचारण हमेशा प्रभावकारी नहीं होता क्योंकि प्रतिघात पूर्वचेतावनी एवं अभिवृत्ति टीका की परिस्थिति ऐसी होती है जिनमें वैसे संचारण का प्रभाव बिलकुल ही कम हो जाता है।

3.8 अभिवृत्ति परिवर्तन के उदाहरण–हाल के वर्षों में, इस बात की ओर एक व्यापक रुचि रही है कि अपने देश की जनता की अभिवृत्तियों तथा दूसरे देशों की जनता के प्रति अपनी अभिवृत्तियों में क्रियाशील होकर परिवर्तन लाए जाएं। देश के भीतरी समूह तथा सरकार दोनों ही विभिन्न समस्याओं के प्रति लोगों की अभिवृत्तियों को बदलने में संलग्न है। सन् 1930 में संयुक्त राष्ट्र अमेरिका में, रुजवेल्ट ने कर्मचारियों तथा किसानों के प्रति वहां के लोगों की अभिवृत्तियों में भारी परिवर्तन किए, क्योंकि उसे 'मंदी' से उत्पन्न आर्थिक समस्याओं का निवारण करना था। इसी प्रकार ग्रेट ब्रिटेन की लेबर पार्टी ने मजदूर वर्ग की समस्या के प्रति वहां के लोगों की अभिवृत्तियों में भारी परिवर्तन किए। भारत में गांधी जी ने उन लाखों लोगों की अभिवृत्तियों को बदलने के लिए विशाल कार्य को हाथ में लिया, जो अंग्रेजी अधिराजत्व के प्रति या तो उदासीन थे अथवा वस्तुत: भयभीत। उन्होंने भारतीयों में 'स्वराज' तथा प्रजातंत्र के प्रति अनुकूल अभिवृत्ति विकसित करने और विदेशी शासन के विरूद्ध अभिवृत्ति बनाने का प्रयत्न किया। ठीक तभी उन्होंने अंग्रेजों की अभिवृत्ति को बदलने का प्रयत्न भी किया ताकि वे उपनिवेशवाद का अंत करने के अनुकूल हो सकें तथा निम्न शस्त्र सत्याग्रहियों के विरूद्ध हिंसा का प्रयोग करने के प्रतिकूल हो सकें। उसके बाद उन्होंने हिन्दुओं की अभिवृत्ति में परिवर्तन लाने का प्रयास किया ताकि वे मुसलमानों, हरिजनों तथा अन्य अल्पसंख्यक वर्गों के प्रति अनुकूल रूख अपना सकें। इसी भांति, उन्होंने मुसलमानों की अभिवृत्ति को बदलने की कोशिश की, ताकि वह अभिवृत्ति हिन्दुओं के अनुकूल हो सके। गांधीजी ने राजनैतिक, सामाजिक, आर्थिक, धार्मिक, शैक्षणिक तथा अन्य अनेक क्षेत्रों में परिवर्तन किए हैं। यह हमारी अभिवृत्तियों का पूर्ण तथा व्यापक रूप से परिवर्तन ही है जिसके बल पर गांधी ने एक राष्ट्र का निर्माण किया जिसने स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद आने वाली सभी कठिनाइयों को झेल लिया है।

विश्व के सभी देशों की सरकारें लोगों की अभिवृत्तियों को बदलने के लिए सक्रिय रूप से लगी हैं। उदाहरणार्थ, संयुक्त राष्ट्र अमेरिका, ग्रेट ब्रिटेन, जर्मनी, जापान, रूस तथा अन्य सभी उच्च विकसित राष्ट्र अब यह अनुभव कर रहे हैं कि एशिया, अफ्रीका और दक्षिणी अमेरिका के अल्पविकसित देशों की सहायता करना उनका कर्त्तव्य है ताकि ये राष्ट्र खुशहाल हो सकें। यह बात मानव-इतिहास में बिलकुल नई है। लूटपाट, जीत तथा उपनिवेशवाद को छोड़कर अब कमजोर तथा अल्प विकसित देशों को आत्मनिर्भर एवं आर्थिक दृष्टि से खुशहाल बनाना है। उदाहरणार्थ, भारत में कृषकों की अभिवृत्ति को

बदलने के लिए अनेक प्रयत्न किए जा रहे हैं ताकि वे कृषि, रासायनिक खादों, पशु-पालन, सहकारी समितियों आदि की नई विधियों को अपना सकें। इसी तरह उद्योगपतियों की अभिवृत्ति बदलने के प्रयास किए जा रहे हैं, ताकि वे केवल व्यक्तिगत लाभ के लिए ही काम न करें, बल्कि सारे देश की आर्थिक खुशहाली के लिए कार्य करें। इसी प्रकार व्यावसायिक वर्ग की अभिवृत्तियां बदली जा रही हैं जिससे वे असहाय ग्राहकों से अनुचित लाभ न उठाएं। अत: प्रत्येक देश में अभिवृत्तियों में परिवर्तन लाने के लिए सक्रिय कदम उठाए जा रहे हैं।

सामाजिक परिवर्तन की यह त्वरित गति राजनैतिक, आर्थिक तथा प्राविधिक क्षेत्रों में होने वाले अनेक परिवर्तनों पर निर्भर है। राजनैतिक दृष्टिकोण से अब यह अनुभव किया जाने लगा है कि उपनिवेशवाद के दिन बीत चुके हैं तथा प्रत्येक राष्ट्र को अपनी सरकार बनाने का अधिकार है। आर्थिक क्षेत्र में यह बात मानी जाती है कि प्रत्येक देश में अत्यन्त निर्धन तथा दलित वर्गों के लिए सुख-सुविधा के साधन जुटाना अत्यावश्यक है। फलत: प्रत्येक देश में, जीवन-स्तर उठाने के प्रयत्न किए जा रहे हैं ताकि कोई भी परिवार उन्नत-जीवन की परिस्थितियों से वंचित न रहे। प्रौद्योगिकी में जो विकास हुए हैं उन्होंने सम्पूर्ण विश्व को बहुत निकट ला दिया है। आकाशवाणी के द्वारा हम कुछ मिनटों में ही सारे संसार की घटनाओं के बारे में सूचना प्राप्त कर लेते हैं तथा जेट विमान के द्वारा हम कुछ घंटों में संसार के किसी भाग में यात्रा कर सकते हैं। विचार विकास के कारण संसार के प्रत्येक भाग में परिवर्तन हो रहे हैं। फलत: प्रत्येक देश में, लोगों के दृष्टिकोण बदलने के प्रयत्न हो रहे हैं ताकि उनमें आत्मविश्वास आ सके, वे कठिन कार्य कर सकें और अपनी जीवन-स्थितियों में परिवर्तन ला सकें। जिससे एक ही देश के भीतर या एक देश और दूसरे देश के भीतर समूह-समूह के बीच जीवन-स्तर की जो असमानता पाई जाती है वह दूर की जा सके।

4.कलह शमन एवं आक्रामकता

मानवीय स्वभाव मुख्यत: दो प्रकार का है-अन्तर्मुखी और बहिर्मुखी। मनोविज्ञान में अन्तर्मुखी स्वभाव की दो विशेषताएं बतलाई गई हैं-मौन व्यक्तित्व व आक्रामक व्यक्तित्व। न्यू वेबस्टर डिक्शनरी के अनुसार आक्रामकता से अभिप्राय ऐसे व्यक्तित्व से है जो दूसरे पर कारण-अकारण आक्रमण करे। यह आक्रमण शारीरिक या अन्य रूपों में भी हो सकता है तथा व्यक्ति का स्वयं का भय, असुरक्षा, हीन भावना या ऐसे ही अन्य निषेधात्मक भाव भी इसके कारण हो सकते हैं। आक्रामक व्यक्ति अपनी जटिलताओं या कुण्ठाओं को दबाने हेतु आक्रामकता को साधन के रूप में प्रयोग करते हैं। उस समय वे अपने अवचेतन-मन द्वारा निर्देशित होते हैं, भले ही चेतना के स्तर पर उन्हें इसका ज्ञान न हो।

4.1 आक्रामकता के कारण-वे कारण या परिस्थितियां जो एक मनुष्य को आक्रामक प्रतिक्रिया करने को बाध्य करती हैं, निम्न हो सकती हैं-

4.1.1 कुण्ठा एवं हानिकारक उद्दीपक-विभिन्न प्रकार की कुण्ठाएं या हानिकारक उद्दीपक आक्रामकता के मुख्य कारण हो सकते हैं। फ्रायड ने व्यक्ति में एक ऐसी अचेतन शक्ति की परिकल्पना की है, जिसके कारण वह युद्ध का स्वागत करता है। फ्रायड का मत है-''निराशा के कारण मनुष्य ऐसे अवरुद्ध आक्रमण के लिए प्रेरित होता है तथा अभिव्यक्ति के लिए एक ऐसा मार्ग ढूंढने का प्रयत्न करता है जो सामाजिक दृष्टि से स्वीकृत हो और वह उसके अहं को भी स्वीकार्य हो।''

कुण्ठा को उत्पन्न करने वाली तीन मुख्य स्थितियां हैं सकती है -

- प्रतिकूल वातावरण द्वारा प्रस्तुत बाह्य बाधाएं जो व्यक्ति को अपने लक्ष्य प्राप्ति से रोकती हो।

- मनुष्य के पराहं द्वारा प्रस्तुत आंतरिक बाधाएं जो उसकी अस्वीकार्य प्रवृत्तियों की उन्मुक्त अभिव्यक्ति को रोकती है तथा
- दो पारस्परिक विशिष्ट प्रवृत्तियों का एक साथ उत्प्रेरण, जहां पर एक व्यक्ति की संतुष्टि से दूसरे व्यक्ति के तात्कालिक संतोष में बाधा पड़ती है।

सभी कुण्ठाएं आक्रामकता का कारण नहीं बनती। निषेधात्मक भावों के परिमाण के आधार पर ही आक्रामकता का परिमाण निर्धारित होता है। किस लक्ष्य के अवरुद्ध होने पर उत्पन्न हुई कुण्ठा आक्रामकता का कारण बनती है, इस हेतु तीन प्रकार के लक्ष्य हो सकते है-

- एक ऐसा लक्ष्य जो व्यक्ति के लिए अत्यन्त महत्त्वपूर्ण न हो तथा जिसके प्राप्त न होने से उसके व्यक्तित्व को गंभीर हानि न पहुंचे।
- दूसरा ऐसा लक्ष्य, जिसकी अप्राप्ति से उसके व्यक्तित्व की अखण्डता को चुनौती, उसकी सुरक्षा भावना पर आघात तथा उसके अहं पर चोट लगे, तथा
- तीसरा ऐसा लक्ष्य जिसकी प्राप्ति में निरंतर बाधाएं आती रहें तथा इसके कारण से प्राप्त हुई असफलता, व्यक्ति को निरंतर कुण्ठित करता रहे।

प्रथम प्रकार के लक्ष्य के अवरोध से उत्पन्न हुई कुण्ठा आक्रामकता का कारण नहीं बनती। दूसरे प्रकार के अवरोध से उत्पन्न हुई कुण्ठा आक्रामकता का कारण हो सकती है जबकि तीसरे प्रकार के लक्ष्य के अवरोध से उत्पन्न हुई कुण्ठा निश्चित ही आक्रामकता का कारण बनती है।

हानिकारक उद्दीपक से अभिप्राय उस परिस्थिति से है, जिसमें एक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति पर प्रत्यक्ष रूप से आक्रमण करके उसे पुनः आक्रमण के लिए उकसाता है। यदि कोई व्यक्ति किसी पर आक्रमण करता है तो प्रतिपक्षी के पास दो ही विकल्प होते हैं या तो वह उस स्थान को छोड़ दे या प्रतिक्रिया स्वरूप आक्रमण करे।उपर्युक्त दोनों कारणों में हानिकारक उद्दीपक आक्रामक होने के लिए अधिक उत्तरदायी है।

4.1.2 इतिहास या अतीत-अन्य प्रतिक्रियाओं की भांति आक्रामकता की भी एक विशेष प्रक्रिया होती है। निरन्तर आक्रामक भावना रहने के कारण व्यक्ति को आक्रामकता की आदत पड़ जाती है जिससे व्यक्ति कुण्ठा या हानिकारक उद्दीपक के अभाव में भी आक्रामक बने रह सकता है। उदाहरणार्थ-आक्रामकता से यदि व्यक्ति अतीत में निरन्तर लाभान्वित होता रहा है तथा उसके विकास में भी आक्रामकता किसी प्रकार सहायक रही है तो वह व्यक्ति आक्रामकता का निरन्तर व्यवहार करता रहेगा तथा उसकी एक विशेष प्रकार की आदत निर्मित हो जायेगी। आक्रामकता की ओर उसका झुकाव इतना बढ़ जायेगा कि वह शांतिपूर्ण समाधान की संभावना होते हुए भी उसका उपयोग नहीं करना चाहेगा एवं उसका सम्पूर्ण व्यक्तित्व ही आक्रामक हो जायेगा।

4.1.3 सामाजिक कारण-सामाजिक आलम्बन या सहयोग व्यक्ति के व्यवहार पर महत्त्वपूर्ण प्रभाव डालता है। व्यक्ति समूह में रहता है इसलिए उस समूह का प्रभाव व्यक्ति के व्यवहार, क्रिया आदि पर पड़ता है। मानव-शास्त्रियों ने विभिन्न अनुसंधानों द्वारा विभिन्न प्रकार के समूहों का व्यक्ति पर पड़ने वाले प्रभावों का अध्ययन किया है। एक परिवार में रहने वाले बच्चे के व्यक्तित्व-निर्माण की प्रक्रिया उसके माता-पिता के व्यक्तित्व से प्रभावित होती है। यदि उस पारिवारिक समूह में आक्रामकता व्याप्त है तो बच्चे के व्यवहार में निश्चित रूप से किसी न किसी अंश में आक्रामकता आ ही जायेगी। परन्तु यदि समूह में आक्रामकता का अभाव है तो प्रायः यह देखा गया है कि बच्चे का झुकाव आक्रामकता की ओर कम होगा।

4.1.4 मनुष्य का स्वभाव–स्वभाव का विश्लेषण उस व्यवहार के द्वारा किया जा सकता है जो कि मनुष्य के जीवन के पूर्वार्द्ध में घटित होता है तथा उस व्यवहार को निरन्तर प्रयोग में लाने के कारण वह उसकी आवश्यक आदत बन जाती है एवं कालान्तर में वह उसका स्वभाव ही हो जाता है। स्वभाव न केवल आक्रामक व्यवहार को प्रभावित करता है अपितु विभिन्न प्रकार के अन्य व्यवहारों को भी प्रभावित करता है जो मनुष्य के जीवन में आवश्यक है। स्वभाव मनुष्य की सक्रियता के स्तर, प्रतिक्रिया की तीव्रता, स्वतंत्रता आदि को भी प्रभावित करता है। मनुष्य का स्वभाव यदि परिपक्व है और वह कारणों पर गम्भीर चिन्तन कर सकता है तो वह किसी प्रतिक्रिया से पूर्व उन कारणों को खोज सकता है जो आक्रामक होने में सहयोग देते हैं। एक परिपक्व मस्तिष्क विचारपूर्वक प्रतिक्रिया करता है जो कि आक्रामकता की तीव्रता को प्रभावित कर कम कर देता है।सक्रियता के स्तर से अभिप्राय उस ऊर्जा से है जिसे व्यक्ति अपने प्रतिदिन के व्यवहार हेतु प्रयोग में लाता है। मनोवैज्ञानिकों द्वारा यह निष्कर्ष निकाला गया है कि अधिक सक्रियता स्तर सेक्रोधात्मक भावों को अधिक उद्दीपन मिलता है जो आक्रामकता का कारण बनता है। कम सक्रियता स्तर के व्यक्ति को हानिकारक या क्रोधात्मक उद्दीपन नहीं मिलता, परिणामत: ऐसा व्यक्ति आक्रामक नहीं बनता।प्रतिक्रिया की तीव्रता विभिन्न प्रकार के मनुष्यों में विभिन्न प्रकार की होती है। जितनी तीव्र प्रतिक्रिया होगी, उतनी ही अधिक आक्रामकता की सम्भावना होगी। चूंकि प्रतिक्रिया की तीव्रता उसी परिणाम में प्रभावित करती है, अत: तीव्र प्रतिक्रिया वाले व्यक्ति अधिक आक्रामक होते हैं तथा जिनकी प्रतिक्रिया का स्तर तीव्र नहीं होता, तुलनात्मक रूप से वे कम आक्रामक होते हैं।स्वभाव में स्वाधीनता का अंश व्यक्ति के व्यवहार को प्रभावित करता है। स्वाधीनता का अर्थ स्वावलम्बन, आत्मनिर्भरता तथा सामूहिक दबाव के निषेध की अभिरूचि से है। यह देखा गया है कि अधिक स्वाधीन विचारधारा वाले व्यक्ति में आक्रामक प्रवृत्ति पाये जाने की अधिक सम्भावना होती है तथा दूसरों पर निर्भर रहे या आंशिक रूप से पराधीन रहे व्यक्ति में आक्रामक प्रवृत्ति रहने की कम सम्भावना रहती है।

4.2 अन्त:स्रावी ग्रंथि तंत्र और आक्रामकता–चिकित्सा विज्ञान के क्षेत्र में किये गये अनुसंधानों से यह ज्ञात हुआ है कि निषेधात्मक उद्दीपक हाईपोथेलेमस को उद्दीप्त करता है। यहां से निश्रित रासायनिक स्राव अनुकम्पी नाड़ी संस्थान तथा एड्रीनल ग्रंथि को प्रभावित करते हैं। प्रतिक्रिया में निश्रित अन्त:स्रावी स्रावों से हृदय की धड़कन तीव्र हो जाती है, रक्तचाप बढ़ जाता है। रक्त का प्रवाह मांस-पेशियों की तरफ होता है और व्यक्ति का शरीर आक्रमण के लिए तैयार हो जाता है। यदि प्रतिदिन व्यक्ति को इसी प्रकार की परिस्थितियों का सामना करना पड़ जाये तो आक्रामकता उसका स्वभाव बन जाती है।

4.3 समूह आक्रामकता–समूह आक्रामकता का कोई सन्तोषजनक विश्लेषण मनोविज्ञान या समाजविज्ञानों में नहीं मिलता। समूह में हिंसा के प्रमुख उदाहरणों में प्रतिस्पर्धा, नैतिक मूल्य आदि कारण पाये गये हैं। समूह की आक्रामकता का एक प्रमुख कारण भावात्मक तनाव भी है साथ ही कुण्ठा एवं विशेषकर पूर्वाग्रहों की अहं भूमिका रहती है। मूलत: देखा जाये तो समूह आक्रामकता में पूर्वाग्रह ही प्रमुख कारण है। इन पूर्वाग्रहों के कारण एक समूह अपनी ही जीवन शैली को अच्छा बतलाता है, अपने ही विचारों को अच्छा मानता है और अपनी ही मान्यताओं को जन-उपयोगी मानता है। परिणामस्वरूप समूह की आक्रामकता को बढ़ावा मिलता है। पूर्वाग्रहों के कई प्रकार हो सकते हैं, जैसे-अपने समूह के पूर्वाग्रह, राष्ट्रीय पूर्वाग्रह, वैचारिक, जातीय और साम्प्रदायिक पूर्वाग्रह आदि। ये पूर्वाग्रह अपने-अपने समूहों में आक्रामकता के लिए जिम्मेदार हैं।

4.4 आक्रामकता पर नियंत्रण–मानवशास्त्रियों द्वारा यह सिद्ध किया गया है कि व्यक्ति का शारीरिक संस्थान, मानसिक योग्यता, भावनाएं, आकृति एक दूसरे से सम्बन्धित हैं। इसलिए मनुष्य के आक्रामक बनने में इनके हानिकारक तत्त्व सहयोगी बनते हैं। समाज में व्याप्त विषमताएं आदि में भी वह उद्दीपन व्याप्त है जो आक्रामकता में सहायक है। प्रो. हम्बर्ग ने लिखा है–''यदि आक्रामकता को प्रोत्साहन मिलेगा, उद्दीपन मिलेगा तो वह प्रकट हो जायेगी। संघर्ष, तनाव व हिंसा आदि को सामाजिक मान्यता मिलती है तो मनुष्य उसे करके ही संतुष्ट होना चाहता है। इसलिए यदि आक्रामकता या हिंसा को नियंत्रित करना है तो हमें इस प्रकार की संस्कृति अपनानी पड़ेगी जो कि हमें आक्रामकता केविरोध में शिक्षित करे तथा उन परिस्थितियों को दूर करने में सहायता दे, जो मनुष्य के आवश्यक कार्यों, समस्याओं आदि को सुलझाने में बाधा डालती है।'' और हमें इस प्रकार की जीवन शैली का भी निर्माण करना पड़ेगा जो व्यक्ति को पूर्वाग्रहों में न पालकर विधेयात्मक भाव और चिन्तन देती है। ये प्रयास हमें समाज की लघुत्तर ईकाइयों से ही प्रारंभ करना होगा।

5.संघर्ष निराकरण की गांधीवादी विधियां–

शांतिपूर्ण समाधान या कलह–शमन की दृष्टि से हिंसा या कानून पर आधारित तरीकों को स्वीकार नहीं किया जा सकता, क्योंकि वे स्थायी समाधान प्रदान नहीं करते। हिंसा या कानून का समाधान स्वैच्छिक नहीं, दबाव द्वारा स्वीकृत होता है। वार्त्ता, सामूहिक सौदेबाजी एवं संधियां आदि भी कलह–शमन के लिए प्रयुक्त होती हैं पर ये भी उपयोगितावादी होने के कारण नैतिक शक्ति नहीं रखते। गांधीजी की दृष्टि में हृदय परिवर्तन या नैतिक शक्ति द्वारा किया गया समाधान ही स्थायी होता है। मूलत: किसी भी विधि की उपयुक्तता का आकलन इस आधार पर किया जा सकता है कि निराकरण के पश्चात् दोनों पक्षों के बीच सम्बन्ध कैसे रहेंगे? प्रो. गाल्टुंग ने कलह–शमन हेतु गांधीवादी विधियों के चार आधार प्रस्तुत किये हैं–

- **संघर्ष या संघर्षरत पक्ष से अलग हो जाना (Decoupling).** संघर्ष निराकरण हेतु हमारा प्रथम प्रयास यह हो कि हम उससे अलग हो जाएं। असहयोग, अवज्ञा, सत्याग्रह आदि सम्बन्ध विच्छेद के उदाहरण हैं। सामाजिक, राजनैतिक या व्यापारिक सम्बन्ध तोड़ना सतही कार्य हैं। मूलत: हमारा प्रयत्न मानवीय एकता के लिए होना चाहिए और इसके लिए हमारा विश्वास हृदय परिवर्तन में हो।
- **एकता (Integration)**-सामाजिक, आर्थिक व राजनैतिक स्तर पर जो रुकावटें हैं, वे मनुष्य–मनुष्य के बीच भेद–रेखाएं बनाती हैं। चूंकि आध्यात्मिक स्तर पर हम एक हैं, इसलिए अहिंसा की शक्ति से ये भेद–रेखाएं दूर की जा सकती हैं।
- **समझौता (Compromise)**-सत्याग्रह के आधार पर यदि हम जीत भी जाएं एवं हमारी बातें मान ली जाएं, फिर भी हमें समझौते के लिए तत्पर रहना चाहिए। इससे संघर्ष निराकरण के पश्चात् भी हमारे सम्बन्ध मधुर रहेंगे। यद्यपि ऐसा समझौता मूल्यों व मूलभूत तत्त्वों की कीमत पर नहीं होना चाहिए।
- **विरोधों का निराकरण (Resolution of incompatibility**)-जिस संघर्ष के निराकरण की बात होती है, निश्चित ही उस संघर्ष की जड़ें गहरी नहीं होती। संघर्ष की वास्तविक जड़ें तो समाज–संरचना में छिपी होती हैं, इन्हें खत्म करने के लिए आर्थिक, सामाजिक तथा राजनैतिक ढांचे को ही बदलना पड़ता है। यह बदलाव धीरे–धीरे आता है तथा इसे अहिंसक साधनों से लाया जा सकता है।

5.1 असहयोग–अहिंसक प्रतिकार की सबसे सरल विधि है असहयोग। यदि कोई विशेष प्रकार की राजनैतिक, आर्थिक या राजनैतिक व्यवस्था अन्याय व शोषण का बढ़ावा देती है तो इसके उन्मूलन का सबसे सरल उपाय है–असहयोग के आधार पर पुराने सम्बन्धों का समाप्त करना व नई व्यवस्था में सहयोग देना। गांधी की मान्यता थी कि सभी प्रकार के सामाजिक व राजनैतिक सम्बन्ध आपसी सहयोग पर आधारित होते हैं। शोषण के लिये केवल शोषक या उत्पीड़क को ही पूर्णत: दोषी नहीं ठहराया जा सकता है। शोषित भी शोषण के लिये समान रूप से जिम्मेदार होता है। शोषण शोषित की बाह्य इच्छा व सहयोग पर आधारित होता है। यदि सभी लोग शोषक के साथ सहयोग बंद कर दे या उसकी आज्ञा पालन बंद कर दे, तो शोषण नहीं हो सकता है। इसलिए गांधी बुराई व अन्याय से असहयोग करने के लिये शोषित को प्रेरित करते हैं। असहयोग व्यक्तिगत व राजनैतिक दोनों प्रकार का हो सकता है। यदि असहयोग सरकार के विरूद्ध करना हो तो सरकार के साथ किसी प्रकार का सहयोग करना बंद करना होगा। इसके पश्चात् सरकारी नियंत्रण से मुक्त होकर, उसकी सुविधाओं से स्वतंत्र होकर असहयोग होने की भावना से छुटकारा पाना होता है। जब सरकार को जनता का सहयोग मिलना बंद हो जाएगा तो उसका अन्याय अत्याचार स्वत: जड़ छोड़ देगा।

गांधी के अनुसार असहयोग एक तत्वत: शोधन प्रक्रिया है। यह रोग के लक्षणों से अधिक कारण का उपचार करती है। यह एक ऐसा आंदोलन है जिसका उद्देश्य ऐसे सामाजिक/राजनीतिक/आर्थिक सम्बन्धों की स्थापना है जो हमारे आत्मसम्मान व गौरव के अनुकूल हो तथा जिनकी स्थापना व संचालन में किसी प्रकार की कठिनाई न हो।यह अहिंसा का गतिशील रूप है जिसका अर्थ है सचेत कष्ट वरण। असहयोग की उपयोगिता के संदर्भ में गांधी ने कहा है कि यह वह पद्धति है जिसके द्वारा हम मुक्त जनमत का संवर्धन करते हैं और मत व्यक्त करने की पूर्ण स्वतंत्रता की स्थिति में बहुतम को कार्यान्वित करते हैं। इस प्रकार असहयोग एक अन्यायमूलक सामाजिक व्यवस्था के विरूद्ध जनमत की अभिव्यक्ति है।असहयोग के संदर्भ में गांधी इस बात पर ध्यान देना आवश्यक समझते थे कि अपने उद्देश्यों की पूर्ति में किसी व्यक्ति व सम्पत्ति को नुकसान नहीं पहुंचना चाहिये, न ही नुकसान पहुंचाने की प्रेरणा दी जानी चाहिए। असहयोग के लिये जनता का परस्पर सहयोग आवश्यक है। असहयोग अहिंसक हो इसके लिये यह भी आवश्यक है कि असहयोगी (सत्याग्रही) मतभेदों के प्रति सहिष्णु रहे तथा विभिन्न मतानुयायियों की स्वतंत्रता की भी उसी प्रकार रक्षा की जाए जैसी कि उनसे अपेक्षा की जाती है।

इस सत्याग्रह के क्रांतिकारी रूप की कोई सीमा नहीं है। व्यक्ति, समुदाय और जनसमूह सभी इसका सहारा ले सकते हैं। गांधी मानते थे कि मुट्ठी भर अंग्रेज भारतीयों के सहयोग से ही उन पर शासन कर पाये थे। और अपनी इसी मान्यता के आधार पर उन्होंने अंग्रेजों के विरूद्ध 1932 व 1942 में असहयोग आंदोलन का आह्वान किया था व सफलता भी प्राप्त की।असहयोग के सहयोग के लिये अन्य अहिंसक साधनों का सहारा लिया जाता है जैसे हड़ताल, बहिष्कार, धरना आदि।

5.2 हड़ताल–यह असहयोग का ही एक महत्त्वपूर्ण अंग है। अहिंसक प्रतिकार या असहयोग के अंतर्गत अन्यायपूर्ण नीतियों के विरूद्ध विरोध प्रकट करने के लिये व्यवसाय को कुछ समय के लिये बंद करने की स्थिति को हड़ताल कहते हैं। इसके अंतर्गत न केवल अपनी निजी नौकरी, व्यवसाय आदि का बंद करना शामिल है, वरन् विद्यालय, महाविद्यालय आदि बंद करना भी शामिल है। यह प्राय: सांकेतिक होती है। इसका उद्देश्य होता है–जनता व सरकार के मन को प्रभावित करना।

गांधी ने इसका प्रयोग सर्वप्रथम 1918 में अहमदाबाद में श्रमिकों के हितों के लिये किया। उन्होंने मिल के कर्मचारियों को शपथ दिलवाई कि जब तक उनकी शिकायतें दूर नहीं की जाती, तब तक वे काम पर नहीं लौटेंगे। इस हड़ताल में गांधी को उनके समुचित अधिकारों को दिलवाने में सफलता भी मिली थी।

गांधी ने इस साधन का प्रयोग बड़ी सावधानी से करने की सलाह दी थी। उनके अनुसार हड़ताल स्वेच्छा से की जानी चाहिये। इसमें हिंसा का प्रयोग कतई नहीं होना चाहिये। वे न्यायपूर्ण व औचित्यपूर्ण शिकायतों को दूर करने के लिये हड़ताल करने के विरोधी नहीं थे, लेकिन सरकार को परेशान करने के लिये तोड़-फोड़ मूलक प्रवृत्तियों के साथ अपनी नाजायज मांगों को मनवाने के लिये हड़ताल के प्रयोग के विरूद्ध थे। वे मानते थे कि ये बार-बार नहीं होनी चाहिये।

गांधी के अनुसार हड़ताल करने की छूट उन कर्मचारियों को बिलकुल नहीं दी जानी चाहिये जो जन उपयोगी सेवाओं से जुड़े हुए हों, क्योंकि उनके हड़ताल पर जाने से सामान्य जनजीवन पर नकारात्मक असर होगा और उनका जीवन ठप्प हो जाएगा, जैसे रेलवे, बैंक, कारखाने, चिकित्सा सेवाएं, पुलिस आदि कार्यों में लगे कर्मचारी, जिनके काम पर न जाने से न केवल देश को आर्थिक हानि होगी, बल्कि आम आदमी भी परेशानी में पड़ जाएगा। मूलत: हड़ताल का प्रयोग औद्योगिक विवादों में होता है किंतु अब इसका प्रयोग अन्य क्षेत्रों में भी होने लग गया है।

5.3 बहिष्कार-यह असहयोग का ही रूप है, जिसमें सरकारी नीतियों के विरोधस्वरूप उपाधियों, सम्मानित पदों, सरकारी संस्थाओं में आने-जाने, सरकारी उत्सवों में भाग लेने, अदालतों, सरकारी स्कूलों में जाने, निर्वाचित होने व वोट देने का त्याग किया जाता है। इस प्रकार बहिष्कार कार्यक्रम चलाकर सरकार के विरूद्ध असंतोष व्यक्त कर उस पर दबाव बनाया जाता है ताकि वह अपनी अन्यायपूर्ण नीतियों को न्यायपूर्ण बनाने के लिये बाध्य हो सके।

गांधी का कहना था कि यदि कोई पिता भी अन्याय करता है तो बच्चों का कर्त्तव्य है कि वह पैतृक छत्रछाया को छोड़ दे। इसी प्रकार यदि सरकार प्रजा के साथ अन्याय करती है तो प्रजा को विरोध स्वरूप उसका बहिष्कार कर उसका असहयोग करना चाहिए। सामान्यत: बहिष्कार के दो रूप प्रकट होते हैं-1. सामाजिक बहिष्कार, 2. आर्थिक बहिष्कार।जो लोग जनमत की अवहेलना करते हैं, उन लोगों का बहिष्कार करना सामाजिक बहिष्कार कहलाता है। गांधी के अनुसार जो लोग अल्पमत या सैद्धान्तिक कारणों से नहीं, अपितु केवल अवज्ञा के कारण या उससे भी अपकृष्ट कारणों से जनमत की अवहेलना करते हैं, उनका सहयोग नहीं करते उनके प्रति सामाजिक बहिष्कार किया जाना चाहिये। इसका प्रयोग बहुत मर्यादित रूप में किया जाना चाहिये। बहिष्कृत व्यक्ति को समाज की आवश्यक सेवाओं से वंचित नहीं किया जाना चाहिये। बहिष्कार तभी उपयोगी हो सकता है जब व्यक्ति उसे दण्ड की तरह नहीं, बल्कि अनुशासनात्मक कार्य की तरह स्वीकार करे और यह तभी संभव जब होगा जब बहिष्कार अहिंसात्मक हो और उसमें अमानवता की गंध न आवे। आर्थिक बहिष्कार में आर्थिक सेवाओं व वस्तुओं का बहिष्कार किया जाता है।

5.4 धरना-अहिंसक प्रतिरोध के अंतर्गत धरना असहयोग का ही एक रूप है। इस प्रविधि का प्रयोग आर्थिक, सामाजिक, राजनैतिक दबाव डालने के लिये किया जाता है। इसका उद्देश्य सरकार पर दबाव डालकर, लोगों के बीच राजनैतिक चेतना व स्वदेशी चेतना को जागृत करना है। गांधी ने धरने के अहिंसक स्वरूप को स्वीकार किया था, जिसमें हिंसात्मक कार्य नहीं किये जाते थे तथा किसी के रास्ते को रोककर दबाव नहीं डाला जाता। अहिंसक धरने पर बैठने वाले लोगों से यह अपेक्षा की जाती है

कि वे जनमत को जगाएं, उपयुक्त वातावरण का निर्माण करे व हृदय परिवर्तन के द्वारा प्रतिपक्षी को वस्तुस्थिति से अवगत कराये। इस प्रकार के धरने का प्रयोग मुख्यत: आर्थिक बहिष्कार के लिये किया जाता है। इस धरने में धमकाने, बल प्रयोग करने, भूख हड़ताल करने तथा अशिष्टता दिखाने के लिये कोई स्थान नहीं होना चाहिए। धरने में उपवास तभी किया जा सकता है जब करार भंग किया गया हो और दोनों पक्षों में पारस्परिक सम्मान व प्रेम की भावना न हो। गांधी ने इसका प्रयोग 1907 में अफ्रीका में व 1920-22 व 1930 में भारत में किया।

5.5 प्रदर्शन-सत्याग्रह की विधियों में प्रदर्शन भी एक महत्त्वपूर्ण विधि है। प्रतिपक्षी सरकार की अन्यायपूर्ण नीतियों के विरोधस्वरूप शिक्षित लोगों या लोगों के समूह को संगठित कर, प्रतिकारात्मक रूप से विरोध का प्रदर्शन करना प्रदर्शन कहलाता है। प्रदर्शन के अंतर्गत मुख्य रूप से जुलूस, नारेबाजी आदि को सम्मिलित किया जाता है। गांधी ने इसका प्रयोग 1908 में दक्षिण अफ्रीका में रजिस्ट्रेशन सर्टिफिकेट एक्ट को जलाने के लिये, जलियावालाबाग हत्याकाण्ड के विरोध में, दाण्डी यात्रा के रूप में 1932 में द्वितीय असहयोग आंदोलन व 1942 में भारत छोड़ो आंदोलन के समय किया था।

5.6 हिजरत-हिजरत का अर्थ है-अपने स्थायी या परम्परागत निवास स्थान को स्वेच्छा से छोड़कर दूसरे स्थान या अन्यत्र कहीं चले जाना। अर्थात् जब किसी स्थान पर आत्मसम्मानपूर्वक नहीं रहा जा सके, तब उस स्थान को त्यागकर अन्य जगह पर चले जाना हिजरत कहलाता है। गांधी ने हिजरत की सिफारिश उन लोगों के लिये की जो यह महसूस करते हैं कि उनके साथ अत्याचार हो रहा है और वे उस स्थान पर आत्मसम्मान के साथ नहीं रह पा रहे हो। जो अन्याय के विरोध में न तो सत्याग्रह का नैतिक बल रखते हो और न ही हिंसा के प्रतिकार का साहस रखते हो, उन लोगों के लिये वह स्थान त्याग देना ही उचित है। ऐसे लोगों के लिये हिजरत का मार्ग अपनाने की सलाह गांधी जी ने दी है। गांधी के अनुसार, हिजरत असहनीय स्थिति से छुटकारा पाने का अहिंसक मार्ग है, न कि कायरता का।

अतीत में उग्र अत्याचार से पीड़ित इजराइली जनता ने हिजरत का प्रयोग किया था। गांधी ने आत्मसम्मान की रक्षा में 1928 में, बारडोली के सत्याग्रहियों को ओर 1939 में लिम्बडी, जूनागढ़ विट्ठलगढ़ की जनता को हिजरत का साधन अपनाने की सलाह दी थी। 1935 में उन्होंने कैथा हरिजनों का अपना घर छोड़ने की सम्मति दी, क्योंकि सवर्ण हिन्दू नियमित रूप से आतंक फैला रहे थे और इससे उनमें भय उत्पन्न हो गया था।

5.7 सविनय अवज्ञा-सविनय अवज्ञा का अर्थ है-अनैतिक कानूनों का उल्लंघन करना। इसमें प्रतिरोध कार्य सविनय अर्थात् अहिंसक रूप से कानून की अवज्ञा करके किया जाता है। यह वास्तव में विनय और विनयभंग का समन्वय है। अर्थात् अहिंसा और प्रतिरोध का सामंजस्य है सविनय अवज्ञा। मनुष्य के नैतिक विकास के लिये बूरे कानूनों का विरोध आवश्यक है, लेकिन समाज व्यवस्था के लिये, जिसके बिना मनुष्य का जीवन व विकास संभव नहीं है, विनय भी आवश्यक है। अवज्ञा शब्द स्वत: ही विनाशक व समाज विरोधी है, लेकिन उससे भी निकृष्ट कार्य है-अनैतिक कानूनों का पालन। मनुष्य को उन्हीं कानूनों का पालन करना चाहिये जो नैतिक रूप से करने योग्य हो। जब व्यक्ति वैधानिक साधनों से अनैतिक कानूनों को रद्द नहीं करा सके तो अपनी अंतरात्मा के प्रति निष्ठापूर्ण बने रहने के लिए आवश्यक है कि वह उस कानून की अवज्ञा कर दे। लेकिन इस साधन के प्रयोग में सविनय पर अधिक बल होना चाहिये। और अवज्ञा सविनय तभी हो सकती है जब उसमें सचाई हो, उसके पीछे केई दुर्भावना या घृणा का भाव न हो और वह नियंत्रित तथा किसी अच्छे सिद्धान्त पर आधारित हो।

सतही तौर पर यह साधन स्पष्ट रूप से कानून की जानबूझकर अवहेलना प्रतीत होता है, लेकिन गांधी के अनुसार इसका उद्देश्य किसी कानून विशेष का सार्वजनिक तथा सामूहिक रूप से उल्लंघन करके उस कानून की कमियों व त्रुटियों की ओर सरकार का ध्यान आकर्षित करना था, जिससे उन कानूनों की कमियों को दूर कर उनकी गुणवत्ता बढ़ाई जा सके ताकि लोग उसका पालन स्वेच्छा से कर सके, न कि दंड के भय से। इस अवज्ञा को इसी अर्थ में सविनय कहते हैं कि वह सापराध नहीं होती।

गांधी ने सविनय अवज्ञा को दो वर्गों में विभाजित किया था व्यक्तिगत तथा सामूहिक। व्यक्तिगत सविनय अवज्ञा में एक व्यक्ति या व्यक्तियों की निश्चित संख्या या समुदाय द्वारा कानूनों की अवज्ञा है। इसलिये वह निषिद्ध सार्वजनिक सभा, जिसमें प्रवेश के लिये टिकट लेना पड़े, व्यक्तिगत सविनय अवज्ञा का दृष्टांत है। जबकि वह सभा, जिसमें साधारण जनता बिना किसी टिकट या रूकावट के प्रवेश कर सके, सामूहिक अविनय अवज्ञा का दृष्टांत है। इन दोनों के बीच प्रमुख अंर यह है कि व्यक्तिगत सविनय अवज्ञा में प्रत्येक व्यक्ति पूर्ण स्वतंत्र इकाई है और उसके पतन का दूसरों पर प्रभाव नहीं पड़ता। सामूहिक सविनय अवज्ञा में एक का पतन दूसरों पर बुरा प्रभाव डालता है। सामूहिक प्रतिरोध में नेतृत्व आवश्यक है, जबकि व्यक्तिगत सविनय प्रतिरोध में व्यक्ति स्वयं अपना नेता होता है। सामूहिक सविनय प्रतिरोध में असफलता संभव है, व्यक्तिगत में सफलता निश्चित है। राज्य सामूहिक सविनय अवज्ञा प्रतिरोध का तो सामना कर सकता है लेकिन किसी भी राज्य में व्यक्तिगत प्रतिरोध का सामना करने की क्षमता नहीं है।

गांधीजी ने सविनय अवज्ञा के दो रूपों का वर्णन किया-रक्षणात्मक व आक्रमणात्मक। आक्रमणात्मक सविनय अवज्ञा राज्य के उन कानूनों की स्वेच्छा से अहिंसक अवज्ञा है, जिनका उल्लंघन करना नैतिक भ्रष्टता नहीं है और यह अवज्ञा राज्य के विद्रोहस्वरूप की जाती है। ऐसे कानूनों से कोई कठिनाई नहीं होती न उन्हें बदलने की आवश्यकता है। इसे गांधी ने अत्यधिक खतरनाक अस्त्र के रूप में वर्णित किया है। रक्षणात्मक सविनय अवज्ञा, ऐसे कानूनों का उल्लंघन है जो कि नैतिक दृष्टि से बुरे हैं व जिनको मानना मानवीय सम्मान व आत्मप्रतिष्ठा के प्रतिकूल है। वास्तव में, रक्षणात्मक अवज्ञा एक ऐसा कर्त्तव्य है जिसका पालन उस समय भी करना पड़ता है जबकि विरोधी कठिनाई में हो।

इस प्रकार गांधी के अनुसार सविनय अवज्ञा असहयोग का उग्रतम रूप है। असहयोग के दूसरे साधनों की अपेक्षा यह अधिक उग्र व शीघ्रगामी भी है। अतएव इसके प्रयोग में सतर्कता का व्यवहार करना पड़ता है क्योंकि इसमें खतरा होने की आशंका रहती है। गांधी के अनुसार प्रयोग कुछ चुने हुए व्यक्तियों द्वारा ही हो सकता है।

5.8 आत्मपीड़न-सत्याग्रह की विधियों में कुछ विधियां प्रतिरोध के रूप में कार्य करती है तथा कुछ प्रक्रियाएं प्रतिपक्षी के हृदय परिवर्तन के द्वारा सत्याग्रह की प्रक्रिया को निष्पन्न करती है, जिनमें प्रमुख है-आत्मपीड़न। आत्मपीड़न का सामान्य अर्थ है-आत्मा को कष्ट देना। भारतीय परम्परा में महान उपलब्धियों के लिये साधना और तप के साथ ही आत्मपीड़न को भी आवश्यक समझा जाता है। इसके द्वारा व्यक्ति किसी भी प्रकार के कष्ट सहन करने की क्षमता विकसित कर सकता है। गांधी ने आत्मपीड़न को साधना के आध्यात्मिक स्तर से उपर उठाकर जीवन के सभी पहलुओं में प्रवेश कराया। व्यक्तिगत मोक्ष के लिये आत्मपीड़न की बात तो भारतीय परम्परा में सामान्य बात है, किंतु सामाजिक बुराइयों के उन्मूलन के लिये आत्मपीड़न गांधी की समाज को महान् मौलिक देन है।

सत्याग्रह की एक महत्त्वपूर्ण प्रक्रिया के रूप में आत्मपीड़न में सत्याग्रही स्वयं को कष्ट देकर विरोधी के प्रति विरोध प्रदर्शित कर उसका हृदय परिवर्तित करने का प्रयास करता है। इसमें विरोधी का नहीं, उसकी अन्यायपूर्ण नीतियों का प्रतिकार किया जाता है। इसमें प्रेम की भावना प्रबल होती है। जब सत्याग्रही आत्मपीड़न करता है तथा दूसरों की पीड़ा में भाग लेता है, तो उसे एक प्रकार की आध्यात्मिक अनुभूति होती है जो कि बुद्धि से परे की चीज है, इसे गांधी ने हृदयात्मा का ज्ञान कहा है। जब प्रतिपक्षी सत्याग्रही के आत्मपीड़न पर विचार करता है तो उसके हृदय में परिवर्तन आ जाता है। इस प्रकार जब व्यक्ति पीड़ा के द्वारा दूसरे के हृदय में प्रवेश करने की कोशिश करता है तो उसे इस कार्य में काफी सफलता मिलती है। गांधी ने भी जीवन में दक्षिण अफ्रीका में दो बार आत्पीड़न का प्रयोग किया था।

5.9 उपवास–सत्याग्रह का सबसे प्रबल शक्तिशाली अस्त्र उपवास है। यह आत्मपीड़न का ही एक रूप है। उपवास में सत्याग्रही स्वयं अहिंसात्मक मार्ग का वरण करके अपने शरीर को कष्ट देकर प्रतिपक्ष का हृदय परिवर्तन करने का प्रयास करता है। उपवास के उद्देश्य भी दो प्रकार हो सकते हैं–दुराग्रह तथा सदाग्रह। दुराग्रहमूलक उपवास में उपवास करने वाला व्यक्ति अन्यायी को सुधारने की दृष्टि से उपवास नहीं करता, अपितु अपनी बातों को स्वीकार कराने के लिये यह धमकी देता है कि यदि उसकी बात नहीं सुनी गई तो भूखे मर जायेंगे। सदाग्रह मूलक उपवास में सद्भावनापूर्वक अन्यायी का हृदय परिवर्तित किया जाता है।

गांधी की दृष्टि में उपवास अन्याय का विरोध तथा अन्यायी के हृदय परिवर्तन का साधन है, किंतु इस अस्त्र का प्रयोग गंभीरता से करना चाहिये। इसका प्रयोग तभी करना चाहिये जब सभी उपलब्ध संवैधानिक तथा सत्याग्रहिक साधन असफल हो जाए और कोई अन्य रास्ता नहीं दिखाई दे। गांधी के अनुसार उपवास के लिये महान आंतरिक शक्ति की आवश्यकता होती है। जिसमें आंतरिक शक्ति नहीं है उसे इसका नाम भी नहीं लेना चाहिये। इस अस्त्र का प्रयोग उपवास कला में दक्ष व्यक्तियों द्वारा या किसी व्यक्ति विशेष के निरीक्षण में ही हो सकता है। उपवास के लिये शारीरिक क्षमता का कोई महत्त्व नहीं है। उपवास के लिए सत्याग्रही में अंतर्दृष्टि, आध्यात्मिक एकता तथा ईश्वर में जीवित श्रद्धा अनिवार्य है। सत्याग्रही में दृढ़ निश्चय, ध्येय की एकाग्रता, असीम धैर्य तथा शांति का होना भी अत्यावश्यक है। उपवास में सबसे बड़ी बात यह है कि वो सत्याग्रही की त्याग की भावना का प्रतीक है न कि अपने प्रतिपक्षी पर दबाव डालने का।गांधी ने अपने जीवन में कुल सत्रह बार उपवास किया और वे कुल मिलाकर 138 दिन उपवास पर रहे थे। उपवास उन्होंने मुख्यत: आत्मशुद्धि के लिये, हिंसक घटनाओं को रोकने के लिये, साम्प्रदायिक दंगों को रोकने तथा हरिजनों पर होने वाले अत्याचारों पर क्षोभ प्रकट करने के लिये किये और जहां तक उनके तात्कालिक प्रभाव का प्रश्न है, उसमें वह पूरी तरह सफल हुए।

उपर्युक्तविधियों के अतिरिक्त कलहशमन हेतु कुछ और गांधीवादी तरीके हैं, जैसे- करों का भुगतान न करना, समानान्तर सरकार आदि।

इस प्रकार उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि गांधी के सत्याग्रह की आंदोलनात्मक प्रक्रिया का उद्देश्य समाज के दोषों का निवारण करना ही है। गांधी के अनुसार सत्य, अहिंसा, प्रेम, न्याय, स्वतंत्रता आदि की स्थिति में सत्याग्रह की इन विधियों की आवश्यकता नहीं पड़ती। किंतु, इसके विपरीत जहां पर अत्याचार, हिंसा, भय, परतंत्रता आदि होते हैं वहां पर व्यक्ति, समूह, समुदाय, राष्ट्र य अंतर्राष्ट्र को

सत्याग्रह का सहारा लेना पड़ता है। सत्याग्रह इन संघर्षात्मक प्रक्रियाओं तक ही सीमित नहीं है। इन प्रक्रियाओं के बाद भी यह महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा करता है।

6.संघर्ष निराकरण की कूटनीतिक विधियां

गांधीवादी विधियों के अतिरिक्त संघर्ष निराकरण की कुछ कूटनीतिक विधियां भी हैं, जिनमें से कुछेक विधियों का उल्लेख आवश्यक है-

6.1 मानवीय सम्बन्धों में सुधार-वर्तमान वैश्विक परिदृश्य में कुछ खतरे जो सम्पूर्ण मानव जाति के लिए है। जिनमें मुख्यत: परमाणु यंत्रों का संकट व पर्यावरणीय संकट है। यह दोनों संकट मानवीय अस्तित्व के लिए गंभीर चुनौती है। परमाणु अस्त्र-शस्त्रों की विनाशलीला हम द्वितीय विश्व युद्ध के दौरान हिरोशिमा और नागासाकी में देख चुके हैं। एक अनुमान के अनुसार पूरी पृथ्वी को पचास से भी अधिक बार नष्ट किए जाने के लिए हमारे पास परमाणु अस्त्र पर्याप्त मात्रा में है। अफगानिस्तान व अमेरिका संकट से एक बार पुन: परमाणु अस्त्रों के प्रयोग की क्षमता से सम्पूर्ण मानव जाति भयाक्रान्त है। इसी तरह पर्यावरण संकट पूरी मानव जाति को संत्रस्त किए हुए है। पर्यावरणीय प्रदूषण ने सभी सीमाएं लांघ दी हैं। किसी भी राष्ट्र की सीमा इस संकट पर लागू नहीं होती। यूरोप, अफ्रीका, लेटिन अमेरिका आदि राष्ट्रों में अम्लीय वर्षा और लुप्त होते वन केवल उसी राष्ट्र के औद्योगिक क्रियाकलापों का फल नहीं है, यह उन राष्ट्रों का फल भी है जिन्होंने अंधाधुंध औद्योगिक विकास कर, पर्यावरण को प्रदूषित किया है। इसी के साथ ओजोन परत की क्षति, संसाधनों की समाप्ति, लुप्त होते वन्य प्राणी- यह सभी मानव की प्रकृति पर विजय पाने के फलस्वरूप है। इस समान संकट के संदर्भो में हमें मानव सम्बन्धों को देखना है। मानवीय सहयोग और सह-अस्तित्व आज से पहले इतना अधिक अपरिहार्य नहीं रहा होगा। अस्तित्व के संकट ने एक बार पुन: मानव सम्बन्धों को परिभाषित करने के लिए बाध्य किया है।

मानवीय सम्बन्धों की पृष्ठभूमि में यह ध्यान रखा जाना आवश्यक है कि उपर्युक्त संकटों में मनुष्य की विचारधारा में मूलभूत परिवर्तन किए है। अस्तित्व के संकट ने मनुष्य को यह सोचने पर विवश किया है कि वह प्रकृति का मालिक या विजेता नहीं अपितु उसी का एक अंग है। प्रकृति का विजेता बनकर उसने प्रकृति के साथ जो खिलवाड़ किया उसके पीछे यह सोच रही है कि मनुष्य इस पृथ्वी का श्रेष्ठतम प्राणी है और प्रकृति प्रदत्त समस्त वस्तुएं व जीव-जगत उसके लिए भोग्य सामग्री है। आज परिवर्तित सोच ने मनुष्य को यह सोचने पर विवश किया है कि वह अन्य जीव-जगत के समान प्रकृति का हिस्सा है। इसलिए और अन्य जीव जगत उसके लिए भोज्य नहीं है। वर्तमान मानवीय सम्बन्ध इसी विचारधारा से निर्देशित होते दिख रहे हैं। मानवीय सम्बन्धों के लिए शास्त्रीय चिंतकों ने दो और आधार प्रस्तुत किए- आवश्यकता पर आधारित सम्बन्ध और हितों पर आधारित सम्बन्ध। भोजन, आवास, चिकित्सा व शिक्षा-यह सभी मनुष्य की मूलभूत आवश्यकताएं हैं। इन आवश्यकताओं को एक व्यक्ति की निजी आवश्यकता भी कहा जा सकता है। सुरक्षा, विकास आदि समूहगत आवश्यकताएं हैं जिनकी पूर्ति के लिए व्यक्ति सामूहिक रूप से परिवर्तन करता है। यदि समाज या विश्व का एक भाग इन आवश्यकताओं को पूरा नहीं कर पाता है और दूसरे भाग के पास इन आवश्यकताओं से अधिक सुविधाएं हैं तो निश्चित रूप से ऐसी स्थिति में मानवीय सम्बन्ध ठीक नहीं रह सकते।

संघर्ष को मूलत: हितों का संघर्ष ही कहा जाता है। अत: हित तो मानवीय सम्बन्धों में तकरार के प्रमुख कारण हैं। एक व्यक्ति या एक राष्ट्र के हित पूर्ति में, कोई दूसरा व्यक्ति या राष्ट्र बाधा बनता है तो यह स्थिति मानवीय सम्बन्धों को मधुर नहीं रहने देगी। निश्चित रूप से एक व्यक्ति और

एक राष्ट्र के अपने वैयक्तिक व राष्ट्रीय हित होंगे ही। प्रश्न यह उपस्थित होता है कि क्या ऐसे निजी हित रहते हुए मानवीय सम्बन्धों को परिष्कृत और विकसित किया जा सकता है। सामान्य खतरों, आवश्यकताओं और हितों के परिप्रेक्ष्य में मानवीय सम्बन्धों का विश्लेषण आवश्यक है।

मनुष्य जाति पर जो सामान्य और सार्वभौमिक खतरे हैं उन खतरों ने सम्पूर्ण मानव जाति को एक परिवार के रूप में संगठित होने पर बल दिया है। ''वसुधैव कुटुम्बकम्'' की अवधारणा आज जितनी प्रासंगिक है उतनी शायद इतिहास में कभी नहीं थी। पर्यावरणीय खतरे और परमाणु खतरे- इन दोनों ने सम्पूर्ण मानव जाति को सह-अस्तित्व के लिए प्रेरित किया है। यद्यपि विज्ञान व प्रौद्योगिकी के विकास ने राष्ट्रों के बीच असंतुलन पैदा किया है लेकिन इससे सह-अस्तित्व की अवधारणा कम नहीं हुई है। पर्यावरणीय प्रदूषण ने मनुष्य को प्रकृति का अंग स्वीकार किए जाने के लिए विवश किया है। इसी कारण आज मानवीय सम्बन्धों में दासता, गुलामी आदि के भाव कम हुए हैं। व्यापक स्तर पर देखें तो उपनिवेशवादी नीतियों का अंत उपर्युक्त खतरों और सोच का ही परिणाम है। मनुष्य ने एक-दूसरे की संस्कृतियों से आदान-प्रदान करना सिखाया जो न केवल दूसरे की संस्कृति के सम्मान के लिए प्रेरित करता है बल्कि प्राणी मात्र के प्रति सम्मान को अभिव्यक्त करता है।

आवश्यकता और हितों पर आधारित सम्बन्धों पर दृष्टिपात करें तो यह कहा जा सकता है कि आवश्यकता पर आधारित सम्बन्ध उपयोगितावादी होने के बावजूद, हितों पर आधारित सम्बन्धों से अधिक ठीक है। हितों पर आधारित सम्बन्ध में बल या दमन सम्मिलित रहता है जबकि समान आवश्यकताओं की पूर्ति हेतु किए जाने वाले सम्बन्ध स्वैच्छिक होते हैं। मानवीय सम्बन्धों में हाल ही के वर्षो में तकरार डालने वाला एक प्रमुख घटक धार्मिक कट्टरपन रहा है। इस पर आधारित संघर्ष को कुछ चिंतकों ने सभ्यताओं का संघर्ष भी कहा है। आंतकवादी घटनाओं और उनके दमन के लिए अमेरिकी परिवर्तन इस बात की पुष्टि करते हैं कि विश्व धीरे-धीरे सभ्यताओं के संघर्ष की ओर उन्मुख हो रहा है। आतंकवादी विरोध के लिए प्रबल जनमत होने के बावजूद विश्व के कई देशों के परिप्रेक्ष्य में हम मानवीय सम्बन्धों को लेकर बंट गए हैं। इस सम्पूर्ण परिप्रेक्ष्य में एक का प्रस्ताव इस रूप में प्रस्तुत किया जा सकता है-

- सह-अस्तित्व की अवधारणा को अधिक व्यापक बनाया जाना चाहिए। सह-अस्तित्व वर्तमान में मानव अस्तित्व के संकट की अवधारणा पर टिका है। भय पर आधारित सम्बन्ध टिकाऊ नहीं है। इसलिए पृथ्वी की रक्षा एवं मानव जाति के साथ सम्पूर्ण चर-अचर की रक्षा के उद्देश्य को लेकर सह-अस्तित्व का आधार तैयार किया जाना चाहिए। समान आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए हमारे प्रयत्न पूर्णतः सहयोगपरक होने चाहिए और ऐसे प्रयासों में सबकी सहभागिता सुनिश्चित की जानी चाहिए।
- हितों पर आधारित सम्बन्धों में शोषण एवं अन्याय की मात्रा को न्यूनतम किए जाने का प्रयास किया जाना चाहिए। ऐसे सम्बन्धों में कलह शमन के लिए बल प्रयोग की प्रविधियों का प्रयोग न करके द्विपक्षीय सहयोगपरक प्रविधियों का प्रयोग किया जाना चाहिए।
- मानवीय सम्बन्ध इच्छाओं के विस्तार, भय, शस्त्रीकरण पर आधारित न होकर परस्पर सामंजस्य, उदारता और स्वैच्छिक सादगी पर आधारित होने चाहिए।
- चूंकि हिंसा मानव मस्तिष्क में उत्पन्न होती है इसलिए शांति अथवा अहिंसा का विचार भी वहीं से उद्भूत होता है। चूंकि अभी हमारा मन हिंसा के लिए प्रशिक्षित है इसलिए इसे अहिंसा व शांति के लिए प्रशिक्षित करना चाहिए।

मानवीय सम्बन्धों पर विचार करते समय इस पर भी विचार करना आवश्यक है कि भूख, गरीबी, कुपोषण, असंतुलित विकास आदि के प्रभावों को जानकर सामाजिक पूर्ण निर्माण की बात भी की जाती है। यहां यह विचार स्पष्टत: आवश्यक है कि पूर्ण निर्माण का आधार या इसका केन्द्र बिन्दु मनुष्य को अथवा भौतिक संसाधनों का विकास एवं उसका समान वितरण है क्योंकि मानवीय सम्बन्धों में कटुता का एक कारण विकास के केन्द्र में मनुष्य का न रहना है। समस्त विकास का केन्द्र मनुष्य होने से ही आर्थिक पुन:निर्माण संभव है और वह पुन:निर्माण मानवीय सम्बन्धों को सहयोगपूर्ण बनाने में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभा सकते हैं।

6.2 वार्ताएं–अंतर्राष्ट्रीय कलह के निराकरण के उपायों में वार्ता एक प्रमुख व कूटनीतिक साधन है। यह एक ऐसा साधन है जिसके द्वारा दो राष्ट्रों के सम्बन्धों का पुर्नव्यवस्थापन किया जा सकता है। वस्तुत: अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर राष्ट्रों के सम्बन्ध इतने विविधतापूर्ण होते हैं कि एक राष्ट्र की गतिविधियां, दूसरे राष्ट्र को कई प्रकार से प्रभावित करती हैं। इन गतिविधियों के कारण दो राष्ट्रों के बीच तनाव पैदा होना संभव हो जाता है। अत: इस प्रकार के तनाव को कम करने के लिए, संघर्ष प्रबंधन के लिए, सम्बन्धों के पुर्नव्यवस्थापन के लिए, वार्ता की अपेक्षा की जाती है।

संघर्ष प्रबंधन के कई मार्ग हैं जिसमें सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण यह है कि संघर्षरत पक्षों के बीच किसी प्रकार का सम्पर्क स्थापित हो जाए। यदि संघर्षरत पक्षों के बीच सामंजस्य बढ़ता है तो वे परस्पर और अधिक सहयोग बढ़ाने की दृष्टि से वार्ता आयोजित कर सकते हैं। इस प्रक्रिया का आधार विशेषत: कानून से सम्बन्धित अंतर्राष्ट्रीय न होकर व्यावहारिक सुविधा होती है। मैब्रोमैटिस पैलेस्टाइन कनसेशन सम्बन्धी विवाद के प्रसंग में न्यायाधीश मूर ने कहा–''अंतर्राष्ट्रीय क्षेत्र में और अंतर्राष्ट्रीय कानून के अर्थ में वार्ता एक वैधानिक, व्यवस्थित व प्रशासनिक प्रक्रिया है जिसकी सहायता से राज्य सरकारें अपनी संदिग्ध शक्तियों के प्रयोग द्वारा आपस में अपने सम्बन्धों का संचालन करती है और मतभेदों पर विचार-विमर्श कर उनका व्यवस्थापन व समाधान करती है।''

मूर की परिभाषा से स्पष्ट है कि यह परिभाषा अंतर्राष्ट्रीय न्यायालय के अनुसार दी गयी है। यह एक वैधानिक व निश्चित प्रक्रिया है। वार्ताएं प्राय: शीर्षस्थ व अधिकारियों के बीच की जाती है। इसमें प्रत्यक्ष व अप्रत्यक्ष दोनों वार्ताओं को शामिल किया जाता है। भारत व पाकिस्तान के बीच अल्पसंख्यकों की समस्या और 'नहरी पानी विवाद' को वार्ता के द्वारा ही सुलझाया गया है। नहरी पानी विवाद में भारत पाकिस्तान से वार्ता के लिए तैयार हो गया था और दोनों राष्ट्रों की सहमति से यह विवाद मध्यस्थता के लिए विश्व बैंक को सौंप दिया गया था।

6.2.1 प्रत्यक्ष वार्ता–प्रत्यक्ष वार्ता वह वार्ता कहलाती है जो दो राष्ट्रों के शीर्षस्थ व्यक्तियों, राष्ट्राध्यक्षों व उनके अधिकृत प्रतिनिधियों द्वारा की जाती है। यह वार्ताएं कई स्तरों पर आयोजित की जाती है। राष्ट्र के शीर्षस्थ नेताओं द्वारा की जाने वाली वार्ताएं कूटनीति कही जाती है। 1941 से 1961 के मध्य आयोजित 147 बैठकों का अध्ययन करके जॉन गाल्टुंग ने यह निष्कर्ष निकाले कि–

- ऐसी वार्ताएं नियमित रूप से आयोजित की जानी चाहिए।
- राष्ट्रों के बीच होने वाली वार्ताएं उनके द्वारा अधिकृत सरकारी प्रतिनिधियों के द्वारा की जाती है।
- इन प्रतिनिधियों के द्वारा राष्ट्राध्यक्षों के निर्देशों का कड़ाई से पालन किया जाता है।
- अधिकृत प्रतिनिधियों की भूमिका किसी आयोजन में मात्र हस्ताक्षर करने तक सीमित होती है।

जॉन गाल्टुंग ने उपर्युक्त निष्कर्षों के अलावा प्रत्यक्ष वार्ता के निम्न तीन विषय भी बताए हैं जो निम्न हैं-

- वर्तमान हिंसा को रोकना व उसके लिए शांति व समर्पण संधि करना।
- ऐसे नए समझौते करना जिनका हिंसा से कोई सम्बन्ध नहीं होता है।
- पूर्व में किए गए समझौते अथवा संधियों का पुर्नावर्तन करना।

युद्ध व हिंसा को टालने के लिए शक्ति संधि, प्रत्यक्ष वार्ताओं का ही प्रचलित प्रकार है। 1550 से लेकर 1941 तक क्विंसीराइट ने 178 युद्धों का पता लगाया है जो इन वर्षों में शांति संधि द्वारा सुलझाए गए। यह निष्कर्ष भी सामने आया कि प्राचीन काल की अपेक्षा, आधुनिक समय की संधियां अधिक प्रचलित रही हैं व ऐसी संधियां द्विपक्षीय मामलों में अधिक प्रभावी रही है। 1971 के भारत-पाक युद्ध में पाकिस्तान के द्वारा आत्मसमर्पण के समय की गयी संधि, समर्पण संधि का उदाहरण है। इसी प्रकार चीन व ब्रिटेन के बीच हांगकांग को लेकर समर्पण संधि हुयी थी जिस कारण से चीन, हांगकांग को पच्चीस वर्ष बाद मिला।

युद्धों को रोकने के लिए संधियां, युद्ध संधियां व शस्त्र संधियां भी हुयी हैं। ऐसी संधियों को शांति संधियों से पहले शांतिपूर्ण निपटारे के रूप में देखा जा सकता है। पूर्व संधियों के नवीनीकरण का उदाहरण है- भारत व रूस की शांति संधि जो पहले 25 वर्ष के लिए हुयी थी कालान्तर हार के बाद में शांति काल के दौरान इसे 15 वर्ष के लिए और बढ़ा दिया गया।

वर्तमान में शांतिकालीन संधियों पर अधिक कार्य किए जा रहे हैं। शोधकर्त्ता यह पता लगाने में जुटे हैं कि शांतिकालीन वार्ताएं कैसे अधिक लाभ पहुंचाती हैं। वे उन संभावनाओं को भी खोज रहे हैं जिसके अंतर्गत किसी एक पक्ष के द्वारा पूर्व में किए गए स्वार्थी व्यवहार को बदलकर ऐसी दशाएं पैदा की जाए कि उनके बीच किसी समझौते की सुनिश्चितता हो सके।

6.2.2 अप्रत्यक्ष वार्ता-अप्रत्यक्ष वार्ताएं एकपक्षीय कार्यवाही द्वारा की जाती है। इस दृष्टि से ये वार्ताएं प्रत्यक्ष वार्ताओं की विरोधी हैं क्योंकि अप्रत्यक्ष वार्ताओं में दो राष्ट्रों की सरकारें परस्पर बातचीत नहीं करती। इस प्रकार की वार्ता में एक पक्ष ऐसा कार्य करता है जिससे दूसरा राष्ट्र अपनी नीति में सुधार लाने का प्रयास करता है। 2003 के प्रारम्भ में जब भारत ने कश्मीर में सीमा पर से अपने सैनिकों को हटाया व पाकिस्तान के लिए वायु मार्ग खोलने का निर्णय लिया तो भारत की इस एकपक्षीय कार्यवाही का प्रभाव पाकिस्तान की नीति पर पड़ा और पाकिस्तान ने अपनी सेना को भी सीमा से हटा लिया। इसी तरह से युद्ध के दौरान एक पक्ष द्वारा युद्ध विराम की घोषणा भी इसी का उदाहरण है।

परमाणु अस्त्रों के प्रयोग का भय भी अप्रर्त्यक्ष वार्ताओं का एक उदाहरण है। यह भय युद्ध को रोकने का काम करता है। कोरिया संकट, वियतनाम-संकट ऐसे संकट थे। इन्हें परमाणु अस्त्रों के प्रयोग की धमकी का भय देकर एकपक्षीय कार्यवाही द्वारा सफलतापूर्वक रोका गया। तनाव को कम करने के लिए उठाए गए कदम संघर्ष की स्थिति को मंद कर देते हैं। अमेरिकन राष्ट्रपति जॉन केनेडी ने सोवियत संघ के साथ अपने सम्बन्धों को ठीक करने के लिए शांति सम्बन्धी उनकी रणनीति पर दिए व्याख्यान दिया जिसके पश्चात् 60-70 के दशक में दोनों राष्ट्रों के मध्य तनाव में कमी आयी और 1972 में परमाणु परिसीमन संधि व 1980 में दोनों महाशक्तियों के बीच व्यापार बढ़ा। ये सभी अप्रत्यक्ष वार्ताओं के उदाहरण हैं जो इनकी मध्यस्थता को स्पष्ट कर देते हैं।

वास्तव में वार्ता के की सफलता दोनों पक्षों के द्वारा समस्याओं के समाधान की इच्छा व ईमानदारी पर ही निर्भर है। भारत व पाकिस्तान के बीच अल्पसंख्यकों की समस्या व नहर विवाद को वार्ता के द्वारा ही सुलझाया गया पर पाकिस्तान ने भारत की उदारता का आदर नहीं किया।

6.3 सामूहिक सौदेबाजी- यह एक ऐसी प्रक्रिया है जिसमें दोनों पक्ष आपसी हितों का ध्यान रखते हुए अपने मतभेदों व संघर्षो का निराकरण करते हैं। यह आपसी समझौते द्वारा किसी विवाद का समाधान करने का द्विपक्षीय तरीका है। सामूहिक सौदेबाजी में प्रथम शब्द का अर्थ है-दोनों पक्षों के प्रतिनिधित अपने समूह सम्बन्धी विवाद के निराकरण में सहयोगात्मक आचार प्रदर्शित करे और दूसरे शब्द का सम्बन्ध एक ऐसी लचीली पद्धति से है जिसमें किसी विवाद का निराकरण करने हेतु दोनों पक्षों के प्रतिनिधि सहयोगात्मक रूप अपनाएं। मूलत: यह विधि दोनों पक्षों के सहयोग व लचीलेपन पर आधारित है। संक्षेप में सामूहिक सौदेबाजी दो पक्षों के बीच बातचीत व विचार-विमर्श का एक ऐसा साधन है जिसमें एक या दोनों पक्ष परस्पर मिलकर काम करने वाले व्यक्तियों का समूह होता है। इसकी सफलता बहुत कुछ दोनों पक्षों के परस्पर समायोजन की भावना पर निर्भर करती है। दोनों पक्षों के समायोजन के लिए यह आवश्यक है कि दोनों पक्षों को अपना पक्ष रखने का पूरा अवसर मिले साथ ही यह भी जरूरी है कि दोनों पक्ष पूर्वाग्रहों से मुक्त होकर बात करने के लिए बैठें। पूर्वाग्रह की दशा में कोई भी पक्ष दूसरे पक्ष की बात सुनने के लिए तैयार नहीं होता। परस्पर आदर-भाव व सद्भावना के साथ किया गया विचार-विमर्श ही किसी निर्णय पर पहुंचा सकता है।

सामूहिक सौदेबाजी के लिए यह भी जरूरी है कि जिसके लिए समझौता किया जाना है उसके बारे में अनिश्चितता नहीं होनी चाहिए। प्रो. क्लार्क के अनुसार, ''यह विधि केवल शांतिपूर्ण उदाप्त व दोस्ताना माहौल में ही पनप सकती है।'' जो पक्ष समझौता करवा रहा है वह ईमानदार, योग्य, तटस्थ एवं अपनी जिम्मेदारी को समझने वाला होना चाहिए। ऐसे पक्ष द्वारा किया गया समाधान या निर्णय दोनों पक्षों में पूर्ण विश्वास पैदा कर सकता है व ये दोनों पक्ष समझौते को कानूनी रूप प्रदान करने हेतु राज्य को नियमन हेतु प्रस्तुत कर सकते हैं।

सामूहिक सौदेबाजी की विधि का प्रयोग निरंतर संघर्षरत पक्षों में शांति स्थापना के लिये किया जाता है। यह विधि सामयिक परिवर्तन लाने के लिए भी कारगर है। निरंतर संघर्ष की दशाओं व सामाजिक परिवर्तन- इन्हीं दोनों क्षेत्रों में इस विधि की सफलता अधिक दर्ज की गयी है। विधि के प्रयोग की प्रक्रिया में सर्वप्रथम समस्या को रेखांकित किया जाना आवश्यक है तत्पश्चात् उस समस्या के निदान के लिए प्रक्रिया का चयन- पक्षों व उनके प्रतिनिधियों का निर्धारण आदि आवश्यक है। प्रतिनिधियों के निश्चित हो जाने के बाद प्रलेखों के आधार पर वार्ता आयोजित की जाती है व दोनों पक्षों के बीच ''सहमति'' बनाने का प्रयास किया जाता है। सहमति हो जाने के बाद समझौता व समझौते को लागू करने की प्रक्रिया का निर्धारण होता है। अर्थात् यह विधि समस्या को चिन्हित करने से प्रारम्भ होकर समझौते को लागू करने तक की सम्पूर्ण प्रक्रिया है और चूंकि समझौता परस्पर सहमति के आधार पर होता है इसलिए इस विधि की सफलता अधिक आंकी जाती है। यद्यपि वार्ता व मध्यस्थता की तुलना में इसका प्रयोग अधिक होता है।

6.4 शुभ कार्यालय (Good Offices)- यद्यपि अंतर्राष्ट्रीय कलह शमन का यह एक प्रारम्भिक स्वरूप है, किन्तु कलह शमन की दृष्टि से इनका महत्त्वपूर्ण स्थान है। उनका मुख्य कार्य संघर्षरत पक्षों के बीच पुन: संचार बहाली की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण स्थान है। यह प्रक्रिया मुख्यरूप से निरन्तर अपनाने योग्य नहीं हैं। यह मुख्यत: विवादित पक्षों के बीच संचार में आये अवरोध को समाप्त करने तथा उनके बीच

प्रारंभिक मेल मिलाप के लिए एक ऐसे सुविधाजनक स्थान को उपलब्ध करवाना है जहां दोनों पक्ष सुविधा से संचार बहाली की दृष्टि से प्रयत्न कर सकें। यहां मुख्यत: यह तय किया जाता है कि वार्ता प्रक्रिया किस स्तर पर की जाये? यहां विवाद से सम्बन्धित मत पर गुणवत्ता की दृष्टि से कोई विचार नहीं किया जाता है।

मुख्यत: ये विधि दो पक्षों के बीच किसी तीसरे पक्ष के समावेश को वैध करार देती है। इसको कभी भी द्वेषपूर्ण करार नहीं दिया जाता क्योंकि वार्ता प्रक्रियाओं के प्रारंभ से पूर्व की ऐसी तैयारी महत्त्वपूर्ण मानी जाती है।1951 में भारत पाक तनाव के समय तत्कालीन विवादों को दूर करने के लिए आस्ट्रेलिया ने अपने सद्भाव कार्यालय का उपयोग करना चाहा। भारत के तत्कालीन प्रधानमंत्री पं. जवाहरलाल नेहरू ने इस सम्बन्ध में कहा कि- उन परिस्थितियों में आस्ट्रेलिया के इस प्रयत्न का कोई लाभ नहीं होता। 1947 में संयुक्त राष्ट्र सुरक्षा परिषद ने इण्डोनेशिया व नीदरलैण्ड के झगड़े में अपने सत्प्रयत्न प्रस्तुत किए। इसी प्रकार फ्रांस ने अमेरिका व वियतनाम तथा दक्षिणी वियतनाम को गुड ऑफिस प्रदान किए। इसमें संयुक्त राष्ट्र संघ के महासचिव की भूमिका महत्त्वपूर्ण होती है। उदाहरण के लिए दो दशकों से अधिक के साइप्रस विवाद में सत्प्रयत्न, रेनबो वारियर विवाद में सद्प्रयत्न आदि द्वारा महासचिव ने महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा की है।

6.5 वाद-विवाद- सुरक्षा परिषद् अथवा महासभा, कोई भी सिफारिश करने से पूर्व विवादित पक्षों के प्रतिनिधियों को लिखित अथवा मौखिक रूप से अपने दावे प्रस्तुत करने को आमंत्रित करती है और इस प्रकार उन्हें एक ऐसा मंच प्रदान करती है जहां वे स्वतंत्रतापूर्वक अपनी शिकायतें प्रस्तुत करते हैं तथा द्विपक्षीय कूटनीति के माध्यम से ऐसी स्थिति में पहुंच सकते हैं जहां विवाद के समाधानार्थ कोई समझौता हो सके। यह भी संभव है कि विवादित पक्ष, विवाद को सुलझाने की भावना की उपेक्षा करते हुए, अंतर्राष्ट्रीय मंच का उपयोग केवल विश्व जनमत को अपने अनुकूल करने की दृष्टि से करे अथवा दोनों पक्षों के बीच मतभेदों की खाई पहले की अपेक्षा अधिक चौड़ी हो जाय। इस बात की भी पूर्ण आशंका रहती है कि विवाद कूटनीतिक दांवपेचों और राजनीतिक वाद-विवाद के भंवर में फंसकर शीत-युद्ध का रूप धारण कर ले और दीर्घकाल तक चलता रहे, जैसे कश्मीर का विवाद। परिषद् अथवा महासभा में वाद-विवाद का यह सुपरिणाम अवश्य निकलता है कि संयुक्तराष्ट्र के सदस्य विवादित पक्षों के दावों और स्थिति से परिचित हो जाते हैं और अनेक ऐसे तथ्य एवं क्षेत्र प्रकाश में आ जाते हैं जिनके संदर्भ में दोनों पक्षों में समझौते की प्रभावी एवं फलप्रद चेष्टा की जा सकती है।

6.6 जाँच- अनुच्छेद 34 और 36 के अंतर्गत यह व्यवस्था है कि सुरक्षा-परिषद् किसी ऐवे विवाद अथवा स्थिति की जांच-पड़ताल कर सकती है जो अंतर्राष्ट्रीय संघर्ष का रूप ले सकता है अथवा जिससे कोई दूसरा विवाद खड़ा होने की आशंका हो। सुरक्षा-परिषद् इस बात का भी निश्चय करती है कि विवाद की स्थिति जारी रहने पर क्या विश्व की शांति व सुरक्षा को कोई खतरा पैदा हो सकता है। ऐसे विवाद या इस प्रकार की कोई स्थिति पैदा हो जाने पर सुरक्षा-परिषद् किसी भी समय उसके लिए उचित कार्यवाही करने या समाधान के उपायों की सिफारिश कर सकती है। इस प्रकार की सिफारिशें करते समय सुरक्षा-परिषद् को इस बात का विचार करना चाहिए कि सामान्य रूप से कानूनी विवादों को अंतर्राष्ट्रीय न्यायालय के विधान के अनुसार प्रस्तुत किया जाए।

जांच-पड़ताल का उद्देश्य वस्तुत: उन तथ्यों को ज्ञात करना होता है जिनसे विवादित पक्षों के बीच भ्रांति, अज्ञान या मतभेद दूर होकर शांति स्थापित हो सकती है। हेग अभिसमय की धारा 9 के अंतर्गत भी इस प्रकार की व्यवस्था की गई थी कि तथ्यमूलक विवाद की जांच के लिए दोनों पक्षों

द्वारा चुने गए व्यक्तियों का एक अंतर्राष्ट्रीय आयोग बनाया जाए। 1924 में वाशिंगटन में हुए समझौते के अनुसार भी एक जांच आयोग स्थापित करने का निश्चय किया गया था।

अंतर्राष्ट्रीय संस्थाएं सौमनस्य एंव जांच-आयोग के माध्यम से अनेक समस्याओं को सुलझाने की चेष्टा करती रही हैं। उदाहरण के लिए, 1931 में मंचूरिया-काण्ड के लिए राष्ट्रसंघ द्वारा लिटन आयोग नियुक्त किया गया था। फिलीस्तीन में अरब देशों और इजराइल के बीच स्थाई शांति स्थापित कराने के उद्देश्य से भी एक सौमनस्य आयोग नियुक्त किया गया था। इण्डोनेशियाई और कश्मीर विवाद में भी संयुक्त राष्ट्रसंघीय आयोगों ने बड़ी श्रमसाध्य भूमिका अदा की थी। प्लानो एवं रिग्ज ने लिखा है कि सामान्यत: दोनों कार्य-तथ्यान्वेषण और मध्यस्थता जांच एवं मध्यस्थता आयोग को सौंपे जाते हैं और राष्ट्रसंघ की तरह ही संयुक्त राष्ट्रसंघ भी अपने क्षेत्राधिकार में आने वाले महत्त्वपूर्ण विवादों के लिए जांच एवं मध्यस्थता आयोग नियुक्त करता रहा है। यद्यपि कुल मिलाकर उनकी भूमिका प्रभावशाली रही है। यदि आयोग कोई समझौता कराने में असफल भी रहे तो भी विवादित पक्षों में निरन्तर सम्पर्क रखकर स्थिति अथवा विवादित पक्षों के दृष्टिकोण में आने वाले परिवर्तनों पर पैनी नजर रखकर तथा संयुक्त राष्ट्रसंघ 'उपस्थिति' के माध्यम से संयमित प्रभाव डालकर उन्होंने बड़ा उपयोगी कार्य किया है।

6.7 संराधन- विवादों के निबटारे का यह एक अन्य साधन है। इसमें वे विभिन्न तरीके शामिल हैं जो तीसरे पक्ष द्वारा दो या अधिक राज्यों के विवादों को शांतिपूर्वक हल करने के लिए अपनाए जाते हैं। प्रो. ओपेनहेम के अनुसार-''यह विवाद के समाधान की ऐसी प्रक्रिया है जिसमें कार्य कुछ व्यक्तियों के आयोग को सौंप दिया जाता है। यह आयोग दोनों पक्षों का विवरण सुनता है तथा विवाद को तय करने की दृष्टि से तथ्यों के आधार पर अपना प्रतिवेदन देता है। इसमें विवाद के समाधान के लिए कुछ प्रस्ताव होते हैं। ये प्रस्ताव किसी पंचाट या अदालती निर्णय की भांति अनिवार्य रूप से मान्य नही होते।''

1899 और 1907 के हेग अभिसमय में संराधन के आयोगों द्वारा विवादों के शांतिपूर्ण निपटारे की व्यवस्था है। प्रो. हडसन ने लिखा है कि-''संराधन की प्रक्रिया में तथ्यों का अन्वेषण और विरोधी दावों का समन्वय किया जाता है। उसके पश्चात् विवाद के समाधान के लिए प्रस्ताव तैयार किए जाते हैं। इन प्रस्तावों को स्वीकार करने अथवा न करने की स्वतंत्रता दोनों पक्षों को होती है।'इस प्रकार कहा जा सकता है कि संराधन की प्रक्रिया में तीन बातें शामिल हैं- तथ्यों की जांच, मध्यस्थता एवं विवाद के लिए प्रस्तावों का प्रेषण। इस प्रक्रिया का विकास हेग अभिसमय के बाद हुआ।

संराधन पंच-निर्णय से भिन्न है। संराधन के अंतर्गत विभिन्न पक्ष इसके प्रस्तावों को स्वीकार करनेया न करने के लिए पूर्ण रूप से स्वतंत्र होते हैं। दूसरी ओर पंच-निर्णय के अंतर्गत सम्बन्धित पक्षों को पंचाट द्वारा निर्धारित निर्णय मानना पड़ता है। संराधन-आयोग के महत्त्व के सम्बन्ध में संदेह नहीं किया जा सकता। राष्ट्रसंघ की परिषद् ने अने अवसरों पर इस प्रणाली का उपयोग किया था। यह जांच के अंतर्राष्ट्रीय आयोग तथा पंच-निर्णय के बीच की प्रक्रिया।संराधन और मध्यस्थता के बीच भी अंतर है। प्रथम के अंतर्गत दोनों पक्ष अपना विवाद दूसरे व्यक्तियों को इसलिए सौंपते हैं कि वे तथ्यों की निष्पक्ष जांच के बाद उसके समाधान के प्रस्ताव प्रस्तुत करें। यहां पहल विवाद के पक्षों द्वारा की जाती है। मध्यस्थता में पहलकर्ता तीसरा राज्य होता है। वह स्वयं विवाद के पक्षों के बीच वार्ता आरंभ कर विवाद को हल करना चाहता है।

संराधन में तीसरे पक्ष का संघर्ष के मूलभूत कारणों में सम्मिलित होना आवश्यक सा है। यद्यपि यह बहुत सीमित स्तर पर होता है। संराधन एक ऐसी प्रक्रिया है जो विवादग्रस्त पक्षों को परस्पर सहमति के आधार पर समाधान के लिए प्रेरित करती है। यह कोई आधारभूत प्रस्ताव नहीं देता। दोनों

पक्षों के बीच वार्ता चलती रहे इसके लिए सहयोग करता है। संराधन संघर्ष की प्रकृति को उजागर करने की योजना पर चलता है क्योंकि संघर्ष की प्रकृति को विवादित पक्ष क्रोध एवं पूर्वाग्रहों के कारण देख नहीं पाते हैं। संराधन कुछ ऐसे उपाय प्रस्तुत करता है जिसमें से विवादित पक्ष स्वैच्छा से किसी भी विकल्प का चयन कर सके। इस दृष्टि से संराधक की भूमिका सहायक की है दिशा निर्देशक की नहीं। वैयक्तिक या छोटे समूह के झगड़ों में संराधन के अंतर्गत व्यक्तिगत या मनोवैज्ञानिक परामर्श को भी सम्मिलित किया जाता है जैसे वैवाहिक मामलों में यदि विवाद राजनैतिक समूह या संगठनों के बीच है तो संराधन में कानूनी सलाह को भी सम्मिलित किया जाता है। इसका उद्देश्य दोनों पक्षों को सहायता प्रदान करना होता है। इससे दोनों पक्षों के बीच संघर्ष का निराकरण हो जाता है और सामान्य सम्बन्ध बहाल हो जाते हैं।

जब संराधन असफल या अपर्याप्त होता है तब तीसरे पक्ष के हस्तक्षेप की एक प्रक्रिया मध्यस्थता है। एक मध्यस्थ संघर्ष प्रबंधन की सभी प्रविधियों का प्रयोग करता है उसमें संराधन तक की सभी विधियों का समावेश हो जाता है। यहां मध्यस्थ की भूमिका सहायक की नही होकर, दिशा निर्देशक की होती है और वह विवादित पक्षों के समक्ष विवाद को समाप्त करने के लिए ठोस प्रस्ताव प्रस्तुत करता है। संराधन जहां दोनों पक्षों के विचारों को स्पष्ट करने, उन्हें तकनीकी सलाह देने अथवा एक विशिष्ट विकल्प की क्रियान्वित करने तक सीमित रहता है, वही मध्यस्थ समाधान के मार्ग में आने वाली बाधाओं को दूर करने के लिए ठोस प्रस्ताव सुझाता है। शांतिपूर्ण निपटारे की प्रक्रिया में एक मध्यस्थ का निष्पक्ष होना बहुत आवश्यक होता है। साथ ही एक मध्यस्थ की स्वीकार्यता के लिये उसकी भूमिका कानूनी और विशेषज्ञ की होनी आवश्यक है। इस दृष्टि से एक मध्यस्थ के लिये आचार संहिता का निर्धारण भी किया जाने लगा है जिससे मध्यस्थता अब एक व्यवसाय का रूप लेता जा रहा है।

संराधन और मध्यस्थता जब दोनों ही असफल हो जाते हैं तो ऐसी स्थिति में विवाद का कानूनी निपटारा किया जाता है। जिसमें विवादित पक्ष द्वारा किए अधिकृत व्यक्ति, जिसे हम विवाचक कहते हैं, को सौंप सकते हैं अथवा वे चाहे तो अपना विवाद ट्रिब्यूनल के समक्ष प्रस्तुत कर सकते हैं। इस स्तर पर कलह प्रबंधन की विधियां सरकारी प्रशासनिक विधियों में बदल जाती हैं।

6.8 मध्यस्थता–मध्यस्थता, शांतिपूर्ण निपटारे हेतु तीसरे पक्ष के हस्तक्षेप की एक महत्त्वपूर्ण विधि है। इसका प्रयोग पूरे विश्व में प्राचीन काल से अनेक रूपों में होता रहा है। वर्तमान अंतर्राष्ट्रीय राजनीतिक परिदृश्य में मध्यस्थता का महत्त्व अधिक रूप से बढ़ा है। परंपरागत रूप में मध्यस्थता का प्रयोग पारिवारिक झगड़ों, कर्मचारी व प्रबंधकों के बीच झगड़ों को निपटाने के लिए होता था। अब इसका प्रयोग सामुदायिक संघर्ष, प्रजातीय संघर्ष व अंतर्राष्ट्रीय विवादों के क्षेत्र तक व्यापक हो गया है। अंतर्राष्ट्रीय सम्बन्धों में मध्यस्थता, न्यायाधीश व वकीलों आदि के द्वारा की जाती रही है। अब मध्यस्थता के कार्यक्रमों में शांति शोधकर्त्ता व अन्य सामाजिक कार्यकर्त्ता भी जुड़े हैं। 1970–1980 के बीच मध्यस्थता पर काफी साहित्य सृजन हुआ। इसके बढ़ते प्रयोग के कारण शांति कार्यकर्त्ताओं में यह विचार विकसित हो रहा है कि युद्ध व अन्याय जैसी समस्याओं का समाधान दोनों पक्षों से बातचीत के द्वारा ही निकाला जा सकता है।

जब विवादग्रस्त पक्ष समझौता वार्ता द्वारा अपने मतभेदों को सुलझाना नहीं चाहते या इस कार्य में असफल हो जाते हैं तो तीसरा राज्य अपनी सत्सेवा या मध्यस्थता द्वारा इन मतभेदों को मित्रतापूर्ण तरीके से दूर करने में सहायता कर सकता है। यह स्थिति प्रायः तब आती है जब विवादग्रस्त पक्ष अपने स्वार्थों के कारण उचित व अनुचित का अंतर नहीं करते। कलह शमन में मध्यस्थता को अलग

रखा जाना आवश्यक है। सामान्य रूप से यह कहा जा सकता है कि मध्यस्थता शांतिपूर्ण समाधान की विधियों की शृंखला की एक कड़ी है। इसे संराधन व विवाचन के बीच की कड़ी कहा जा सकता है। कभी-कभी मध्यस्थता का प्रयोग एक व्यापक अर्थ में किया जाता है जिसमें शांतिपूर्ण हस्तक्षेप की सभी विधियां समाहित हो जाती हैं। इस रूप में मध्यस्थता एक व्यक्ति या संस्था का रूप ले लेती है।

शांतिपूर्ण हस्तक्षेप का सबसे कमजोर प्रकार संघर्षरत पक्षों के बीच संचार को स्थापित करना व उसे बढ़ाना है। संचार के अभाव में सम्बन्ध टूटते हैं तथा अंतवैयक्तिक व अंतर्समूह के स्तर पर इससे कड़वाहट व विरोध बढ़ता है। राजनीतिक सम्बन्ध के स्तर पर संचार के टूट जाने से दोनों पक्षों के बीच ऐसे कार्यों की योजना बनायी जाती है जिससे एक दूसरे पक्ष को क्षति पहुंचायी जा सके व यहां तक कि उन्हें नष्ट किया जा सके। शांतिकर्मियों या किसी अन्य पक्ष के द्वारा प्रयत्नपूर्वक उनके बीच अप्रत्यक्ष सम्पर्क स्थापित कर दिया जाए तो कालांतर में आमने-सामने की वार्ता संभव हो सकती है। निष्पक्ष स्थान के चयन की भूमिका, शुभ कार्यालय द्वारा निभाई जाती है। जैसे ही विवादित पक्षों के बीच प्रत्यक्ष सम्पर्क स्थापित हो जाता है तीसरे पक्ष की भूमिका स्वत: समाप्त हो जाती है क्योंकि तब वार्ता, विवादित पक्षों को बिना किसी प्रबंधन के योग्य बना देती है। पर यदि यहां कुछ बुरी प्रवृत्तियां जैसे-पूर्वाग्रह, संघर्ष का ध्रुवीकरण व उकसाने की कार्यवाही आदि उपस्थित रहती है तो इस दशा में वार्ताएं असफल हो जाती हैं। असफलता के इस दौर में यह जरूरी हो जाता है कि तीसरा पक्ष पुन: हस्तक्षेप करे। इसे हम संराधन की कार्यवाही कह सकते हैं।

संराधन में तीसरे पक्ष का संघर्ष के मूलभूत कारण में सम्मिलित होना आवश्यक है। यद्यपि यह बहुत ही सीमित स्तर पर होता है। संराधन वह प्रक्रिया है जो विवादित पक्षों को परस्पर सहमति के आधार पर, समाधान के लिए प्रेरित करती है। यह कोई आधारभूत प्रस्ताव नहीं होता है। दोनों पक्षों के बीच वार्ता चलती रहे, इस हेतु संराधन सहयोग करता है। संराधन, संघर्ष की प्रकृति को उजागर करने की योजना पर चलता है क्योंकि संघर्ष की प्रकृति को, विवादित पक्ष क्रोध व पूर्वाग्रहों के कारण देख नहीं पाते हैं। संराधन कुछ ऐसे संभव उपाय प्रस्तुत करता है जिनसे विवादित पक्ष स्वेच्छा से किसी भी विकास का चयन कर सके। इस दृष्टि से संराधक की भूमिका सहायक की होती है। दिशा निर्देशक की नहीं। वैयक्तिक या छोटे समूहों के झगड़ों में संराधन के अंतर्गत व्यक्तिगत या मनोवैज्ञानिक परामर्श को भी सम्मिलित किया जाता है। प्राय: वैवाहिक मामलों में इसका प्रयोग होता है। यदि विवाद राजनैतिक संगठनों के बीच है तो संराधन में कानूनी सलाह को भी सम्मिलित किया जाता है। इससे दोनों पक्षों के बीच संघर्ष का निराकरण हो जाता है व सामान्य सम्बन्ध बहाल हो जाते हैं।

जब संराधन, असफल या अपर्याप्त हो तब तीसरे पक्ष की हस्तक्षेप की एक प्रक्रिया मध्यस्थता है। एक मध्यस्थ संघर्ष प्रबंधन की सभी विधियों का प्रयोग करता है उसमें संराधन तक की सभी विधियों का समावेश हो जाता है। यहां मध्यस्थ की भूमिका सहायक की न होकर दिशा-निर्देशक की होती है और वह विवादित पक्षों के बीच विवाद को समाप्त करने के लिए ठोस प्रस्ताव प्रस्तुत करता है। शांतिपूर्ण निपटारे की प्रक्रिया में एक मध्यस्थ का निष्पक्ष होना बहुत जरूरी होता है व साथ ही एक मध्यस्थ की स्वीकार्यता के लिए उसकी भूमिका कानूनी व विशेषज्ञ की होनी जरूरी है। इस दृष्टि से एक मध्यस्थ के लिए आचार संहिता का निर्धारण भी किया जाने लगा है जिससे मध्यस्थता का कार्य अब एक व्यवसाय का रूप लेता जा रहा है।

मध्यस्थता करने वाला राष्ट्र विवादित पक्षों में उत्पन्न नाराजगी के भावों को दूर करता है। वह विरोधी दावों में समन्वय स्थापित करता है। कई बार इससे युद्ध की संभावनाएं टल जाती हैं व विवादों

का समाधान भी हो जाता है। शुभ कार्यालय या मध्यस्थता करने वाला एक व्यक्ति या संगठन हो सकता है। यह ध्यान देने योग्य बात है कि सत्सेवा व मध्यस्थता में जो अंतर है वह प्राय: संयुक्त राष्ट्र संघ के व्यवहार में नहीं दिखाई देता है। 1947 में सुरक्षा परिषद् ने इण्डोनेशिया के लिए जो संयुक्त राष्ट्र संघ की सत्सेवा समिति की नियुक्ति की थी उसके कार्य, सत्सेवा से अधिक थे। इसी प्रकार 1951 में संघ की महासभा द्वारा कोरिया विवाद के समय नियुक्त समिति भी व्यापक दायित्वों से युक्त थी। राजनयिक व्यवहार व संधियां सामान्यत: शुभ कार्यालय व मध्यस्थता के बीच अंतर नहीं करती इसलिए अंतर्राष्ट्रीय विवादों के निपटारे में ये प्राय: एक ही माने जाते हैं।

मध्यस्थता का अच्छा उदाहरण रूस द्वारा 1965 के अंत व 1966 के प्रारम्भ में भारत व पाकिस्तान के बीच ताशकंद समझौता कराना है। रूस का प्रयास सत्प्रयत्न व मध्यस्थता का मिश्रण था क्योंकि रूस ने वार्ता के लिए ताशकंद का स्थान प्रदान किया जो सत्सेवा का उदाहरण था व कुछ सामान्य सुझाव भी दिए जिनसे समस्या का हल हो सके।

चूंकि इस आधार पर लिए गए निर्णय व सुझाव पक्षकारों के लिए बाध्यकारी नहीं होते हैं। अत: जब संराधन व मध्यस्थता दोनों ही असफल हो जाते हैं तो ऐसी दशा में विवाद का कानूनी निपटारा किया जाता है जिसमें विवादित पक्ष एक-एक अधिकृत व्यक्ति जिसे हम विवाचक कहते हैं को सौंप सकते हैं या वे चाहे तो अपना विवाद आयोग के समक्ष प्रस्तुत कर सकते हैं। इस स्तर पर कलह प्रबंध की विधियां सरकारी प्रशासनिक विधियों में बदल जाती है।

सत्सेवा और मध्यस्थता के बीच संक्षिप्त सा अंतर है। सत्सेवा में, तीसरा राष्ट्र दोनों पक्षों को एक-साथ बैठाता है और विवाद को सुलझाने के लिए सुझाव देता है। वह विवाद से सम्बन्धित विषयों में पूछताछ कर सकता है किन्तु इसमें तीसरा राज्य वास्तविक समझौता-वार्ता में भाग नहीं लेता। मध्यस्थता के समय हस्तक्षेपकर्त्ता राष्ट्र स्वयं, वार्ता में भाग नहीं लेता। यह अपनी ओर से सुझाव देता है और सभी विचार-विमर्शों में सक्रिय रूप से भाग लेता है। कभी-कभी विवादपूर्ण पक्ष यह मान लेते हैं कि मध्यस्थ द्वारा जो सुझाव दिया जाएगा वे उसे स्वीकार कर लेंगे किन्तु प्राय: ऐसा नहीं होता और मध्यस्थ के प्रस्ताव को मानना या न मानना दोनों पक्षों की इच्छा पर निर्भर होता है।

अंतर्राष्ट्रीय सम्बन्धों के इतिहास में ऐसे अनेक उदाहरण प्राप्त होते हैं जब तीसरे राज्यों की ओर से दो राज्यों के विवादों को सुलझाने के लिए हस्तक्षेप किया गया। कभी-कभी यह हस्तक्षेप सशस्त्र सेनाओं द्वारा भी होता है। ऐसी स्थिति में हस्तक्षेप करने वाला राज्य विवाद में एक नया तत्त्व और जोड़ देता है। दूसरी ओर हस्तक्षेप मित्रतापूर्ण एवं गैर-दबावकारी प्रकृति का भी होता है। इसमें दोनों पक्षों को विवाद निपटाने के लिए कुछ सुझाव दिए जाते हैं और उनको स्वीकार करने या न करने की स्वतंत्रता भी दी जाती है।

1899 के हेग सम्मेलन में सम्बन्धित पक्ष, सामान्य शांति की स्थापना के लिए मैत्रीपूर्ण हस्तक्षेप के महत्त्व से प्रभावित हुए थे। अंतर्राष्ट्रीय विवादों के शांतिपूर्ण समाधान के अधिनियम में यह कहा गया था कि शस्त्रों से काम लेने से पूर्व, एक या दो मित्रतापूर्ण शक्तियों की मध्यस्थता अथवा सत्सेवा का प्रयोग किया जाए। अधिनियम की आगे की धारा में यह कहा गया था कि तीसरी शक्तियां स्वयं पहल करके अपनी सत्सेवा एवं मध्यस्थता का प्रयोग कर सकती हैं। ऐसा मनमुटाव के समय भी किया जा सकता है। इसे अमैत्रीपूर्ण कार्य नहीं माना जाएगा। सम्बन्धित पक्ष तीसरे राज्य के सुझाव को मानने, न मानने के लिए स्वतंत्र होता है। हेग अधिनियम की धारा 6 के अनुसार ये उपाय केवल परामर्शात्मक

होते हैं बाध्यकारी नहीं होते। यदि एक राज्य ने मध्यस्थता स्वीकार की है तो इसका अर्थ यह कदापि नहीं होता कि वह आवश्यक समझने पर युद्ध छेड़ नहीं सकता।

मध्यस्थता करने वाला राज्य विवादित राष्ट्रों में उत्पन्न नाराजगी के भावों को दूर करता है। वह विरोधी भावों में समन्वय स्थापित करता है। इससे युद्ध की संभावनाएं टल जाती हैं तथा तीसरे राज्यों की मध्यस्थता से विवादों का समाधान हो जाता है।प्लानो एवं रिग्ज के अनुसार विवाद की समाधान-प्रक्रियाओं हेतु सुरक्षा-परिषद् या महासभा द्वारा जो सिफारिशें की जाती हैं, उनमें अधिकारियों के उच्चतर स्तर पर द्विपक्षीय पुनर्वाताएं, सलाह-मशविरा, किसी संयुक्त राष्ट्रीय आयोग द्वारा जांच एवं मध्यस्थता, किसी संयुक्त राष्ट्रसंघीय प्रतिनिधि या मध्यस्थ की नियुक्ति, किसी क्षेत्रीय अभिकरण को निर्दिष्ट या संदर्भित करना, पंच-निर्णय, न्यायिक-निर्णय आदि सम्मिलित हैं। समाधान की शर्तें, जनमत-संग्रह कराकर, आत्म-निर्णय द्वारा समाधान, सीमा-रेखाओं के पुर्ननिर्धारण, विवादग्रस्त क्षेत्र के विभाजन, किसी विवादग्रस्त क्षेत्र का संयुक्त राष्ट्रीय प्रशासन के अंतर्गत अंतर्राष्ट्रीयकरण आदि का रूप भी ले सकती हैं। पर यह आवश्यक है कि समाधान किए जाने वाले प्रयास या साधन ऐसे हों जिनको दोनों पक्षों द्वारा मान्य होने की संभावनाएं प्रबल हों।

यद्यपि सत्सेवा और मध्यस्थता के प्रयत्नों की सफलता की संभावना रहती है, तथापि संपादन की शर्तें या सुझाव प्रस्तावित करने में यह खतरा भी बना रहता है कि जहां परिषद् या महासभा ने एक बार न्यायपूर्ण समाधान का निर्णय ले लिया तो वहां संयुक्त राष्ट्रसंघ के दृष्टिकोण और व्यवहार की लोचशीलता समाप्त हो जाती है। उदाहरण के लिए कश्मीर-विवाद में सुरक्षा-परिषद् ने दृढ़तापूर्वक अपने इस पूर्व-निर्णय को बदलने से बार-बार इंकार कर दिया है कि भारत एवं पाकिस्तान के बीच इस विवाद का समाधान राज्य में जनमत-संग्रह द्वारा किया जाए। पाश्चात्य राजनीतिज्ञ प्रायः यह पक्षपातपूर्ण एवं दुराग्रहपूर्ण आरोप लगाते हैं कि 1949 में भारत और पाकिस्तान दोनों ही कश्मीर जनमत-संग्रह के लिए सहमत हो गए थे, लेकिन आगे चलकर भारत ने इस समझौते के क्रियान्वयन से इंकार कर दिया। यह आश्चर्य की बात है कि आलोचक इस तथ्य को भुला देते हैं कि ''जनमत-संग्रह कराने का प्रश्न स्पष्टतः इस शर्त के साथ जुड़ा हुआ था कि पाकिस्तान कश्मीर से अपनी फौजें हटा लेगा।'' पर पाकिस्तान ने कई वर्षों तक इस शर्त को पूरा नहीं किया और उस बीच कश्मीर का स्वरूप बिलकुल बदल गया तथा 1954 में कश्मीर संविधान सभा ने वैधानिक तौर पर कश्मीर के भारत में विलय का अनुमोदन कर दिया। पश्चिमी महाशक्तियों की कुटिल राजनीति का शिकार बनते हुए भारत ने पाकिस्तान को न केवल समान दर्जा दिया वरन् सेनाओं को कश्मीर से हटाने सम्बन्धी व्यवस्था में पाकिस्तान द्वारा पालन न किए जाने के तथ्य की भी उपेक्षा कर दी। यह तथ्य भी ध्यान देने योग्य हैं कि कश्मीर पर आक्रमण का प्रश्न ही सुरक्षा-परिषद् के अधिकार क्षेत्र में आता है, भारत में कश्मीर के विलय का प्रश्न नहीं।

6.9 विवाचन-वार्ता, मध्यस्थता, जांच आदि वे उपाय हैं जो निर्णयेतर उपाय कहे जाते हैं क्योंकि इनमें विवादित पक्ष इस बात के लिए बाध्य नहीं होते कि वे इन उपायों को स्वीकार करें। इन्हें प्रभावशाली बनाने के लिए कुछ अन्य उपाय विकसित किए गए हैं, जिसमें निर्णयों को मानना दोनों पक्षों के लिए अनिवार्य है। इनमें से एक निर्णयात्मक उपाय है- विवाचन। न्यायिक प्रक्रिया के द्वारा राष्ट्रों के बीच विवादों के निपटारे की प्रक्रिया को विवाचन कहते हैं। प्रो. ओपनहेम के अनुसार, ''विवाचन का अर्थ है राष्ट्रों के मध्य विवाद का समाधान कानूनी निर्णय द्वारा किया जाए। ऐसा निर्णय एक या अनेक पंचों के न्यायाधिकरण द्वारा होता है जो अंतर्राष्ट्रीय न्यायालय से भिन्न प्रकृति का है।''

विवाचन, कानून के सम्मान पर आधारित न्यायाधीशों का प्रयोग करते हुए व विवादित पक्षों द्वारा चुनी हुयी स्थितियों के आधार पर किया जाता है। विवाचन का उद्देश्य विरोधी पक्षों के बीच सामंजस्य स्थापित करना होता है जिसके लिए वे परस्पर अविश्वास व अन्य रूकावटों को दूर करने का प्रयत्न करते हैं। विवाचन चूंकि न्याय निर्णय होता है इसलिए इसमें समझौते का कोई स्थान नहीं होता। इसमें विवादित पक्ष अपने विवाद को कूटनीतिक प्रक्रियाओं की अपेक्षा न्यायिक प्रक्रिया द्वारा निपटाने में विश्वास व्यक्त करता है। यद्यपि विवाचन का प्रयोग अन्तर्राष्ट्रीय कलह-शमन के क्षेत्र में बहुत अधिक नहीं होता पर सीमा विवाद, क्षेत्रों को लेकर विवाद अथवा इसी तरह के अन्य विवाद जो परम्परागत मित्र राष्ट्रों के साथ हों, उनके लिए इस विधि का प्रयोग किया जाता है। पंचों व न्यायाधीशों के चयन के बाद सम्बन्धित पक्ष उन आधारों का भी चुनाव करते हैं जिनके द्वारा विवाद का समाधान खोजा जा सके। इस प्रक्रिया के द्वारा जो समाधान खोजा जाता है उसे मानना दोनों पक्षों के लिए बाध्यकारी होता है। यद्यपि विवादित पक्ष निर्णय की व्याख्या, निर्णय के सुधार या इस पर पुनर्विचार के लिए निवेदन कर सकते हैं तथा त्रुटिपूर्ण निर्णय या फैसले के लिए पक्षकार उस निर्णय को चुनौती भी दे सकते हैं।

यदि पंच निर्णय के फैसले को एक पक्ष स्वीकार कर ले व दूसरा पक्ष इसे स्वीकार न करे तो उसे स्वीकार कराने के लिए भी उपाय अपनाए जा सकते हैं। विश्व जनमत व अन्तर्राष्ट्रीय कानून ऐसे जनमत के विपरीत हो जाता है। 1951 में कश्मीर का प्रश्न, पंच निर्णय को सौंपने का प्रस्ताव भारत के सामने रखा गया पर उसने इसे स्वीकार नहीं किया क्योंकि वह इस मुद्दे को महाशक्तियों पर नहीं छोड़ना चाहता था। आगे चलकर कच्छ के रण विवाद को पंच निर्णय से सुलझाया गया था।

6.9.1विवाचन का इतिहास-आधुनिक अंतर्राष्ट्रीय विवाचन, 1794 की एक संधि के पुनरावर्तन के रूप में देखा जाता है। वह संधि इंग्लैण्ड व अमेरिका के बीच विवाद के सम्बन्ध में थी। दोनों पक्षों ने विवाद के निपटारे के लिए आयोग गठित किए व दोनों ही राष्ट्रों द्वारा अपने-अपने आयुक्त भी नियुक्त किए गए। ये आयोग कूटनीतिक व न्यायायिक- दोनों प्रक्रियाओं के मिले-जुले रूप थे जो विवाद के निपटारे के लिए व उसके प्रभावों के आकलन के लिए साधन जुटाते थे। धीरे-धीरे मिश्रित आयोगों में न्यायिक प्रक्रिया अधिक प्रभावी होती गयी और कूटनीतिक प्रक्रिया कम होती चली गई। इंग्लैण्ड व अमेरिका के बीच 1872 में अलबामधावा का दावा, आधुनिक विवाचन में मील का पत्थर साबित हुआ। इस विवाद को हल करने में मिली सफलता के बाद यह प्रस्ताव आया कि अंतर्राष्ट्रीय विवाचन के लिए कोई स्थायी व्यवस्था होनी चाहिए जिससे इसे व्यवस्थित स्वरूप दिया जा सके।

1899 का हेग सम्मेलन और 1907 में अंतर्राष्ट्रीय विवादों के शांतिपूर्ण निपटारे के लिए हुए सम्मेलन में, विवाचन हेतु एक स्थायी व्यवस्था प्रदान की गयी। हेग सम्मेलन में ऐसे विवाद जो कूटनीतिक साधनों द्वारा नहीं निपटाए जा सकते उनके लिए विवाचन को एक प्रभावशाली निष्पक्ष व न्यायसंगत साधन करार दिया।

विवाचन की स्थायी व्यवस्था के लिए एक प्रशासकीय परिषद् और एक अंतर्राष्ट्रीय ब्यूरो की स्थापना की गयी। प्रशासकीय परिषद में विवादित पक्षों के प्रतिनिधि होते हैं जबकि अंतर्राष्ट्रीय ब्यूरो विवाद के निपटारे के लिए एक पंच मण्डल गठित कर उसका पंजीयन करता है। विवादित पक्ष प्रारंभ में अपने दो-दो पंच नियुक्त करते थे और वे चारों पंच मिलकर मुख्य या प्रधान पंच की नियुक्ति करते हैं। इस प्रक्रिया को 1907 के सम्मेलन में लिखित किया जाना अनिवार्य कर दिया गया व पांच की जगह तीन पंचों की नियुक्ति निश्चित की गयी। 1949 में अंतर्राष्ट्रीय आयोग द्वारा एक प्रस्ताव रखा गया जिसे 1953 में पारित किया गया। उसके अनुसार विवाद एक बार विवाचक को सौंपने के पश्चात्

उसे वापिस नहीं लिया जा सकता। अर्थात् विवाद को पंच मण्डल को सुपुर्द करने के बाद उसके निर्णय को मानना बाध्यकारी है।

6.9.2 विवाचन का स्वरूप–विवाचन के मुख्य रूप से दो प्रकार बताए गए हैं– स्वैच्छिक विवाचन, अनिवार्य विवचान।

- **स्वैच्छिक विवाचन**– ऐच्छिक विवाचन से तात्पर्य यह है कि दोनों पक्ष अपने मतभेदों को पारस्परिक रूप से सुलझाने में असमर्थ होने पर तथा मध्यस्थ और समझौताकार के प्रयत्नों से भी कोई सहायता न पाकर अपने विवाद को एक विवाचक के सम्मुख प्रस्तुत करके उसके द्वारा दिए गए निर्णय को मानना स्वीकार कर लेते हैं। इस प्रकार ऐच्छिक विवाचन का मुख्य तत्त्व, ऐच्छिक रूप से किसी विवाद को विवाचक को विवाचन के लिए सौंपना है। इस प्रकार इस विवाचन में यह आवश्यक नहीं रहता है कि बाद में पक्षकारों की उपस्थिति हो या कोई जांच–पड़ताल की जाए या निर्णय को लागू किया जाए, क्योंकि इसमें अनिवार्यता नहीं होती है। ऐच्छिक विवाचन के निर्णय सदैव बाध्यकारी नहीं होते। अपितु जब इन निर्णयों को न्यायालय में पंजीकृत करवा लिया जाता है तो वे बाध्यकारी हो जाते हैं।भारत व ब्रिटेन के मध्य के विवाद को इसी के द्वारा सुलझाया गया था। औद्योगिक विवादों के सम्बन्ध में विवाचन का प्रयोग अधिक किया जाता रहा है। इस उपाय का सुझाव सर्वप्रथम 1921 में महात्मा गांधी ने अहमदाबादके मिलों के श्रमिकों व मालिकों को दिया था। वहां इसे काफी सफलता मिली क्योंकि अधिकांश मामलों में श्रमिकों व मालिकों ने गांधी जी को ही विवाचक नियुक्त किया था। इसके बाद आगामी वर्षो में ऐच्छिक विवाचन को मूर्त रूप दिया गया व 1956 में औद्योगिक विवाद अधिनियम व 1956 में संशोधन करके उसमें कुछ विशेष धाराएं भी जोड़ी गयी।
- **अनिवार्य विवाचन**– अनिवार्य विवाचन वह है जब विवादित पक्ष परस्पर निर्णय करने में असफल रहते हैं या स्वैच्छिक विवाचन में समाधान नहीं हो पाता है तो सम्बन्धित पक्ष न्यायालय द्वारा विवाद का हल करवाते हैं। इसमें दोनों पक्षों को आवश्यक रूप से विवाद को विवाचक को सौंपना पड़ता है। वर्तमान समय में विवाचन का प्रयोग औद्योगिक व व्यावसायिक विवादों को निपटाने में किया जा रहा है। राष्ट्रों के बीच इसका प्रयोग उन क्षेत्रों में अधिक बढ़ रहा है जिनमें विवाद आर्थिक हितों पर आधारित होते हैं। अधिनियम, इसी विवाचन का दूसरा नाम है जिसका आशय है कि सरकार विवाद को विवाचन के लिए किसी अधिकारी को सौप देती है और इसके निर्णय को दोनों पक्षों को मानने को बाध्य करी है। इस प्रकार अनिवार्य विवाचन में, अनिवार्य रूप से गवाहों की उपस्थिति, अनिवार्य रूप से जांच पड़ताल के अधिकार और अनिवार्य रूप से निर्णय को लागू करना और इन विवाचन निर्णयों के उल्लंघन करने पर दण्ड देने की व्यवस्था आदि सब सम्मिलित होते हैं। इस विवाचन के आधार पर दिए गए निर्णय प्रत्येक दशा में बाध्यकारी होते हैं।

द्वितीय महायुद्ध में युद्ध के लिए उत्पादन को जारी रखने व उद्योगों में शांति स्थापित करने के विचार से अनिवार्य विवाचन को कई देशों में अपनाया गया था। भारत में भी इस व्यवस्था को अपनाया गया था और इसमें ऐसी सफलता प्राप्त हुयी कि युद्ध के बाद भी अनिवार्य विवाचन के सिद्धान्त को 1947 के औद्योगिक विवाद अधिनियम में अपना लिया गया।

चूंकि अनिवार्य विवाचन में निर्णय सरकार द्वारा अधिकृत अधिकारियों के हाथ में होता है। अत: सामाजिक न्याय पूर्णतया निर्णायक अधिकारी की कार्यक्षमता, सद्भावना व विद्वत्ता पर निर्भर होता है। अत: अनिवार्य विवचान को जब तक सावधानी से यदा-कदा ही उपयोग में लाया जाए तब तक यह संभावना बनी रहेगी कि राज्य का अनुचित हस्तक्षेप न हो जाए। यह प्रजातंत्र के सिद्धान्त के पूर्णतया विरूद्ध बात होगी। अत: अनिवार्य विवचान का यह सिद्धान्त आलोचनात्मक वाद-विवाद का विषय रहा है। रोयल श्रम आयोग, वी.वी. गिरी, गुलजारी लाल नंदा, खंडुभाई देसाई आदि नेताओं ने इस विवाचन का विरोध किया था। यद्यपि भारत सरकार ने इसे अपनाकर इस विषय पर अधिनियम बनाए हैं पर युद्ध काल में संभवत: अनिवार्य विवाचन ठीक माना भी जा सकता है पर सामान्य अवस्था में इस सिद्धान्त को बनाए रखना अंतत: हानिकारक होगा।

6.9.3 विवाचन के आधुनिक उदाहरण-अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर विवाचन के आधुनिक उदाहरण यह दर्शाते हैं कि उनके द्वारा किए गए समझौते कितने सफल होते हैं। विवाचन के उदाहरण प्राय: विवाद के मुद्दों, ट्रिब्यूनल की प्रक्रिया व उसके अधिकार क्षेत्र को परिभाषित करते हैं। ये उदाहरण इसलिए महत्त्वपूर्ण हैं क्योंकि वे विवाचन के द्वारा निर्णित किए गए और असफलता की दशा में न्यायालय में उन्हें चुनौती भी दी गयी। यद्यपि ऐसे उदाहरण नगण्य हैं। क्योंकि राष्ट्र न्यायिक प्रक्रिया के स्थान पर कुटनीतिक साधनों यथा वार्ता, जांच संराधन आदि के द्वारा शांतिपूर्ण निपटारे पर अधिक विश्वास रखते हैं। संयुक्त राष्ट्र की चार्टर की धारा 2 व 3 तथा अध्याय 6 के प्रावधानों के अंतर्गत राष्ट्र शांतिपूर्ण विधि द्वारा विवादों के निपटारे के लिए स्वतंत्र है। उनकी यह स्वतंत्रता अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर विवाचन के प्रयोग को अत्यन्त अल्प कर देती है। क्योंकि ऐसे राष्ट्र द्विपक्षीय समझौते या संधियों को अधिक महत्त्वपूर्ण मानते हैं। इनकी असफलता की दशा में विवाचन का प्रयोग होता है।

1928 में अमेरिका व नीदरलैण्ड के बीच पनामा द्वीप के स्वामित्व को लेकर विवाद, 1941 में कनाडा की एक कंपनी द्वारा फैलाए गए प्रदूषण व उससे अमेरिका में हुए विनाश को लेकर कनाडा व अमेरिका के बीच विवाद, 1968 में कच्छ के रण को लेकर भारत व पाकिस्तान के बीच विवाद तथा 1977 में इंग्लिश चैनल व फ्रांस के बीच विवाद आदि का निपटारा न विवाचन को परिभाषित करने, उसकी प्रक्रिया को स्पष्ट करने, उसके अधिकारों व सीमाओं को स्पष्ट करने में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई है।

विवाचन का प्रयोग अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर भले ही कम हुआ हो पर अंतर्राष्ट्रीय शांति, सुरक्षा व शांतिपूर्ण निपटारे की दृष्टि से न्यायिक प्रक्रिया के रूप में यह एक महत्त्वपूर्ण विधि है। सीमा विवाद जैसे तकनीकी विवादों जहां विवादित राष्ट्र परस्पर विश्वास खो देते हैं वहां ऐसे मामलों के निपटारों के लिए विवाचन के अतिरिक्त हम यह कह सकते हैं कि विवाचन की प्रभावशीलता, विवादित पक्षों की राजनीतिक इच्छा शक्ति व विवाचन के निर्णय के प्रति सम्मान पर निर्भर करती है। विवाचन की महत्त्वपूर्ण भूमिका के कारण ही वर्तमान में औद्योगिक विवादों से लेकर अंतर्राष्ट्रीय विवादों के समाधान की एक महत्त्वपूर्ण प्रविधि बन गयी है।

6.10 एक पक्षीय समाधान-अंतर्राष्ट्रीय कलह शमन के क्षेत्र में यह एक ऐसी विधि है जिसमें दूसरे पक्ष की स्वीकृति के बिना भी समस्या का समाधान स्वेच्छा से किया जा सकता है। जैसे एक पक्षीय युद्ध विराम की घोषणा, किसी विवाद से अपने आप को स्वेच्छा से हटा लेना या फिर परस्पर लगाये गये प्रतिबंधों को एक तरफा हटा देना।

कलह शमन के क्षेत्र में संयुक्त राष्ट्र में वीटो पावर का उपयोग एक ऐसा अपवाद है जो इस प्रक्रिया को बाधित कर देता है। वर्तमान संघर्ष, चाहे वह परमाणु अस्त्रों से सम्बन्धित हो चाहे सीमा विवाद से सम्बन्धित हो, चाह वैचारिक हो या चाहे अन्य मामलों से सम्बन्धित हो, इनके नियंत्रण में वीटो की भूमिका बढ़ी ही है। किन्तु फिर भी संघर्ष निराकरण के पारस्परिक पद्धतियों का उपयोग भी है। ऐसे बहुत उदाहरण देखने को मिलते हैं जिनमें निजी हितों की पूर्ति के लिए वीटो का प्रयोग किया गया है। यद्यपि अब इस ओर गंभीरता से ध्यान दिया जाने लगा कि परिणामरहित वार्ताओं की अपेक्षा, इन वार्ताओं को बंद कर स्वयं को इन वार्ताओं से हटा लेना ज्यादा अच्छा है। यह तनाव बढ़ाने की प्रक्रिया न होकर तनाव को कम करने की ओर एक महत्त्वपूर्ण एवं सकारात्मक कदम है।

निशस्त्रीकरण वार्ताओं में प्राय: यह देखने को मिला है कि अंतहीन वार्ताओं के स्थान पर किसी एक पक्ष के द्वारा, एकपक्षीय निशस्त्रीकरण की घोषणाओं ने निशस्त्रीकरण के क्षेत्र में आशातीत सफलता प्राप्त की है। ऐसे एकपक्षीय निर्णय बिना किसी औपचारिकताओं के तथा दूसरे पक्ष पर बिना किसी दबाव के संघर्ष को समाप्त करने में कारगर सिद्ध होते हैं। कभी-कभी यह कार्यवाही उस समय भी की जाती है जब समस्या के समाधान के लिये और कोई विकल्प नहीं रह जाता। यहां कानून का सहारा उपयोगी तो होता है किन्तु समस्याएं बहुत अधिक होने के कारण एक पक्षीय समाधान अधिक महत्त्वपूर्ण होता है।

वर्तमान परमाणु अस्त्र संकट में राष्ट्रों के मध्य संचार की होटलाईन व्यवस्था परमाणु संकट को टालने के लिये की गई है। यह एक आश्वासन अवश्य है किन्तु समस्या का समाधान नहीं। होटलाईन अवसर तब देती है जब ऐसे संकट के निपटारे में स्वयं के द्वारा ही कदम उठाया जाना सुरक्षित होता है। प्रतिपक्ष की प्रतीक्षा संकट को विनाश में बदल सकती है। अतएव एक पक्षीय निपटारे की प्रक्रिया सामान्यत: समाधान की गारंटी है।

गांधीजी ने एक पक्षीय निपटारे पर बहुत अधिक बल दिया था। उनका मानना था कि यह वास्तव में अहिंसक कार्यवाही है। संघर्ष से अपने आपको अलग कर लेना या समाप्त कर लेना, संघर्ष से भागना, पलायन करना या प्रतिपक्ष के सामने घुटने टेकना नहीं है वरन् अदम्य साहस के साथ संघर्ष का शांतिपूर्ण समाधान करने की प्रतिबद्धता है। जटिल संघर्षों की दशा में एकपक्षीय निपटारे की प्रक्रिया ही कोई समाधान दे सकती है। वर्तमान अंतर्राष्ट्रीय राजनीति के संदर्भ में हम यह स्पष्ट रूप से देख सकते हैं कि लाहौर व आगरा की वार्ताओं की असफलता के बाद भारत व पाकिस्तान द्वारा उठाए गए एकपक्षीय कदमों से ही उनके सम्बन्धों में सुधार हुआ। इसी प्रकार अंतर्राष्ट्रीय समुदाय में प्रतिस्पर्धा पर आधारित कई जटिल विवादों का समाधान इस प्रक्रिया द्वारा हुआ। नि:शस्त्रीकरण की अंतर्राष्ट्रीय संधि व शस्त्रों में कटौती के प्रस्ताव इसके प्रत्यक्ष उदाहरण हैं।

6.11 तथ्यों की खोज-गुड ऑफिसेस संराधन व मध्यस्थता- इनमें निर्णयों का तब तक कोई महत्त्व नहीं होता जब तक उनके द्वारा कोई समाधान न निकल जाए। बहुधा यही देखा जाता है कि उपलब्ध तथ्यों का विश्लेषण विवादग्रस्त पक्ष अपने-अपने नजरिए से करते हैं। राज्यों के मामलों में तो प्राय: ऐसा होता ही है। अतएव तीसरे पक्ष द्वारा प्रस्तुत किए गए तथ्य व उनका विश्लेषण अधिक महत्त्वपूर्ण होता है। यदि तीसरे पक्ष द्वारा प्रस्तुत तथ्यों को नकार दिया जाता है तो इसका तात्पर्य है- तीसरे पक्ष को अस्वीकार कर देना। अंतर्राष्ट्रीय क्षेत्र में तथ्यों की खोज से सम्बन्धित तकनीक का महत्त्व हाल ही में बढ़ा है। जांच के लिए अंतर्राष्ट्रीय आयोग की स्थापना 1899 के हेग सम्मेलन के समय की गयी जिसका मुख्य कार्य तथ्यों की खोज था। प्रारम्भ में राष्ट्र संघ और उसके बाद संयुक्त राष्ट्र ने

संगठनात्मक प्रबंध की दृष्टि से तथ्यों की खोज को बहुत महत्त्व दिया है। सुरक्षा परिषद् में यह तथ्य उभरकर सामने आया कि जो राष्ट्र संघर्ष में लिप्त हैं वे विरोधी को अपने ही नजरिए से देखते हैं। ऐसी स्थिति में संघर्ष ठहर सा जाता है। यहां निष्पक्ष जांच का प्रस्ताव एक विवेकपूर्ण निर्णय होता है। यद्यपि निष्पक्षता को कई परीक्षाओं से गुजरना होता है। विवादग्रस्त पक्ष जांच को अपने अनुकूल कराने की दृष्टि से उसे गलत दिशा देने का प्रयत्न करते हैं। इसलिए जांच का वस्तुनिष्ठ हो जाना आवश्यक हो जाता है। फिर भी अंतर्राष्ट्रीय समुदाय में शक्तिशाली राष्ट्रों का वर्चस्व, ऐसी जांच को प्रभावित कर अपने अनुकूल निर्णय करवाने में सफल हो जाते हैं। हाल ही में इसका उदाहरण पिछले दशकों में परमाणु अस्त्र-शस्त्रों से सम्बन्धित जांच का रहा है। अमेरिका ने अपने वर्चस्व से संयुक्त राष्ट्र पर्यवेक्षक दल को जांच में अपने अनुकूल कर लिया और इराक पर ऐसे हथियारों को नष्ट करने की दृष्टि से युद्ध थोप दिया गया। युद्ध के दौरान व युद्ध के पश्चात् ऐसे किसी भी तरह के हथियार का न मिलना तथ्यों की खोज पर आधातिर तकनीक पर अमेरिका के वर्चस्व का स्पष्ट प्रभाव एक सटीक उदाहरण है। यद्यपि इससे सम्बन्धित आयोग में 1928 व 1949 में कुछ परिवर्तन किए गए थे पर परिणाम कभी भी उत्साहजनक नहीं मिले।

6.12 न्याय योग्यता- न्याय योग्यता शब्द को लेकर द्वितीय विश्व युद्ध के बाद लिखे गए साहित्य में काफी अस्पष्टता देखने को मिली। प्राय: यह समझा जाता रहा है कि तीसरे पक्ष को निर्णय के लिए जो विवाद सौंपा गया है उसके निर्णय की अस्वीकृति की स्थिति में समाधान के लिए एक ट्रिब्यूनल को मामला सौंपा जा सकता है। ऐसी स्थिति में तीसरे पक्ष की कोई समस्या नहीं रह जाती किन्तु तीसरे पक्ष के बने रहने की स्थिति में यह समस्या बनी रहती है कि तीसरे पक्ष द्वारा दिया गया निर्णय, समस्या का समाधान करेगा या नहीं। यहां प्राय: कानून या तकनीकी सलाह की आवश्यकता होती है ताकि न्याय-योग्यता पर आधारित समस्याएं युद्ध को न भड़का दे।

उदाहरण के लिए द्वितीय विश्व युद्ध के बाद बर्लिन से सम्बन्धित पूर्व-पश्चिम का संघर्ष कानूनी प्रश्नों तक ही सीमित रह गया, जिसे न्यायालय को सौंप देने की अपरिहार्यता सी थी। इस विवाद में कई कानूनी मुद्दे उठाए गए जो निम्न थे-

- सोवियत संघ जर्मन लोगों व सामान को जर्मनी व पश्चिम बर्लिन के बीच भेजने की स्वीकृति देने के लिए बाध्य है।
- पश्चिम जर्मनी व पश्चिम बर्लिन के बीच रेल सड़क या हवाई यातायात की स्वीकृति सोवियत संघ किस सीमा तक देगा।

इन प्रश्नों व कुछ ऐसे ही प्रश्नों के जवाब जब तक ट्रिब्यूनल के द्वारा नहीं जाते तब तक समाधान की दिशा में कोई प्रगति नहीं हो सकती। यही कारण है कि ऐसे ही विवाद शांति के लिए खतरा बन जाते हैं जब उन्हें न्याय के अयोग्य करार दिया जाता है। इसी प्रकार कश्मीर का मुद्दा व परमाणु अस्त्रों का मुद्दा इस प्रकार के मसले हैं जिनकी न्याय योग्यता या अयोग्यता को पूर्णतया साबित नहीं किया जा सकता।

न्याय योग्यता की समस्या यह दर्शाती है कि संघर्षरत पक्ष तीसरे पक्ष को अपना विवाद या तो सौंपने के लिए तैयार नहीं होते या तीसरे पक्ष को विवाद सौंपने से पूर्व कोई कानूनी अथवा तकनीकी सलाह नहीं लेते। यहां न्याय योग्यता दोनों पक्षों के बीच एक नीतिगत मुद्दा होता है। एक पक्ष विवाद को तीसरे पक्ष को सौंपना चाहता है जबकि दूसरा पक्ष ऐसा करने के लिए तैयार नहीं होता। यहां एक प्रश्न उठता है कि एक मुद्दा जो न्याय योग्य है उनके सम्बन्ध में क्या कोई कानूनी अथवा तकनीकी

प्रश्न उठाया जा सकता है? प्राय: ऐसा माना जाता है कि कोई भी ऐसा मामला जो भविष्य में विवाद को पैदा करने वाला है उसे तीसरे पक्ष को नहीं सौंपा जाता और इन्हें न्याय के अयोग्य माना जाता है। ऐसे मामले प्राय: राजनैतिक होते हैं। दूसरी तरफ सभी ऐसे मामले जो समाधान के लिए तीसरे पक्ष को सुपूर्द किए जाते हैं उन्हें न्याय योग्य कहा जाता है। ऐसे मामलों को कानून भी कभी-कभी कहा जाता है। एक मामला न्याय योग्य है या नहीं यह प्राय: संघर्षरत पक्षों पर निर्भर करता है। कोइ भी मामला एक पक्ष के हित के आधार पर ही तीसरे पक्ष को सौंपा जा सकता है व कभी इससे इंकार भी किया जा सकता है। पहली स्थिति न्याय योग्यता की है जबकि दूसरी स्थिति न्याय अयोग्यता की।

प्रश्नोत्तर

निबन्धात्मक प्रश्न

1. संघर्ष निराकरण की कूटनीतिक विधियों की विस्तार से विवेचना कीजिए।

लघुत्तरात्मक प्रश्न

1. अभिवृत्ति परिवर्तन के कारकों व विधियों का वर्णन कीजिए।
2. संघर्ष निराकरण की गांधीवादी विधियों की व्याख्या कीजिए।

वस्तुनिष्ठ प्रश्न

1. व्यवहार की निर्धारित विधि किसे कहा गया है-
   - अ. संघर्ष
   - ब. अभिवृत्ति
   - स. ईर्ष्या
   - द. उपरोक्त में से कोई नहीं
2. निम्न में से कौन-सा तत्त्व अभिवृत्ति निर्माण में सहायक नहीं होता है-
   - अ. समूह प्रबंधन
   - ब. आवश्यकताएं
   - स. सूचनाएं
   - द. उपरोक्त में से कोई नहीं
3. मनुष्य के अंतर्मुखी स्वभाव की विशेषता है-
   - अ. मौन व्यक्तित्व
   - ब. चंचलता
   - स. वाचालता
   - द. उपरोक्त सभी
4. अहमदाबाद के श्रमिकों के संघर्ष निराकरण के लिए गांधीजी ने किस विधि का प्रयोग किया था-
   - अ. धरना
   - ब. सविनय अवज्ञा
   - स. हड़ताल
   - द. बहिष्कार
5. भारत और पाकिस्तान के बीच अल्पसंख्यकों की समस्या को किस विधि द्वारा सुलझाया गया था-
   - अ. मध्यस्थता
   - ब. असहयोग
   - स. वार्ता
   - द. युद्ध
6. भारत व पाकिस्तान के बीच कच्छ के रण का विवाद कब हुआ था-
   - अ. 1968
   - ब. 1960
   - स. 1967
   - द. 1961
7. गांधीजी के अनुसार ..... द्वारा किया गया समाधान ही स्थायी होता है।
8. ..... असहयोग का उग्रतम रूप है।
9. न्यायिक प्रक्रिया के द्वारा राष्ट्रों के बीच विवादों के निपटारे की प्रक्रिया को ..... कहते हैं।
10. ..... को मूलत: हितों का संघर्ष ही कहा जाता है।

इकाई–3

संघर्ष निराकरण और अनेकांत, सापेक्षता, सह–अस्तित्व, सहिष्णुता

उद्देश्य

1. संघर्ष निराकरण के क्षेत्र में अनेकान्त की भूमिका को स्पष्ट करना।
2. अनेकान्त के विभिन्न सिद्धान्तों का अध्ययन करना।

संरचना

1. कलहशमन और अनेकान्त
    - 1.1 अनेकान्त की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि
    - 1.2 अनेकान्त की दार्शनिक पृष्ठभूमि
    - 1.3 वर्तमान युग में अनेकान्त की आवश्यकता
        - 1.3.1 पारिवारिक जीवन एवं अनेकान्त
        - 1.3.2 सामाजिक क्षेत्र में अनेकान्त का प्रयोग
        - 1.3.3 साम्प्रदायिक वैमनस्य और अनेकान्त
        - 1.3.4 राष्ट्रीय व अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं के संदर्भ में अनेकान्त
2. सापेक्ष दृष्टिकोण
    - 2.1 अहिंसा का विकास और सापेक्षता
        - 2.1.1 निरपेक्ष दृष्टिकोण–हिंसा का कारण
    - 2.2 सापेक्षता के सूत्र
    - 2.3 सापेक्षता के प्रयोग
        - 2.3.1 अध्यात्म जगत् में
        - 2.3.2 सामाजिक क्षेत्र में
        - 2.3.3 आर्थिक क्षेत्र में
        - 2.3.4 साम्प्रदायिक कलह के लिए
        - 2.3.5. अंतर्राष्ट्रीय क्षेत्र में
3. सह–अस्तित्व
    - 3.1 सह–अस्तित्व का आधार
    - 3.2 सह–अस्तित्व के प्रयोग
        - 3.2.1 पारिवारिक जीवन में
        - 3.2.2 सामुदायिक जीवन मे
    - 3.3 विश्वशांति और सह–अस्तित्व
    - 3.4 सह–अस्तित्व तीन सूत्र
        - 3.4.1 आश्वासन
        - 3.4.2 विश्वास
        - 3.4.3 अभय
4. सहिष्णुता
    - 4.1 सहिष्णुता का अर्थ

4.2 सहिष्णुता की आवश्यकता

4.3. सहिष्णुता का विकास

4.4 सहिष्णुता के विकास की भूमिकाएं

1.कलहशमन और अनेकान्त

यह पृथ्वी कभी भी धर्म व दर्शन से रिक्त नहीं रही है। भारतवर्ष भी इसका अपवाद नहीं है। भारत में जैन, बौद्ध, वैदिक आदि विविध धर्मों का अस्तित्व रहा है। इन धर्मों के अपने-अपने विशिष्ट सिद्धान्त रहे हैं। अनेकान्त-जैन दर्शन का एक विशेष सिद्धान्त है। इससे ही बौद्धिक अहिंसा का सूत्रपात हुआ है, जो जैनों की अहिंसा-दर्शन में विशेष देन है। इसी देन के कारण अहिंसा जैन दर्शन से जुड़ी हुई है।

1.1 अनेकान्त की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि-भगवान् महावीर के पूर्व भारत-भूमि पर वैचारिक-संघर्ष एवं दार्शनिक विवाद अपनी चरम सीमा पर थे। जैन आगमों के अनुसार उस समय 363 मत प्रचलित थे। इन 363 दार्शनिक सम्प्रदायों को जैन आगमों में चार वर्गों में विभाजित किया गया था-

- क्रियावादी-जो आत्मा को पुण्य-पाप आदि का कर्त्ता-भोक्ता मानते थे।
- अक्रियावादी-जो आत्मा को अकर्त्ता मानते थे।
- विनयवादी-जो आचार-नियमों पर बल देते थे।
- अज्ञानवादी-इनके अनुसार ज्ञान से विवाद उत्पन्न होते हैं, इसलिए अज्ञान ही परम श्रेय है।

वैचारिक आग्रह और मतान्धता के इस युग में बुद्ध और महावीर दो महापुरुष हुए। बुद्ध ने विवाद व मतान्धता से ऊपर उठने के लिए विवाद परांगमुखता को अपनाया। किन्तु इससे मानवीय जिज्ञासा का समाधान नहीं हो पाया। व्यक्ति दार्शनिक विचारों की इस संकुलता में सत्य को देखना चाहता था। वह जानना चाहता था कि इन विविध मतवादों में सत्य कहां है? ऐसी परिस्थिति में महावीर विरोध-समन्वय की एक विधायक दृष्टि लेकर आये और उन्होंने कहा-आग्रह, मतान्धता या एकान्त दृष्टि ही गलत दृष्टि है।

महावीर ने कहा-एकान्त दृष्टि और आग्रह ही सत्य का बाधक तत्त्व है। सम्पूर्ण सत्य का ज्ञान अनाग्रह से ही हो सकता है। दूसरों के सत्य को झुठलाकर सत्य को नहीं पाया जा सकता। सत्य विवाद में नहीं, विवाद समन्वय में प्रकट होता है।

1.2 अनेकान्त की दार्शनिक पृष्ठभूमि-पूर्ण सत्य जाना जा सकता है, पर कहा नहीं जा सकता। क्योंकि शब्दों की इतनी सामर्थ्य नहीं है कि वह एक साथ एक समय में पूर्ण सत्य को कह सके। इसलिए अपूर्ण साधन से पूर्णता को जानने के सभी प्रयास आंशिक सत्य से आगे नहीं बढ़ पाते और जब आंशिक सत्य को पूर्ण सत्य मान लिया जाता है तब वैचारिक संघर्ष जन्म ले लेते हैं।

वस्तुतः हमारी ऐन्द्रिक क्षमता, तर्क-बुद्धि, विचार-क्षमता, वाणी और भाषा इतनी अपूर्ण है कि वे सम्पूर्ण सत्य की अभिव्यक्ति में सक्षम नहीं हैं। वह केवल सत्य के एक अंश को ही कह सकती है। इतना ही नहीं वस्तु सत्य में परस्पर विरोधी गुण भी एक साथ रहते हैं। ऐसी स्थिति में दो भिन्न दृष्टियों में परस्पर विरोधी तथ्य भी एक साथ सत्य हो सकते हैं। जो वस्तु एक है वह अनेक भी है। जो वस्तु सत् है वह असत् भी है। वस्तु नित्य भी है और अनित्य भी।

अनेकान्त का एक सूत्र है-सहप्रतिपक्ष। प्रत्येक पदार्थ विरोधी युगलों का संकुल है। इसलिए अनेकान्त का मूल आधार है-विरोध के अस्तित्व की स्वीकृति, प्रतिपक्ष की स्वीकृति। अनेकान्त एकान्तिक या आग्रह-बुद्धि का निरसन कर अनाग्रही या अनेकांतिक-दृष्टि को प्रकट करता है। एकान्त मिथ्यादृष्टि के कारण सत्य के एक अंश को हम पूर्ण सत्य मान लेते हैं। जिससे एक मत का दूसरे मत के साथ विरोध हो जाता है। अनेकान्त इन विरोधों का परिहार करके उनका समन्वय करता है।

1.3 वर्तमान युग में अनेकान्त की आवश्यकता-वर्तमान युग सापेक्षवाद, समन्वय, सह-अस्तित्व आदि से परिचित है। पर इनके पीछे जो सिद्धान्त है उसकी जानकारी सामान्यतया लोगों को नहीं है। इन विचारों के पीछे जो सिद्धान्त है वह है-अनेकान्त। एक मनुष्य क्या सोच रहा है, क्यों, कहां और किस अवस्था में सोच रहा है-इसका निर्णय किये बिना दूसरे के चिन्तन और प्रतिपादन के साथ न्याय नहीं किया जा सकता।

वस्तु विराट् व अनन्तधर्मात्मक है। पर शब्दों की अपनी सीमा है। एक शब्द एक समय में एक ही सत्य को बता सकता है। इसलिए इस व्यक्त सत्य के अलावा अव्यक्त सत्य जिसे कहा नहीं गया है, उसका भी अस्तित्व है। स्यात् शब्द यह बतलाता है कि सत्यांश अभिव्यक्ति को पूर्ण मत समझो। इस सापेक्ष दृष्टि के आधार पर ही हमारे ज्ञान में विरोध की छाया मिट सकती है।अहिंसा का विकास भी अनेकान्तवादी दृष्टि के आधार पर ही हुआ है। विचारों की विषमता हिंसा का कारण है। अनेकांत का कहना है-सभी विचार परस्पर सापेक्ष हैं, इसलिए उनमें समन्वय संभव है।

उपर्युक्त आधारों पर अनेकान्त की आवश्यकता को समझा जा सकता है। व्यापक दृष्टि हेतु अलग-अलग क्षेत्रों में इसके प्रयोगों को इस प्रकार विश्लेषित किया जा सकता है-

1.3.1 पारिवारिक जीवन एवं अनेकान्त-पारिवारिक जीवन में संघर्ष के अनेक कारण होते हैं। वैचारिक भिन्नता, जीवन स्तर, पारस्परिक संबंध, आजीविका आदि पारिवारिक सदस्यों के बीच तनाव या कलह का कारण बनते हैं। पर वर्तमान में पारिवारिक जीवन में सामान्यत: संघर्ष के दो केन्द्र हैं-पिता-पुत्र तथा सास-बहू। इनमें विवाद का मूल कारण दोनों का दृष्टिभेद है। पिता जिस परिवेश में बड़ा हुआ है उन्हीं संस्कारों में पुत्र को ढालना चाहता है। जो मान्यताएं पिता की हैं, उन्हीं मान्यताओं को पुत्र द्वारा मनवाना चाहता है। यही स्थिति सास-बहू की है। सास यह अपेक्षा करती है कि बहू ऐसा जीवन जीये जैसा उसने स्वयं जीया था। पर बहू युग के अनुरूप व अपने मातृ पक्ष के संस्कारों से प्रभावित जीवन जीना चाहती है। पीहर की स्वतंत्रता के स्थान पर ससुराल में मर्यादित जीवन जीना पड़ता है। यही सब परस्पर विवाद का कारण बनते हैं। जब तक एक-दूसरे के प्रति सहिष्णु दृष्टिकोण व दूसरे की स्थिति को समझने का प्रयास नहीं किया जाएगा तब तक संघर्ष समाप्त नहीं हो सकता।

अनेकान्त कहता है-केवल अपने ही दृष्टिकोण के प्रति आग्रह न रखें, दूसरे के विचारों के प्रति भी सहिष्णु बनें। इस हेतु सहिष्णुता का विकास अपेक्षित है। हम स्वयं के भावात्मक संवेगों पर नियंत्रण रखें, दूसरे के विचारों को समझने की कोशिश करें, अहं व गर्व की भावना को महत्त्व न दें।

1.3.2 सामाजिक क्षेत्र में अनेकान्त का प्रयोग-समाज अनेक जातियों व अनेक तरह के लोगों का समूह है। प्राचीन काल की वर्णव्यवस्था ने समाज में उच्च और निम्न वर्गों को जन्म दिया। भगवान् महावीर के अनुसार वर्ण जन्म के आधार पर नहीं, कर्म के आधार पर हो। कर्मणा जातिवाद मानवीय एकता का आधार है। परिवर्तनशील जाति मनुष्य-मनुष्य के बीच ऊंच-नीच और छुआछूत की दीवारें नहीं खड़ी कर सकती।

कोई भी संगठन समन्वय के बिना संभव नहीं है। समन्वय का दृष्टिकोण ही सह-अस्तित्व को बल देता है और सापेक्षता सह-अस्तित्व को संभव बनाती है। निरपेक्ष दृष्टिकोण से सामाजिकता विकसित नहीं हो सकती क्योंकि निरपेक्षदृष्टि कहती है-पड़ौसी मरे या जीए, भूखा रहे या न रहे मुझे क्या? जबकि सामाजिक दृष्टि कहती है-**परस्परोपग्रहो जीवानाम्**।

1.3.3 साम्प्रदायिक वैमनस्य और अनेकान्त-अनेकान्त का प्रयोग धार्मिक क्षेत्र में धार्मिक सहिष्णुता व सर्व- धर्म समभाव के लिए किया जा सकता है।विश्व के विभिन्न धर्माचार्यों ने अपने युग की तात्कालिक परिस्थितियों से प्रभावित होकर साधना के बाह्य नियमों का निर्धारण किया। उनके मतावलंबियों ने अपने-अपने धर्माचार्यों के प्रति ममत्व एवं आग्रह के कारण अपने ही धर्म या साधना पद्धति को एकमात्र व अंतिम सत्य मानने को बाध्य किया। फलस्वरूप विभिन्न संप्रदायों के बीच वैमनस्य प्रारंभ हुआ। यदि हम यह समझ लें कि कोई भी तत्त्व सब सम्प्रदायों में पूर्ण नहीं है। पूर्णता मर्यादित है। निरपेक्षता और पूर्णता हमारी कल्पना है, यथार्थ नहीं। इसलिए सापेक्ष दृष्टिकोण साम्प्रदायिक कलह को दूर करने में सक्षम है। सर्व-धर्म सद्भाव के लिए अनेकान्त पांच सूत्र देता है-

- मण्डनात्मक नीति अपनाई जाए, दूसरों पर आक्षेप न हो।
- दूसरों के विचारों के प्रति सहिष्णुता।
- दूसरे सम्प्रदाय व उनके अनुयायियों के प्रति घृणा न हो।
- सम्प्रदाय परिवर्तन करने पर अवांछनीय व्यवहार न किया जाए।
- धर्म के मौलिक तथ्यों जैसे अहिंसा आदि के प्रचार के लिए सामूहिक प्रयत्न किये जाएं।

1.3.4 राष्ट्रीय व अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं के संदर्भ में अनेकान्त-वर्तमान में राजनैतिक जीवन भी वैचारिक संकीर्णता से परिपूर्ण है। पूंजीवाद-समाजवाद आदि अनेक राजनैतिक विचारधाराएं तथा राजतंत्र-प्रजातंत्र आदि अनेक शासन प्रणालियां वर्तमान में प्रचलित हैं। ये विरोधी विचार एवं व्यवस्थाएं एक-दूसरे को समाप्त करने के लिए प्रयत्नशील हैं। इतना ही नहीं प्रत्येक खेमे के राष्ट्र अपना प्रभाव क्षेत्र बढ़ाने हेतु भी तत्पर हैं।

विश्व में अनेक राष्ट्र, उन सबकी अलग-अलग विचारधाराएं फिर उनमें संघर्ष नहीं हो, यह तभी संभव है जब हम सह-अस्तित्व के सिद्धान्त को स्वीकार करें। विरोधी व्यक्तियों, विरोधी राष्ट्रों,विरोधी धर्मों का सह-अस्तित्व हो सकता है। संयुक्त राष्ट्र संघ इसका सर्वोपरि उदाहरण है। भिन्नता से लड़ाई आखिर कब तक करेंगे। भाषा ने, वर्गों ने, सीमाओं नें, रंगों ने न जाने मनुष्य जाति के कितने टुकड़े किये हैं और यही होता रहा तो युद्ध मानवजाति नाश कर देगा। यदि मनुष्य को जीना है तो उसका मार्ग है सह-अस्तित्व।

आज हम बहुसंख्यकों के लिए अल्पसंख्यकों का, बड़े राष्ट्रों के लिए छोटों के हितों का बलिदान नहीं कर सकते। सापेक्ष दृष्टि के अनुसार किसी के लिए किसी का अनिष्ट नहीं किया जा सकता। प्रभुसत्ता की दृष्टि से सभी राष्ट्र स्वतंत्र हैं, सामर्थ्य की भिन्नता हो सकती है। इस भिन्नता या वैषम्य के आधार पर दूसरों को मिटाने की बात गलत है। आज यह माना जाने लगा है कि यदि गरीब और अविकसित राष्ट्रों का विकास नहीं कर पाये तो समृद्ध और विकसित राष्ट्र बहुत लम्बे समय तक अपने विकास को यथावत् नहीं रख पायेंगे। इसलिए सभी राष्ट्र, सभी व्यवस्थाएं, सभी विचारधाराएं विश्व की विराट् व्यवस्था के अंग हैं। वे एक साथ रह सकते हैं। अनेकांत दृष्टि के अनुसार-

- सभी अपना दृष्टिकोण सम्यक् बनाएं।

- समस्या को सुलझाने हेतु एक साथ बैठें।
- एक दूसरे को समझने का प्रयत्न करें।

अतएव अनेकान्त आज विभिन्न क्षेत्रों की युगीन समस्याओं को सुलझाने में समर्थ है। आवश्यकता है इन क्षेत्रों में अनेकान्त के प्रयोग की। समन्वय, सहिष्णुता, सह-अस्तित्व, सापेक्षता आदि दृष्टियां जागतिक समस्याओं का निदान प्रस्तुत करती हैं और आज विश्व-व्यवस्था का झुकाव भी इन्हीं सिद्धान्तों की ओर है।

2. सापेक्ष दृष्टिकोण

प्रत्येक वस्तु अनेक विरोधी धर्मों का युगल है। हम अखण्ड वस्तु को जान तो सकते हैं पर उससे हमारा व्यवहार नहीं चल सकता। हम जब वस्तु स्वरूप के बारे में कहते हैं तो वस्तु स्वरूप के प्रत्येक उपयोग के पीछे हमारी अपेक्षा जुड़ी होती है। अपेक्षा न जुड़ी हो तो प्रत्येक व्यवहार परस्पर विरोधी हो जाएगा। अपेक्षा दृष्टि से वस्तु एक या अनेक नहीं अपितु एक और अनेक का समन्वय है। वस्तु केवल नित्य या अनित्य नहीं है वरन् नित्यता और अनित्यता का समन्वय है। वस्तु केवल भिन्न या अभिन्न नहीं अपितु भिन्न और अभिन्न का समन्वय है। इस यथार्थ को लसप नकपक वा परस्पर के विरोध आसानी से सुलझाये जा सकते हैं।

2.1 अहिंसा का विकास और सापेक्षता-हिंसा की जड़ विचारों का विरोध है। वस्तु के जितने पहलू हैं उतने ही सत्य हैं, उतने ही उन सत्यों को कहने के तरीके हैं और जितने कहने के तरीके हैं, उतने ही मतवाद हैं। मतवादों का एकान्तिक दृष्टिकोण विवादों को जन्म देता है और विवाद हिंसा को। जबकि मतवादों में सापेक्ष दृष्टिकोण समन्वय को जन्म देता है और समन्वय अहिंसा को।

एक वक्ता जो शब्द कहता है, वह शब्द उसने कब, कहां और किन परिस्थितियों में कहा है, उसका क्या उद्देश्य है, किस साध्य की प्राप्ति के लिए वह ऐसा कह रहा है, आदि-आदि बिन्दुओं पर जब तक ध्यान नहीं दिया जाता किसी भी व्यक्ति के विचारों के प्रति न्याय नहीं हो सकता। इसलिए सापेक्षवाद कहता है-प्रत्येक धर्म को अपेक्षा के साथ ग्रहण करो क्योंकि सत्य सापेक्ष है। स्वयं के साथ दूसरों को भी समझने की कोशिश करो। यही बौद्धिक अहिंसा है जो सापेक्ष दृष्टि से ही फलित होती है।

2.1.1 निरपेक्ष दृष्टिकोण-हिंसा का कारण-एकान्तिक आग्रह या निरपेक्ष दृष्टिकोण हिंसा का मूल है। यदि हम यह कहें कि व्यक्ति समुदाय से सर्वथा भिन्न है तो यह वस्तुस्थिति का तिरस्कार होगा तथा पार्थक्यवादी नीति होगी। यदि हम यह कहें कि समुदाय ही सत्य है तो यह व्यक्ति का तिरस्कार होगा और एकांतिक सामुदायिक नीति होगी। यदि हम कहें कि व्यक्ति ही सत्य है तो सामुदायिकता का तिरस्कार होगा और एकांतिक व्यक्तिवादी नीति होगी। यदि हम कहें कि वर्तमान ही सत्य है तो एकता का तिरस्कार होगा और एकांतिक परिवर्तनवादी नीति होगी। यदि हम लिंगभेद और उत्पत्ति भेद को ही सत्य मानें तो यह एकता का तिरस्कार होगा।इस प्रकार निरपेक्ष या एकांतिक दृष्टिकोण सदैव किसी न किसी का तिरस्कार करेगा जो अन्ततः हिंसा को जन्म देगा।

2.2 सापेक्षता के सूत्र-

- कोई भी वस्तु या व्यवस्था सापेक्षता की मर्यादा से बाहर नहीं है। प्रत्येक वस्तु व व्यवस्था सापेक्ष होती है पूर्ण नहीं।

- दो विरोधी गुण एक वस्तु में एक साथ रह सकते हैं।
- सभी दृष्टिकोण परस्पर विरोधी नहीं हैं। सभी दृष्टिकोण सापेक्ष हैं, एक दूसरे के पूरक हैं।
- एकान्त विरोध या एकान्त अविरोध से पदार्थ व्यवस्था संभव नहीं है। विरोध और अविरोध के समन्वय से ही व्यवस्था संभव हो सकती है।
- जितने एकान्त या निरपेक्षवाद हैं उनमें दोष भरे पड़े हैं तथा वे परस्पर विनाश करने वाले हैं। अनाक्रमण, अहस्तक्षेप, स्वमर्यादा का अनतिक्रमण, सापेक्षता ये सामंजस्य के सिद्धान्त हैं, जो निरपेक्ष या आग्रही दृष्टि में सापेक्षता और अनाग्रह (समन्वय) को खोजते हैं।
- जितने वचन हैं, उतने ही सत्य हैं। प्रत्येक दृष्टि विशाल ज्ञान सागर का अंश है अर्थात् प्रत्येक दृष्टि अपनी-अपनी सीमा में सत्य है।

2.3 सापेक्षता के प्रयोग-

2.3.1 अध्यात्म जगत् में-अध्यात्म जगत् में कोई भी व्यक्ति किसी भी जीव के प्रति निरपेक्ष नहीं हो सकता। निरपेक्ष होने का अर्थ है जीवों के प्रति क्रूर होना। अध्यात्म जगत् में सापेक्षदृष्टि कहती है सभी प्राणियों की अपेक्षा करो अर्थात् उनके महत्त्व को समझो। उनकी हिंसा मत करो, उनकी हिंसा मत करवाओ और दूसरा यदि उनकी हिंसा करता है तो उसका अनुमोदन भी मत करो।

2.3.2 सामाजिक क्षेत्र में-समाज में हमें वैषम्य देखने को मिलता है क्योंकि समत्व का विकास नहीं है। समत्व दृष्टि कहती है-जिस तरह तुम्हें दुःख अप्रिय है उसी तरह सभी प्राणियों को दुःख अप्रिय है। बाहरी आवरणों का भेद होने पर भी सब जीवों का भीतरी जगत् एक जैसा है। सभी जीवों में आत्मा समान है। सभी जीवों में सामर्थ्य की दृष्टि से ज्ञान समान है, उसका विकास भिन्न-भिन्न है। सामर्थ्य की दृष्टि से शक्ति सभी जीवों में समान है पर उसका विकास भिन्न-भिन्न है। इसलिए किसी भी जीव को उच्च या निम्न कहने का अधिकार हमें नहीं है।

व्यक्ति और समाज में कभी व्यक्ति को महत्त्व दिया जाता है तो कभी समाज को। यदि अपेक्षा को समझ लिया जाए तो यह भी स्पष्ट हो जाएगा कि कब व्यक्ति को अधिक महत्त्व दिया जाए और कब समाज को। और यदि व्यक्ति या समाज के प्रति एकान्तिक आग्रह ही रहेगा तो वह खिंचाव पैदा करेगा।समाज का महत्त्वपूर्ण सूत्र है-''परस्परोपग्रहो जीवानाम्'' जो अनेकांत द्वारा ही फलित होता है। समाज का हर व्यक्ति एक दूसरे को उपकृत करे। ऐसा सापेक्ष दृष्टिकोण न शोषण को जन्म देगा, न अपराध को और न हिंसा को। निरपेक्ष दृष्टि कहती है-कोई व्यक्ति मरे या जीए, भूखा रहे या न रहे इससे दूसरे व्यक्ति का कोई संबंध नहीं है। पर परस्परोपग्रहो जीवानाम् के सिद्धान्त पर चलने वाला व्यक्ति पड़ौसी की परेशानी से भी परेशान होगा।

2.3.3 आर्थिक क्षेत्र में-प्रत्येक व्यक्ति में उपार्जन क्षमता है। यह क्षमता हर व्यक्ति की समान नहीं है। इस असमान क्षमता के आधार पर कोई धनी है, कोई गरीब है और उनमें वर्ग भेद है। वर्गभेद समाप्ति के लिए समाजवाद का विकास हुआ पर उसमें दायित्व का बोध नहीं। पूंजीवाद में वैयक्तिकता का विकास है पर उसमें स्वार्थ व शोषण वृत्ति पनपती है। इन सब समस्याओं का समाधान है-स्वामित्व को सापेक्ष बनाएं। भोग के लिए इच्छा परिमाण करें अर्थात् स्वामित्व का सीमांकन करें। सापेक्ष स्वामित्व दोहरी समस्या का समाधान है। एक तो इसमें शोषण वृत्ति बंद रहेगी क्योंकि उचित सीमा के बाद संपत्ति पर उसका अधिकार नहीं होगा एवं उपार्जन की स्वतंत्रता के कारण व्यक्तिगत प्रेरणा भी रहेगी।

2.3.4 साम्प्रदायिक कलह के लिए–धर्म सम्प्रदायों की विविधता के कारण असामंजस्य की रंगभूमि रहे हैं। सापेक्षवाद के अनुसार सभी धर्मों में सत्यांश है। समाज व्यवहार या दैविक व्यवहार की दृष्टि से वैदिक धर्म ठीक है। अहिंसा या मोक्षमार्ग की दृष्टि से जैन धर्म ठीक है। श्रुतिमाधुर्य व करुणा की दृष्टि से बौद्ध धर्म ठीक है। धर्म उपासना पद्धति या योग की दृष्टि से शैव धर्म ठीक है। निरपेक्ष पूर्णता हमारी कल्पना है। पूर्णता सदैव मर्यादित होती है।सर्व–धर्म सद्भाव की दृष्टि से सापेक्षवाद पांच सूत्र देता है–

- अपने मत का प्रतिपादन करें, दूसरों पर आक्षेप न करें।
- दूसरे के विचारों के प्रति सहिष्णुता रखें।
- दूसरे समुदाय या अनुयायियों के प्रति घृणा या तिरस्कार का भाव न हो।
- सम्प्रदाय परिवर्तन करने वालों के साथ अवांछनीय व्यवहार न हो।
- धर्म के मौलिक तत्त्वों अहिंसा आदि को विश्वव्यापी बनाने का सामूहिक प्रयत्न हो।

2.3.5. अंतर्राष्ट्रीय क्षेत्र में–परिवार, जाति, समाज, राष्ट्र, विश्व ये सभी क्रमिक संगठन हैं। संगठन का अर्थ है–सापेक्षता। बिना सापेक्ष दृष्टिकोण के कोई भी संगठन अधिक दिनों तक नहीं चल सकता। निरपेक्ष दृष्टिकोण अंतर्राष्ट्रीय क्षेत्र में सदैव विषमता पैदा करते आये हैं। अधिकतम व्यक्तियों के लिए अधिकतम सुख के निरपेक्ष दृष्टिकोण ने ही हिटलर को यहूदियों पर अत्याचार का अवसर दिया। बहुसंख्यकों के लिए अल्पसंख्यकों तथा बड़ों के लिए छोटों का बलिदान भी निरपेक्ष दृष्टि का ही फल है। सापेक्ष नीति कहती है–किसी के लिए किसी का अनिष्ट नहीं किया जा सकता। बहुसंख्यकों के लिए अल्पसंख्यकों की बलि नहीं दी जा सकती। इसी तरह रंग भेद, विचार भेद, व्यवस्था भेद आदि को भी एकांतिक या निरपेक्ष दृष्टिकोण के आधार पर स्वीकार नहीं किया जा सकता।

आज विश्व सह–अस्तित्व और सापेक्षता के विचार की तरफ बढ़ रहा है। परमाणविक युग में यही उसका त्राण है। विकसित राष्ट्र विकासशील राष्ट्रों से निरपेक्ष रहकर अपना अस्तित्व दीर्घकाल तक नहीं बनाए रख सकते, उनकी स्वयं की समृद्धि ही उन्हें लील जाएगी। इसलिए विकसित राष्ट्रों ने अविकसित एवं विकासशील राष्ट्रों की अस्मिता को स्वीकार कर उनके विकास में सहयोग के लिए भी तत्पर हुए हैं।

3. सह–अस्तित्व

यह जगत् द्वन्द्वात्मक है। द्वन्द्वात्मक जीवन एक सच्चाई है जो यह बताती है कि विरोधी धर्मों को एक साथ रहना ही चाहिए।विरोधी युगलों का सह–अस्तित्व संभव है क्योंकि उनमें सर्वथाविरोध नहीं है, समन्वय के अनेक तत्त्व विद्यमान हैं। जैन दर्शन के अनुसार अनन्त आत्माएं हैं और सभी आत्माएं एक–दूसरे से स्वतंत्र हैं। जैसे अनेक आत्माएं हैं वैसे ही उनकी योनियां अर्थात् उत्पत्ति स्थान भी अनेक हैं। कोई आत्मा पशु है, कोई मनुष्य। मनुष्य जाति में भी विभाजन है। कोई गोरा है, कोई काला है। कोई उष्णकटिबन्धीय है, कोई शीत कटिबन्धीय आदि–आदि। महावीर के युग में वर्ण व्यवस्था का प्रचलन था। उस व्यवस्था में मनुष्य जाति ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र–इन चार वर्णों में विभाजित थी। यह विभाजन मनुष्य के संस्कार, भौगोलिक वातावरण व समाज व्यवस्था केआधार पर था। मनुष्य के अहंकार के कारण उच्चता व निम्नता की दीवारें खड़ी हो गई और जन्मना जाति स्थापित हो गई। उच्च कहलाने वाले लोग हीन कहलाने वाले लोगों के साथ दुर्व्यवहार करने लगे। महावीर ने सोचा–जब वस्तु जगत् में सह–अस्तित्व और समन्वय है तो यह मनुष्यों में क्यों नहीं हो? इस आधार पर मैत्री का संदेश दिया

गया-सब जीवों के साथ मैत्री करो। स्वभाव, रूचि और चिन्तन-धारा भिन्न होने के कारण मैत्री टूट जाती है। मैत्री को साधने का सूत्र दिया गया-सहिष्णुता का प्रयोग करो।

3.1 सह-अस्तित्व का आधार-महावीर ने कहा-भेद में छिपे अभेद को देखो। तुम जिससे जितने भिन्न हो, उतने ही अभिन्न भी हो और जिससे अभिन्न हो, उससे उतने ही भिन्न भी हो। जब सभी प्राणियों से भिन्न और अभिन्न हो, तब भेद मानकर किसी को शत्रु क्यों मानते हो? जिसे तुम नीच मानते हो, वह भी तुम्हारे मन का अहंकार है और जिसे तुम उच्च मानते हो, वह भी तुम्हारे मन का अहंकार है। इसलिए विभाजन के साथ उच्चता और नीचता की रेखाएं निर्मित न करो। मनुष्य को तोड़कर मत देखो। मानवीय एकता को मत भूलो। यही सह-अस्तित्व का मौलिक आधार है।

एकता अनेकता से पृथक् नहीं है और अनेकता एकता से पृथक् नहीं है। इसी धरातल पर मानवीय एकता संभव है। इसी आधार पर भिन्न-भिन्न प्रणालियां एक साथ चल सकती हैं। अनेकता स्वाभाविक है पर शांतिपूर्ण जीवन जीने के लिए सह-अस्तित्व अनिवार्य है।आज सह-अस्तित्व को ही समस्याओं का समाधान माना जा रहा है। पर दूसरों के स्वत्व को आत्मसात् करने की भावना को त्यागे बिना सह-अस्तित्व संभव नहीं है। एक व्यक्ति, जाति या राष्ट्र जब दूसरों के स्वत्व को हड़प जाना चाहते हैं, तब सह-अस्तित्व कैसे संभव हो? सह-अस्तित्व के लिए आवश्यक है-स्व का हरण नहीं हो। आज विचारशील व्यक्ति व राष्ट्र दूसरों के स्वत्व से बने विशाल स्वरूप को छोड़कर अपने स्वरूप में सिमटते जा रहे हैं, यही सामंजस्य की रेखा है और यही वर्ग-विग्रह व अन्तर्राष्ट्रीय-विग्रह की समापन रेखा है।

3.2 सह-अस्तित्व के प्रयोग

3.2.1 पारिवारिक जीवन में-पारिवारिक जीवन तभी सफल हो सकता है जब पारिवारिक सदस्यों का शांत सहवास हो। पारिवारिक कलह के लिए पीढ़ीगत भिन्नता, वैचारिक भिन्नता, स्तर की भिन्नता आदि अनेक कारण बनते हैं। फिर भी दो पीढ़ी के लोग, दो विचार के लोग व दो भिन्न जीवन स्तर के लोग एक साथ शांति से रह सकते हैं यदि वे उस भिन्नता में कोई अभिन्नता का बीज खोज लें। यद्यपि पग-पग पर टकराहट है, स्वार्थ है, भिन्नताएं हैं, विरोध हैं पर इनमें समन्वय का प्रयोग करें। विरोध किस जगह नहीं होता। अपेक्षा है समन्वय की। यदि विरोध या भिन्नता में समन्वय खोजें तो इन विरोधों व भिन्नताओं के बावजूद सह-अस्तित्व संभव हो सकता है।

3.2.2 सामुदायिक जीवन में-समाज में हमें वैषम्य देखने को मिलता है क्योंकि समत्व का अभाव है। स्वार्थ, मान्यताएं और असहिष्णुता-इन वृत्तियों पर शासन करने वाला ही समन्वय का विकास कर सकता है। पुराने समय में साम्प्रदायिक और जातीय-ये दो प्रकार के संघर्ष थे। आज के समाज में वर्ग-संघर्ष है। वर्ग-संघर्ष तब तक नहीं मिट सकता, जब तक स्वार्थ की वृत्ति खत्म न हो। हम स्वार्थ से ऊपर उठकर यह सोचें कि छोटे-बड़े सभी मनुष्यों में एकता है, समानता है। इसलिए हम एक साथ रह सकते हैं। सह-अस्तित्व से ही समाज सुन्दर बन सकता है।

3.3 विश्वशांति और सह-अस्तित्व

आज राजनैतिक क्षेत्र में सह-अस्तित्व की ध्वनि मुखर हो रही है। संयुक्त राष्ट्र संघ भी इसके लिए प्रयास कर रहा है। यह संगठन सह-अस्तित्व का एक अच्छा उदाहरण भी है। यहां परस्पर विरोधी राष्ट्र एक साथ बैठकर विश्व की ज्वलन्त समस्याओं पर विचार-विमर्श करते हैं।परमाणविक युग में जब हिंसा समग्र हो गई है, हमारे पास केवल दो ही विकल्प हैं-या तो हम अहिंसा व विश्वशांति को

अपना लें या फिर महाविनाश के लिए तैयार हो जाएं। हिंसा की समग्रता ने सह-अस्तित्व की धारणा को और अधिक पुष्ट किया है।

प्रभुसत्ता की दृष्टि से सभी राष्ट्र स्वतंत्र हैं पर सामर्थ्य की दृष्टि से समानता नहीं है। कोई राष्ट्र शक्तिशाली है, तो कोई कमजोर। कोई समृद्ध है, कोई गरीब। सभी राष्ट्रों में कुछ साम्य भी है और कुछ वैषम्य भी। यदि वैषम्य को प्रधान मानें तो दूसरों को मिटाने की बात आएगी और केवल साम्य को प्रधान मानें तो भी एकान्तिक आग्रह होगा और उसका परिणाम होगा-शीतयुद्ध। महावीर ने कहा-विरोधी युगलों का सह-अस्तित्व संभव है क्योंकि उनमें सर्वथाविरोध नहीं है। इसी विचार के आधार पर पूंजीवाद और समाजवाद एक साथ रह सकता है। लोकतंत्र व राजतंत्र एक साथ रह सकता है क्योंकि विरोधी प्रणालियों में सह-अस्तित्व है।

3.4 सह-अस्तित्व तीन सूत्र

3.4.1 आश्वासन-एक-दूसरे के प्रति आश्वस्त हों। अन्यथा आशंकाएं, शीतयुद्ध व संघर्ष को जन्म देंगी।

3.4.2 विश्वास-द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद राष्ट्रों और विशेषकर महाशक्तियों के बीच अविश्वास की जड़ें गहरी हो गईं, उसका परिणाम हुआ-शीतयुद्ध। सह-अस्तित्व के लिए अपेक्षित है एक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति का व एक राष्ट्र दूसरे राष्ट्र का विश्वास करे।

3.4.3 अभय-अविश्वास शस्त्र-विस्तार को जन्म देता है, जबकि विश्वास अभय को जन्म देता है। अभय से निःशस्त्रीकरण संभव है।

सह-अस्तित्व के ये तीनों सूत्र परस्पर जुड़े हुए हैं। आश्वासन से विश्वास पैदा होगा और विश्वास से अभय। उदाहरणतः यदि परमाणु संधि होती है तो वह विश्व को एक आश्वासन होगा, उससे विश्व के राष्ट्रों में विश्वास का वातावरण बनेगा और नागरिक अभय हो जायेंगे।

अतः शांतिपूर्ण जीवन या शान्त-सहवास के लिए सह-अस्तित्व का सूत्र बहुत की महत्त्वपूर्ण है। संघर्ष प्रकृति का नियम नहीं, आरोपण है, विसंगति है। सह-अस्तित्व में सन्तुलन है, संगति है, इसलिए विरोधी तत्त्वों का भी सह-अस्तित्व संभव है। आज यह सूत्र राष्ट्रीय एकता या मानवीय एकता, धार्मिक सहिष्णुता और विश्व-शांति के लिए महत्त्वपूर्ण है। आवश्यक है इसके प्रयोग की। नेहरू ने जब पंचशील के सिद्धान्त में सह-अस्तित्व का समावेश किया था, तब इस सूत्र को राष्ट्रों के परस्पर व्यवहार के लिए महत्त्वपूर्ण सूत्र माना गया था, पर इसको उपेक्षा के कारण आज विश्व विनाश के कगार पर है। आज यह सूत्र किसी धर्मनेता का नहीं, बल्कि युग की मांग है।

4. सहिष्णुता

अकेला व्यक्ति संघर्ष नहीं कर सकता। सामुदायिक जीवन में संघर्ष, वैमनस्य, वैर-विरोध आदि देखे जाते हैं। सामुदायिक जीवन में ही वस्तुतः सहिष्णुता की कसौटी होती है। सहिष्णुता सामुदायिक जीवन का अलंकरण है जो सह-अस्तित्व और सापेक्षता से ही फलित होती है। सहिष्णुता के बिना सामुदायिक जीवन में विकास नहीं हो सकता, उन्नति नहीं हो सकती। जब तक समाज के विभिन्न वर्ग के लोग संघर्ष करते रहेंगे, एक दूसरे का विरोध करते रहेंगे, स्वार्थ के वशीभूत होकर शोषण करते रहेंगे, भाषा, धर्म, रंग, जाति के आधार पर बंटते रहेंगे, तब तक विकास, वह भी सबका सर्वतोमुखी विकास सम्भव कैसे हो सकेगा? डार्विन ने विकासवाद का सिद्धान्त देते हुए कहा था-वे ही प्रजातियां

बचेंगी जिनमें अनुकूलन की क्षमता है अर्थात् वे प्राणी जो परिस्थिति के अनुकूल बन सकेंगे, भविष्य में बचेंगे। सच ही है-शक्तिहीन समाप्त हो जाता है। अनेकान्त का सिंहनाद है-जो सहता है वही बचता है और शक्तिशाली ही सहन कर सकता है।

समाज में अनेक प्रकार के व्यक्ति रहते हैं, जिनके अनेक विचार हैं। ऐसी स्थिति में विचारों की टकराहट न हो, संघर्ष न हो, यह कैसे संभव हो सकता है? मनुष्य जाति को जीना है तो उसका मार्ग है सहिष्णुता और सह-अस्तित्व। प्रत्येक व्यक्ति की यह चाह होती है-सब उस जैसा ही व्यवहार करें। विरोधी रूचियों, विरोधी स्वभावों के बीच टकराहट और युद्ध संभव है पर यदि विरोधी विचारों को सहने की क्षमता है तो न केवल युद्ध टाले जा सकते हैं वरन् शांति की दिशा में विकास भी हो सकेगा।अनेकान्त कहता है-

- सत्य की सापेक्ष व्याख्या करो। अपने विचार का आग्रह मत करो। दूसरे के विचारों को समझने का प्रयत्न करो।
- अपने विचारों की प्रशंसा व दूसरे के विचार की निन्दा कर अपने पांडित्य का प्रदर्शन मत करो।
- प्रत्येक विचार सत्य भी हो सकता है और असत्य भी। इसलिए किसी भी विचार के लिए निरपेक्ष दृष्टिकोण मत अपनाओ।

4.1 सहिष्णुता का अर्थ-सहिष्णुता है-असहयोग। विरोधी के साथ न प्रवृत्ति करो, न निवृत्ति करो, किन्तु उपेक्षा करो। क्रोध करने वाले के साथ क्रोध नहीं, उसकी उपेक्षा करो।

सहिष्णुता का एक अर्थ है-सहन करके सुधार के लिए अवसर देना। किसी व्यक्ति की तुच्छता को सहन करना उसको बिगाड़ना नहीं, वरन् उसे सुधरने का अवसर देना है। प्रश्न है कि क्या अन्याय को भी सहन करें। अनेकान्त का उत्तर है-अन्याय को सहन मत करो पर उसका प्रतिकार सहिष्णुता से हो।सहिष्णुता का एक अर्थ है-मानसिक शांति। विरोधी विचार व परिस्थितियां व्यक्ति को अशांत करती हैं। विपरीत विचारों, स्थितियों व व्यवस्थाओं को सहन करें। इससे मानसिक शांति भंग नहीं होगी और यदि व्यक्ति शांत है तो विश्व शांति भी संभव है।

4.2 सहिष्णुता की आवश्यकता-संयोग-वियोग की इस दुनिया में सहिष्णुता ही त्राण है। विरोधी व्यक्तियों, विरोधी विचारों, विरोधी परिस्थितियों के बीच यदि व्यक्ति सदैव प्रतिक्रिया ही करता रहेगा तो अपनी क्षमताओं का उपयोग वह विकास के लिए कब करेगा? इसलिए सहिष्णुता प्रतिक्रिया विरति के लिए आवश्यक है।सुविधाओं के विकास के साथ व्यक्ति की सहनशीलता भी समाप्त हो गई है। व्यक्ति में धैर्य नहीं, शक्ति नहीं, सहन करने की क्षमता नहीं, अधीरता है, इसलिए भी सहिष्णुता की अपेक्षा है। सुविधावाद जो अन्ततः हिंसा की ओर धकेलता है, कष्ट सहिष्णु बनकर ही उससे बचा जा सकता ।

सहिष्णुता के विकास से ही अनुशासन का विकास संभव है। अनुशासनहीनता की समस्या किसी एक राष्ट्र की नहीं, वरन् पूरे विश्व की है। सहिष्णुता के विकास से अनुशासनहीनता समाप्त होती चली जाएगी। सहिष्णुता व्यक्ति में शक्ति का वर्द्धन भी करेगी जो अन्ततः उसे समता के आदर्श तक पहुंचा सकेगी।

4.3.सहिष्णुता का विकास-सहिष्णुता के विकास के लिए कुछ मार्गदर्शक तत्त्व का प्रयोग इस प्रकार है-

- **संवेगों पर नियंत्रण करें**–विपरीत परिस्थिति के आते ही व्यक्ति संवेगों के भंवर में फंस जाता है। क्रोध या अहंकार जब प्रबल होता है तब व्यक्ति यह भूल जाता है उसे कैसा व्यवहार करना चाहिए। इसलिए सहिष्णुता के विकास के लिए क्रोध, भय, अहंकार, राग-द्वेष आदि संवेगों पर नियंत्रण करें।
- **दृष्टिकोण सम्यक् बनाएं**–वस्तु सत्य को उसी रूप में जानें। कोई व्यक्ति कब, कहां, कैसे और किन परिस्थितियों में कह रहा है, उसे उसी संदर्भ में समझने की कोशिश करें।
- **सहासिका**–समस्या सुलझाने के लिए एक साथ बैठें। व्यक्तियों के बीच संचार के अभाव में संघर्ष बढ़ जाते हैं। इसलिए उचित संचार के लिए एक साथ बैठकर विचार-विमर्श करें।
- **एक दूसरे को समझने का प्रयत्न** करें।
- **उपवास व सूर्य आतापना** से सहनशीलता का विकास संभव है।
- मस्तिष्क के अग्रभाग व ललाट जिन्हें क्रमशः शांतिकेन्द्र व ज्योतिकेन्द्र कहा जाता है-इन दोनों केन्द्रों पर ध्यान करें फिर क्रमशः दोनों केन्द्रों पर सफेद रंग का ध्यान करें।
- **अनुचिंतन करें**–विरोधी विचार, विरोधी स्वभाव, विरोधी रूचि-ये संवेदन मुझे प्रभावित करते हैं, किन्तु इनके प्रभाव को कम करना है। यदि इनका प्रभाव बढ़ा तो शक्तियां क्षीण होंगी। जितना इनसे कम प्रभावित रहूं, उतनी ही शक्तियां बढ़ेंगी। इसलिए सहिष्णुता का विकास मेरे जीवन की सफलता का महामंत्र है।

4.4 सहिष्णुता के विकास की भूमिकाएं

- परिस्थितियों को सहन करना।
- दूसरे व्यक्तियों को सहन करना।
- अपने से भिन्न विचारों को सहन करना।
- राग-द्वेष की तरंगों का सामना कर उन्हें परास्त करना।

इस प्रकार सहिष्णुता का विकास न केवल पारिवारिक कलह को दूर करेगा बल्कि समाज, धर्म, राष्ट्रीय व अन्तर्राष्ट्रीय संघर्षों को भी निराकृत कर सकेगा। विशेषतः उन संघर्षों को जो वैचारिक हैं, जो महत्त्वाकांक्षाओं पर आधारित हैं, जो भय की भावनाओं या अविश्वासों के कारण हैं। क्योंकि यह दूसरे के विचारों को सहन करना सिखाती है। महत्त्वाकांक्षाओं व भय के संवेगों पर नियंत्रण करती है तथा आपसी विचार-विमर्श के द्वारा अविश्वासों को दूर करती है। इसलिए वैचारिक अशांति का महत्त्वपूर्ण निदान है-सहिष्णुता का विकास, दूसरे के विचारों को सहना।

प्रश्नोत्तर

निबंधात्मक प्रश्न

1. संघर्ष निराकरण के क्षेत्र में अनेकांत की भूमिका का विस्तार से वर्णन कीजिए।

लघुत्तरात्मक प्रश्न

1. सापेक्ष दृष्टिकोण की उपादेयता को विविध संदर्भो में समझाइये।
2. सहिष्णुता को समझाते हुए इसकी आवश्यकता व विकास पर प्रकाश डालिए।

वस्तुनिष्ठ प्रश्न

1. जैनागमों के अनुसार भगवान महावीर से पूर्व भारत में कितने मत प्रचलित थे-
   - अ. 363 ब. 362
   - स. 336 द. 333
2. निम्न में से अनेकांत का सूत्र है-
   - अ. सापेक्षता ब. सहअस्तित्व
   - स. समन्वय द. उपरोक्त सभी
3. समाज का महत्त्वपूर्ण सूत्र है-
   - अ. सर्वे भवन्तु सुखिनः ब. परस्परोपग्रहो जीवानाम
   - स. अहिंसा परमो धर्मः द. उपरोक्त सभी
4. निम्न में से कौन-सा सहअस्तित्व के सिद्धान्त का पोषक नहीं है-
   - अ. आश्वासन ब. विश्वास
   - स. अभय द. उपरोक्त सभी
5. विकासवाद का सिद्धान्त किसने दिया था-
   - अ. मार्क्स ब. वेबर
   - स. डार्विन द. लेनिन
6. मैत्री की भावना को साधने का महत्त्वपूर्ण उपाय है-
   - अ. सहअस्तित्व ब. समन्वय
   - स. सहिष्णुता द. सह प्रतिपक्ष
7. प्रत्येक वस्तु अनेक ..... धर्मो का युगल है।
8. निरपेक्ष पूर्णता हमारी ..... है।
9. संयोग-वियोग की इस दुनिया में ..... ही त्राण है।
10. ..... सामुदायिक जीवन का अलंकरण है जो ..... और ..... से फलित होती है।

इकाई–4

मानवाधिकार : एक परिचय

मानव अधिकार–मानवाधिकारों का स्वरूप, मानवीय गरिमा का आदर एवं विश्व नागरिकता, जीवन के प्रति सम्मान

उद्देश्य

1. मानव अधिकारों की अवधारणा व स्वरूप को विस्तार से जानना।
2. मानवीय गरिमा के आदर एवं जीवन के प्रति सम्मान के चिंतन का अध्ययन करना।

संरचना

1. मानवाधिकार : एक परिचय
2. मानवाधिकार : वैश्विक, प्राकृतिक, कम न किये जा सकने वाले, और अविभाज्य
    - 2.1 मानवाधिकारों की वैश्विकता
        - 2.1.1 अन्तर्राष्ट्रीय घोषणा–पत्र
        - 2.1.2 एशियन परिप्रेक्ष्य
        - 2.1.3 भारतीय परिदृश्य
        - 2.1.4 ईसाइयत और जुडा धर्म (Judaism)
        - 2.1.5 इस्लाम
    - 2.2 प्राकृतिक (Inherent) मानवाधिकार
    - 2.3 अहस्तान्तरणीय मानवाधिकार
    - 2.4 अविभाज्य
    - 2.5 मानवाधिकारों की वैश्विकता और अहस्तातरणीयताकी चुनौतियाँ
3. अधिकारों और कर्त्तव्यों का वर्गीकरण और उनका परस्पर सम्बन्ध
    - 3.1 नैतिक अधिकार
    - 3.2 कानूनी अधिकार
        - 3.2.1. नागरिक अधिकार
        - 3.2.2. राजनैतिक अधिकार
        - 3.2.3. आर्थिक और सामाजिक अधिकार
        - 3.2.4. सांस्कृतिक अधिकार
4. मानवाधिकारों के बदलते हुए पक्ष
    - 4.1 व्यक्ति का सामूहिक अधिकार
    - 4.2 आत्म–निर्णय का अधिकार
    - 4.3 विकास का सामूहिक अधिकार
    - 4.4 पर्यावरणीय सुरक्षा का सामूहिक अधिकार
    - 4.5 विज्ञान और टैक्नोलौजी का प्रभाव
5. मानवाधिकारों के सिद्धान्त
    - 5.1 प्राकृतिक अधिकारों का सिद्धान्त

5.2 अधिकारों का कानूनी (उपयोगितावादी) सिद्धान्त

5.3 अधिकारों का उपयोगिता विरोधी (Anti-utilitarian) सिद्धान्त

5.4 अधिकारों का कानूनी वास्तविकतावादी अधिकार

5.5 अधिकारों का मार्क्सवादी सिद्धान्त

6. भारत में मानवाधिकार

6.1 प्राचीन भारत में मानवाधिकार

6.2 19वीं शताब्दी में मानवाधिकार

6.3 भारतीय संविधान का निर्माण

6.3.1 भारतीय संविधान की प्रस्तावना

6.3.2 मूल अधिकार

6.3.2.1 समानता का अधिकार

6.3.2.2 स्वतन्त्रता का अधिकार

6.3.2.3 शोषण के विरुद्ध अधिकार

6.3.2.4 धर्म और अल्पसंख्यकों के अधिकारों की स्वतन्त्रता का अधिकार

6.3.2.5 सांवैधानिक उपचारों का अधिकार

6.3.3 राज्य की नीति के नीति-निर्देशक तत्त्व

7. सँयुक्त राष्ट्र और मानव अधिकारों की रक्षा

7.1 संयुक्त राष्ट्र घोषणा पत्र एवं मानवाधिकार

7.2 मानवाधिकारों की रक्षा से सम्बन्धित संयुक्त राष्ट्र के निकाय (Bodies)

7.2.1 साधारण सभा

7.2.2 आर्थिक एवं सामाजिक परिषद (ECOSOC)

7.3 मानवाधिकारों का सार्वभौमिक घोषणा-पत्र (Universal Declaration of Human Rights)

7.4 मानव उत्तरदायित्व का वैश्विक घोषणा पत्र, 1997 (यूनेस्को द्वारा 1997 में तैयार किया गया प्रारूप)

8. मानवाधिकार एवं विश्वशांति

8. (अ) मानवाधिकार एवं संघर्ष निराकरण

8.1 मानवाधिकार व्यवस्था की विषयवस्तु

8.2 राज्य के कर्त्तव्यों का स्वरूप

8.3 संघर्षों के दौरान मानवाधिकारों का प्रयोग

8.4 सामाजिक एवं राजनैतिक संघर्षों में मानवाधिकार की आवश्यकता

8.5 वंशीय व जातीय संघर्षों में मानवाधिकार कानून का महत्त्व

9. मानवीय गरिमा का आदर

9.1 राज्य व्यवस्था में प्रत्येक व्यक्ति की भागीदारी

9.2 व्यक्ति का विकास स्वयं के पुरुषार्थ से

9.3 मानवीय गरिमा से संबंधित कांट के विचार

9.4 बर्टेण्ड रसल व मानवीय गरिमा

9.5 विश्वशांति और मानवीय गरिमा

9.6 मानवीय गरिमा बनाम आत्म-तुला

9.7 भारतीय और पाश्चात्य चिन्तन में मानवीय गरिमा

10. विश्व समाज और विश्व नागरिकता

10.1 विश्व नागरिकता और नई विश्व व्यवस्था की संकल्पना का विकास

10.2 शिक्षा की आवश्यकता

10.3 पाठ्यक्रम

10.4 पाठ्येतर कार्यक्रम

10.5 विश्व नागरिकता के लिए यूनेस्को के प्रयास

11. जीवन के प्रति सम्मान

समाज विकास के साथ एक विचार जिसे हम ''मानवाधिकार'' के नाम से जानते हैं पिछले लगभग 800 वर्षों से विकसित होता रहा है। सर्वप्रथम सन् 1215 में इंग्लैंड के राजा जॉन ने मानव अधिकारों पर पहला घोषणा-पत्र सर्वमान्य कानून बनाने की दृष्टि से जारी किया था। तत्पश्चात् पुनः ऐसे ही प्रयास 15वीं सदी में फ्रांस और इंग्लैंड में हुए। मानवाधिकार के आधुनिक सिद्धान्त के जन्मदाता एच.जी. वैल्स थे जिन्होंने विश्व नागरिकों के अधिकारों व कर्त्तव्यों पर एक घोषणा-पत्र जारी करते हुए कहा था-''प्रत्येक मनुष्य को जीने का अधिकार है, अल्पसंख्यकों के संरक्षण का अधिकार है, ज्ञान प्राप्ति का अधिकार है, विचारों व उपासना की स्वतंत्रता का अधिकार है, कार्य करने का अधिकार है, व्यक्तिगत सम्पत्ति रखने का अधिकार है, व्यक्तिगत समृद्धि का अधिकार है, हिंसा से मुक्ति का अधिकार है, कानून बनाने का अधिकार है तथा वे समाज के प्रति उत्तरदायी हैं।'' वैल्स की इन्हीं धाराओं पर एक अन्तर्राष्ट्रीय कमेटी द्वारा विचार-विमर्श करने के पश्चात् इसका अन्तिम रूप तत्कालीन नवनिर्मित संस्थान संयुक्त राष्ट्र द्वारा स्वीकार कर लिया गया तथा 10 दिसम्बर 1948 को पूरे विश्व में यह लागू कर दिया गया। उसी दिन से 10 दिसम्बर मानवाधिकार दिवस के रूप में मनाया जाने लगा।

1. **मानवाधिकार : एक परिचय**

यदि हम 'अधिकार' के पांच तत्त्वों में 'मानवीय' शब्द जोड़ दें तो प्रथम तो इसका अर्थ होगा कि प्रत्येक व्यक्ति के पास ये अधिकार हैं। मानवाधिकारों का विषय वर्ग, उत्पत्ति, धर्म, लिंग और अन्तरों पर ध्यान दिये बिना, मानव प्राणी है।जब 'मानवीय' शब्द अधिकारों के दूसरे तत्त्व में जोड़ा जाता है तो वह सब दूसरे अधिकारें का स्थान ले सकता है। दूसरे शब्दों में मानवाधिकारों का स्थान व्यक्तियों अथवा समूहों के दूसरे अधिकारों से पहले है।

मानवाधिकारों के मामले में अपनी बात को जोर देकर कहने (Assertion) का तत्त्व महत्त्वपूर्ण हो जाता है क्योंकि वे अधिकार अधिकारपूर्ण तरीके से प्रत्येक व्यक्ति के पास होने ही चाहिये, प्रत्येक व्यक्ति को सामाजिक-आर्थिक पृष्ठभूमि, धार्मिक रीति-रिवाज, आर्थिक स्तर और इसी प्रकार के अन्य तत्त्वों की वजह से उनका प्रयोग करने की शक्ति प्रदान नहीं की जा सकती।

इसके अतिरिक्त कर्त्तव्यों की स्थिति (location), जो कि मानवाधिकारों से संबंधित है, का भी प्रश्न है। ये कर्त्तव्य मानवता के किसी विशेष वर्ग के कर्त्तव्यों के आवश्यक भाग हो सकते हैं। प्रत्येक व्यक्ति को जीवित रहने का अधिकार है, का अर्थ है कि प्रत्येक अन्य व्यक्ति का कर्त्तव्य है कि वह इस अधिकार का आदर करे। इसके विपरीत यदि प्रत्येक व्यक्ति का अधिकार है कि वह रविवार को 'अवकाश' मनाये तो यह सरकार का कर्त्तव्य है कि वह इस बात को सुनिश्चित करे कि उन्हें यह अवकाश मिले।

जैसा कि पहले विचार किया जा चुका है, मानवाधिकार 'सकारात्मक' अथवा 'नकारात्मक' हो सकते हैं और कर्त्तव्यों का निर्वहन करने वाले व्यक्ति से क्रमशः हस्तक्षेप न करने अथवा सकारात्मक कार्यवाही की मांग करते हैं। इस प्रकार मानवाधिकारों के तीन परस्पर संबंधित कर्त्तव्य हैं-

- **रक्षा करने का कर्त्तव्य**-किसी को किसी चीज का उपभोग करने से वंचित करने को टालना।
- **रक्षा करने का कर्त्तव्य**-किसी को किसी चीज का उपभोग करने से वंचित करने से रक्षा करना।
- **सहायता का कर्त्तव्य**-वंचितों की सहायता करना। 'मानवाधिकारों' को कई तरीकों से परिभाषित किया गया है।

जोइल फेनबर्स (Joel Feinbers) ने मानवाधिकारों की परिभाषा उन नैतिक अधिकारों, जो बिना किसी शर्त अथवा बिना किसी प्रकार का बदलाव किये, सब मानव प्राणियों के पास समान रूप से होते हैं, के रूप में की है।

क्रेन्सटन (Cranston) इस बात पर बल देते हैं कि परिभाषा के अनुसार मानवाधिकार एक वैश्विक नैतिक अधिकार है, यह एक ऐसी चीज है, जो सब लोगों के पास, प्रत्येक जगह, सब समय, नैतिक दृष्टि से होनी चाहिये, जिससे किसी को, न्याय का गम्भीर अनादर किये बिना वंचित न किया जा सके, जो प्रत्येक व्यक्ति के पास केवल मात्र इसलिये होनी चाहिये कि वह एक मानव है।

बासु (Basu) मानवाधिकारों को उन न्यूनतम अधिकारों के रूप में परिभाषित करते हैं, जो प्रत्येक व्यक्ति के पास, अन्य किसी बात का विचार किये बिना, उसके मानव परिवार का सदस्य होने के कारण राज्य अथवा किसी अन्य सार्वजनिक अधिकारी के विरुद्ध, होने चाहिये।

भारत के 1993 के मानवाधिकार संरक्षण कानून में मानवाधिकारों को जीवन, स्वतन्त्रता, समानता और व्यक्ति की गरिमा से संबंधित उन अधिकारों के रूप में, जिनकी संविधान के द्वारा गारण्टी दी गई है अथवा जिनको अन्तर्राष्ट्रीय समझौतों में व्यक्त किया गया है और जो भारत के न्यायालयों में लागू किये जा सकते हैं, के रूप में परिभाषित किया गाय है। इसलिये जहाँ तक भारत का सम्बन्ध है, संविधान में व्यक्त किये गये केवल लागू किये जा सकने योग्य अधिकार ही मानवाधिकार हैं। राष्ट्रीय मानवाधिकार आयोग का गठन मानवाधिकार सुरक्षा कानून 1993 के द्वारा किया गया था।

परिभाषा के शब्द चाहे जितने ही भिन्न प्रकार के हों, वे सामान्यतया एक ही विचार पर केन्द्रित होते हैं कि मानवाधिकार सभी मनुष्यों पर लागू होते हैं क्योंकि वे मानव प्राणी हैं और इसलिये वे मानवाधिकारों में अन्य अधिकारों; जैसे-वैधानिक, समझौते (Contract) से संबंधित अथवा परम्परागत कानून, से अन्तर करते हैं।

ऊपर वर्णित अन्तर्राष्ट्रीय समझौते (International Covenants) आपके द्वितीय प्रश्न-पत्र के भाग हैं। आइये अब हम देखें कि कौन मानवाधिकारों के पात्र हैं।

आपने कई ऐसे मामले देखें होंगे, जहाँ किसी व्यक्ति को उस गरिमा और देखभाल से वंचित कर दिया गया है, जिसे प्राप्त करने का, एक मानव प्राणी होने के नाते, उसका अधिकार है। उदाहरण के लिये एक ऐसा व्यक्ति, जिसे बिना किसी कारण के पुलिस हिरासत में बन्द कर दिया गया हो, एक ऐसा रोगी, जिसका इलाज करने से इनकार कर दिया गया हो, अथवा कोई महिला, जिसे अपनी नवजात बच्ची को मार

देने के लिए बाध्य किया गया हो। इनमें से प्रत्येक मामले में और ऐसे अनगिनत दूसरे मामलों में व्यक्ति के मानवाधिकारों का हनन किया गया है।

सामान्य भाषा में कहें तो मानवाधिकार वे अधिकार होते हैं, जो किसी व्यक्ति को अपनी इच्छा से गरिमामय और सुरक्षित जीवन बिताने की स्वतन्त्रता प्रदान करते हैं। इनमें व्यक्ति की सुरक्षा से संबंधित अधिकार, किसी के बल प्रयोग से मुक्ति का अधिकार, सामाजिक लाभों का अधिकार, आराम और विश्राम; और बुनियादी शिक्षा का अधिकार शामिल हैं। इस तरह के अन्य अधिकारों पर हम इस प्रश्न-पत्र की इकाई-प्प् में विचार-विमर्श करेंगे। निम्न सारिणी में कुछ 'नागरिक और राजनैतिक अधिकार' और कुछ 'आर्थिक, सामाजिक और सांस्कृतिक अधिकार' दिये गये हैं-

नागरिक और राजनैतिक अधिकार	**आर्थिक, सामाजिक और सांस्कृतिक अधिकार**
1. गुलामी और यातना से मुक्ति	काम का अधिकार
2. जीवन, स्वतन्त्रता और सुरक्षा का अधिकार	श्रम संगठन बनाने और उनमें शामिल होने का अधिकार
3. कानून के समक्ष समानता का अधिकार	सामाजिक सुरक्षा का अधिकार, मातृत्व और बचपन की सुरक्षा का अधिकार
4. मनमाने तौर पर हिरासत में रखने के विरुद्ध सुरक्षा का अधिकार	अच्छे रहन-सहन के स्तर का अधिकार
5. मामले की न्यायोचित सुनवाई का अधिकार	स्वास्थ्य का अधिकार
6. सम्पत्ति रखने का अधिकार	शिक्षा का अधिकार
7. निजता, परिवार और विवाह का अधिकार	संस्कृति का अधिकार
8. राष्ट्रीयता का अधिकार	विज्ञान और टैक्नोलॉजी के लाभों से लाभान्वित होने का अधिकार
9. धर्म का अधिकार	
10. अभिव्यक्ति का अधिकार	

यदि मानवाधिकारों के आधार पर कोई सहमति होती, तब भी एक आधारभूत प्रश्न रह जाता : मानवाधिकार कौन रखता है? कोई भी व्यक्ति यह बात जोर देकर कह सकता है कि सभी मानव प्राणी मानवाधिकार रखते हैं। परन्तु 'मानव' शब्द का अर्थ अस्पष्ट है, क्योंकि एक मानव प्राणी का जीवन-चक्र गर्भाधान से लेकर मृत्यु तक चलता है। यह बात विवादास्पद है कि इन दोनों स्थितियों के बीच मानव प्राणी कब और कैसे मानव अधिकारों को प्राप्त कर लेता है और फिर खो देता है। गर्भाधान से भी पूर्व शुक्राणुओं और अण्डाणुओं में मानव जैव सामग्री पाई जाती है। परन्तु कोई भी आदमी सरलता से यह निष्कर्ष निकाल सकता है कि ये तो केवल मानव कोशिकाएँ हैं, 'मानव प्राणी' नहीं, क्योंकि उनमें मानव जीन्स (Genes) के अधूरे सैट होते हैं। परन्तु फिर गर्भाधान के पश्चात् भ्रूण की स्थिति के बारे में क्या कहा जायेगा? अन्तर न किये जा सकने वाली कोशिकाओं के ढेर से भ्रूण

शीघ्र ही एक पहचाने जा सकने वाले मानव अस्तित्व के रूप में विकसित हो जाता है। बहुत से व्यक्ति यह कहते हुए कि एक अलग मानव की पहचान 'जन्म' से ही प्रारम्भ होती है, भ्रूण और नवजात शिशु में अन्तर करते हैं। परन्तु यह एक मनमाने तौर पर किया गया अन्तर प्रतीत होता है, क्योंकि एक बच्चा जन्म से तुरन्त पहले और तुरन्त पश्चात् विकास की लगभग उसी स्थिति में रहता है। कोई व्यक्ति अधिकारों की प्राप्ति के लिए मनमाने तौर पर कोई भी बिन्दु ले सकता है, जैसे कि गर्भाधान, तन्त्रिका विकास (Neural development), स्वतन्त्र रूप से विकास करने और जीवित रहने की क्षमता अथवा गर्भ से बाहर निकलना। परन्तु ऐसे किसी भी बिन्दु को तय करना विवादास्पद होगा, क्योंकि प्रत्येक व्यक्ति विकास की किसी विशेष स्थिति को सन्दर्भ बिन्दु बनाने पर सहमत नहीं होगा। गर्भपात एक अलग-अलग मतों का मुद्दा केवल इसी वजह से है कि मानव जीवन कब प्रारम्भ होता है, इस बात पर विभिन्न समूहों की अलग-अलग राय है।

विकल्प के तौर पर कोई व्यक्ति यह तर्क दे सकता है कि मानव जीवन का एक विशेष गुण होता है, जो अधिकारों की प्राप्ति के लिए एक आधार प्रदान करता है और जब यह गुण प्राप्त हो जाता है तो अधिकार भी प्राप्त हो जाते हैं। बहुत से व्यक्ति इस मत का समर्थन करते हैं, क्योंकि यह मानवों और दूसरे जानवरों के बीच अन्तर करने की अनुमति देता है। मानवअधिकार वे अधिकार होते हैं, जो विशेष रूप से मानव प्राणियों के होते हैं, इसलिये अधिकारों पर दावे का आधार कोई ऐसी बात होनी चाहिये जो मानवों को दूसरे जानवरों से अलग करती हो। यह अन्तर सामान्यतया मानव जीवन के किसी ऐसे गुण के आधार पर किया जाता है, जो दूसरे जानवरों में नहीं पााय जाता हो, न कि शारीरिक विशेषताओं के आधार पर। विशिष्ट रूप से मानवीय गुणों को सामान्यत: हमारे बौद्धिक, नैतिक अथवा आध्यात्मिक विकास की क्षमता के रूप में पहचाना जाता है।

मानवीय जीवन के किसी गुण के आधार पर अधिकार स्थानान्तरित करने के प्रयास में कठिनाई यह है कि सभी मानव प्राणियों में ये गुण समान मात्रा में नहीं हो सकते। उदाहरण के लिये मानसिक रोगियों और बच्चों को अपने आस-पास के वातावरण का होश नहीं रहता, वे तर्क संगत तरीके से विचार करने में असमर्थ होते हैं अथवा सही और गलत में अन्तर नहीं कर पाते। बच्चों और मानसिक रोगियों के अधिकार अधिकांशत: उस आधार पर निर्भर करते हैं, जो कि कोई व्यक्ति अधिकारों को रखने के लिये अपनाता है। इसी प्रकार किसी व्यक्ति की गर्भपात, शिशु-हत्याऔर दया-मृत्यु पर राय अविकसित भ्रूण, शिशुओं और असाध्य रोग से पीड़ित व्यक्तियों की स्थिति से प्रत्यक्ष रूप से संबंधित हो सकती है।

यदि मानवाधिकारों को मानव-प्रजाति की किन्हीं विशेषताओं पर आधारित किया जाना है तो क्या ये अधिकार उन लोगों पर भी लागू किये जा सकते हैं, जिनमें इनका अभाव होता है? कुछ व्यक्ति इस प्रश्न का उत्तर अधिकारों को रखने और उनका प्रयोग करने में अन्तर करके करते हैं। इस प्रकार एक स्वस्थ बच्चे के पास मानवाधिकारों की पूरी श्रेणी हो सकती है, परन्तु वह उनका प्रयोग करने में असमर्थ हो सकता है, विशेष रूप से बौद्धिक प्रकृति के अधिकार। दूसरे व्यक्ति इस अन्तर से असहमत हो सकते हैं, उन अधिकारों के, जिनका कि उन अधिकारों को रखने वालों के द्वारा प्रयोग नहीं किया जा सकता, अस्तित्व को ही गलत ठहरा सकते हैं।

मानवाधिकारों के बारे में एक और विवाद इस बात से संबंधित है कि क्या वे केवल व्यक्तियों के लिए हैं अथवा वे मानव-समूहों के सामूहिक अधिकार हो सकते हैं। कुछ व्यक्ति यह तर्क देते हैं कि मानवाधिकार केवल अलग-अलग व्यक्तियों के ही हो सकते हैं। दूसरे व्यक्ति यह तर्क देते हैं कि

मानव-जीवन समूहों में ही बिताये जाते हैं और मानव जीवन का पूरा आनन्द तभी लिया जा सकता है, जब वे समूह फलने-फूलने में समर्थ हो सकें।

2.मानवाधिकार : वैश्विक, प्राकृतिक, कम न किये जा सकने वाले, और अविभाज्य

मानवाधिकारों और कर्त्तव्यों का कई शताब्दियों से और विशेषकर हाल ही के वर्षों में विकास होता आ रहा है, आधुनिक अन्तर्राष्ट्रीय कानून के अन्तर्गत व्यक्ति के स्तर (Status) को ऊँचा उठाने में इसका बड़ा भारी प्रभाव पड़ा है। इसने सरकार के लिये वैधानिकता की एक कसौटी (Criterion) और समाज के लिये सभ्य मापदण्ड (Norm) भी प्रदान किया है। यद्यपि मानवाधिकार संयुक्त राष्ट्र घोषणा पत्र में सांवैधानिकता के आधार पर केवल द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद ही प्रमुखता में आये, इनकी अवधारणा अविकसित रूप में, जब से मनुष्य ने संगठित समुदायों में एक समूह में रहने वाले प्राणी के रूप में रहना शुरू किया है, तब से अस्तित्व में रही है। दृढ़तापूर्वक अपनी स्वीकृति करवाने की क्रमिक अवस्थाओं और विभिन्न स्तरों पर अपनी औपचारिक पहचान करवाने में, चाहे वह परिवार में हो, परिवारों के समूह, आदिम जातिगत समूह, गांव, कस्बा अथवा राष्ट्र, अथवा हमारे समय में वैश्विक स्तर पर हो, मानवाधिकारों ने हमेशा मानव सभ्यता के सामने एक चुनौती प्रस्तुत की है। राज्य (state) के विरुद्ध ग्रहण किये जाने और इसके अबाधित अधिकार के प्रयोग के कारण मानव के अधिकारों को प्राकृतिक अधिकार, जन्मजात (Inherent) अधिकार, कम न किये जा सकने वाले अधिकार, अविभाज्य अधिकार, वैश्विक अधिकार अथवा मूलभूत अधिकार कहा जाता है। इस प्रश्न-पत्र में हम मानवाधिकारों से जुड़ी हुई निम्न चार अभिव्यक्तियों का अध्ययन करेंगे-

(अ) वैश्विक

(ब) हस्तान्तरित न किये जा सकने वाले

(स) प्राकृतिक (inherent) और

(द) अविभाज्य।

मानवाधिकार वैश्विक हैं क्योंकि ये प्रत्येक समाज में सभी मानवों से संबंधित कहे जाते हैं। ये हस्तान्तरित न किये जा सकने वाले समझे जाते हैं क्योंकि वे मानव अस्तित्व के सार हैं, वे मानव अस्तित्व को खतरे में डाले बिना किसी के लिये नहीं जा सकते और हस्तान्तरित नहीं किये जा सकते। साथ ही ये अधिकार प्राकृतिक (सहज) (मानव प्राणियों में स्थायी गुण अथवा विशेषता के रूप में विद्यमान) और अविभाज्य (जिनका विभाजन नहीं किया जा सकता और जिन्हें अनेकों के बीच बांटा नहीं जा सकता) हैं।

2.1 मानवाधिकारों की वैश्विकता-मानवाधिकार उन न्यूनतम अधिकारों को बताया गया है जो प्रत्येक व्यक्ति के पास, उसका मानव परिवार का सदस्य होने के कारण, बिना किसी अन्य बात पर ध्यान दिये, होने ही चाहिये। ये मनुष्य के उस जीवन, जिसमें उसकी जन्मजात गरिमा को आदर और सुरक्षा मिले, के अधिकार पर आधारित है। पाश्चात्य राजनैतिक और दार्शनिक विचारधारा के अनुसार मानवाधिकार मनुष्यों के अन्दर ही निहित (innate) हैं और 'मानव प्राणियें के गुण' के अन्दर ही विद्यमान हैं। वे मनुष्य के जन्मजात और अहस्तान्तरणीय अधिकार हैं। इसलिये कोई राज्य (state) जो अपने कानूनों में और कार्य में इनका उल्लंघन करता है तो वह राज्यों के बीच नागरिक सह-अस्तित्व की पूर्व आवश्यकता को ही भंग करता है।

2.1.1 अन्तर्राष्ट्रीय घोषणा-पत्र-अभिव्यक्ति 'मानवाधिकार' का प्रथम दस्तावेजी प्रयोग संयुक्त राष्ट्र के घोषणा-पत्र में किया गया, जिसने मानवाधिकारों के प्रोत्साहन और पोषण की संयुक्त राष्ट्र के मूल उद्देश्यों में से एक के रूप में घोषणा की। संयुक्त राष्ट्र का घोषणा-पत्र मानवाधिकारों को परिभाषित नहीं करता अथवा उनकी विषयवस्तु की व्याख्या नहीं करता। अधिकारों के अन्तर्राष्ट्रीय बिल,जो (i)UDHR; (ii) ICCPR; और (iii) ICESCR से मिलकर बना है, में बहुत बड़ी संख्या में वे अधिकार शामिल हैं, जो अब अन्तर्राष्ट्रीय समुदाय के द्वारा मानवाधिकारों के रूप में स्वीकार किये जा रहे हैं। मानवाधिकारों पर अन्तर्राष्ट्रीय कानून की बहुत बड़ी संख्या को संयुक्त राष्ट्र घोषणा-पत्र में व्यवस्थित रूप से रख दिये जाने पर, न्क्भ्त और दूसरी संधियां विश्व में प्रत्येक जगह समस्त मानव प्राणियों पर वैश्विक रूप से लागू की जा सकती हैं।

ये अन्तर्राष्ट्रीय Covenants यह अधिकार भी देते हैं कि मानवाधिकार किसी भी प्रकार के, जैसे कि जाति (Race), रंग, लिंग, भाषा, धर्म, राजनैतिक मत, राष्ट्रीय अथवा सामाजिक उत्पत्ति, सम्पत्ति अथवा अन्य किसी स्तर के किसी भी प्रकार के अन्तर के बिना विश्व भर में लागू किये जा सकते हैं।

2.1.2 एशियन परिप्रेक्ष्य-बहुत से एशियन देश, जो संयुक्त राष्ट्र के सदस्य हैं और जिन्होंने UDHR और दूसरी मानवाधिकार संधियों पर हस्ताक्षर किये हैं, कभी-कभी यह महसूस करते हैं कि पश्चिमी देश मानवाधिकारों का अपने राजनैतिक और वैचारिक नेतृत्व के लिय एक औजार के रूप में प्रयोग कर रहे हैं। कुछ देश यह भी सोचते हैं कि मानवाधिकार एक पश्चिमी अवधारणा है। ये अलग-अलग प्रकार के विचार जून, 1993 में मानवाधिकारों पर हुए संयुक्त राष्ट्र सम्मेलन में तीव्र केन्द्र-बिन्दु में आये। कुछ एशियाई राष्ट्र इस विचार के थे कि जबकि मानवाधिकार अपनी प्रकृति में वैश्विक हैं, फिर भी उन पर 'राष्ट्रीय और क्षेत्रीय विशेषताओं और विभिन्न ऐतिहासिक, सांस्कृतिक और धार्मिक पृष्ठभूमियों को ध्यान में रखते हुए अन्तर्राष्ट्रीय मानदण्ड स्थापित करने की गतिशील प्रक्रिया' के सन्दर्भ में विचार किया जाना चाहिये। मानवाधिकारों की पाश्चात्य अवधारणा की एशियाई आलोचना यह है कि वैश्विक मानवाधिकार हो ही नहीं सकते क्योंकि कोई एक ही मानव प्रकृति नहीं है, और इस प्रकार, कोई भी वैश्विक नैतिक नियम जो कि सब प्रकार की संस्कृतियों को प्रभावित कर सके, नहीं हो सकता। 'मानवधिकारों की वैश्विकता भिन्न-भिन्न नैतिक स्तरों और सामाजिक परम्पराओं वाली संस्कृतियों पर लागू की जाने वाली एक पाश्चात्य विचारधारा है।' इनकी एक और आलोचना यह है कि विकसित देश अच्छी शासन-व्यवस्था और मानवाधिकारों की आड़ में गैर-पश्चिमी समाजों पर पाश्चात्य मूल्य थोपने का प्रयास कर रहे हैं।

2.1.3 भारतीय परिदृश्य-हिन्दू, जैन और बौद्ध अवधारणा भी मानवाधिकारों की वैश्विकता की बात करती है। मानवाधिकारों के पाश्चात्य विचार के अनुरूप 'धर्म' सम्भवत: सर्वाधिक उपयुक्त शब्द है। 'धर्म' शब्द के अनेक अर्थ हैं; इसका मतलब कानून, आचार के मानदण्ड, वस्तुओं का चरित्र, सही, सत्य,धार्मिक क्रियाकलाप, नैतिकता, न्याय, उचित और अनुचित का ज्ञान, धर्म, भाग्य और बहुत-सी अन्य बातें हैं। न्याय समाज को बांधे रखता है, नैतिकता स्वयं का सामंजस्य बनाये रखती है, कानून मानवीय संबंधों के लिये परस्पर बांधने वाला सिद्धान्त है, धर्म वह है, जो ब्रह्माण्ड को धारण करता है, भाग्य वह है, जो हमें भविष्य से जोड़ता है, और सत्य किसी वस्तु की आन्तरिक एकता है, और इसी प्रकार अन्य बातें हैं। धर्म सम्पूर्ण वास्तविकता की व्यवस्था है जो संसार को संगठित रखती है। एक न्यायपूर्ण

समाज के लिये आधुनिक पश्चिम मानवाधिकारों की अवधारणा पर जोर देता है, और प्राचीन भारत 'स्वधर्म' की अवधारणा पर बल देता है।

1948 में संयुक्त राष्ट्र द्वारा स्वीकार किये गये न्क्भ्त का पहला अनुच्छेद बताता है : ''समस्त मानव प्राणी गरिमा और अधिकारों में स्वतन्त्र और समान पैदा होते हैं। उन्हें तर्क और चेतना का उपहार मिला हुआ होता है और उन्हें एक-दूसरे के साथ भाईचारे की भावना से व्यवहार करना चाहिये।'' भारतीय दृष्टि यह विचार रखती है कि मानवाधिकार किसी एक व्यक्ति के अधिकार नहीं हैं, बल्कि वे ब्रह्माण्ड के समस्त विशाल प्रदर्शन से सम्बन्ध रखते हैं। पशु, समस्त चेतनायुक्त प्राणी और अजीव संसार, सब ''मानवाधिकारों'' से संबंधित सहयोग में शामिल हैं। मानवाधिकारों में कर्त्तव्य भी शामिल हैं। मानव जाति को जीवित रहने का 'अधिकार' तभी तक है, जब तक कि वह संसार को बनाये रखने के कर्त्तव्य का पालन करती है। मानव अधिकार पूर्ण (Absolute) नहीं है। वे परस्पर सापेक्ष है, वे अलग-अलग अस्तित्वों के बीच संबंध हैं।

2.1.4 ईसाइयत और जुडा धर्म (Judaism)-मानवाधिकारों की वैश्विकता का विचार ईसाइयत और जुडा धर्म में पाया जाता है। मानवाधिकारों का आधार देश (State) से भी ऊँचा कानून है और जिसका स्रोत सर्वोच्च सत्ता (Supreme Being) है, क्योंकि एक ही पिता ने सम्पूर्ण मानव जाति को जन्म दिया है, इसलिये उसी से कुछ अधिकारों और सब मनुष्यों की वैश्विकता प्रवाहित होती है। बाइबिल में अनेक मानवाधिकारों की अवधारणाओं का वर्णन है : गुलामी पर सीमा (Exodus 21.2); गरीबों के साथ न्याय (Isaih 1 : 16-17); अपरिचितों के साथ अच्छा व्यवहार (Leviticus : 23 : 22); जातिगत समानता (Amos 9.7); श्रम की सुरक्षा (Deuteronomy 23 : 25-26)।

2.1.5 इस्लाम-इस्लाम ने मानवता के लिये कुछ मूल अधिकार निर्धारित किये हैं, जिनका सब परिस्थितियों में पालन और आदर किया जाता है। ये मूल अधिकार प्रत्येक मनुष्य के लिये, उसका स्तर एक मानव प्राणी होने के कारण, हैं। कुरान में विचार किये गये मूल अधिकार हैं : (1) जीवन की सुरक्षा का अधिकार, (2) न्याय का अधिकार, (3) समानता का अधिकार, (4) जो काम कानून सम्मत है उसका पालन करने का कर्त्तव्य और जो काम कानून सम्मत नहीं है, उसकी अवज्ञा करने का अधिकार, (5) सार्वजनिक जीवन में भाग लेने का अधिकार, (6) अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता का अधिकार, (7) धर्म में अन्तर होने के आधारों पर दण्डित किये जाने के विरुद्ध सुरक्षा का अधिकार, (8) निजता का अधिकार, (9) आर्थिक अधिकार और इसी प्रकार और अधिकार। इस्लाम में मानवाधिकार व्यक्ति की गरिमा से संबंधित हैं।

कोई भी धर्म मानव प्राणी की प्राकृतिक (Inherent) गरिमा के विचार से इनकार नहीं कर सकता। चाहे कोई व्यक्ति इस गरिमा को 'वैश्विक' मानवाधिकारों में अवस्थित माने अथवा किसी विशेष परम्परा अथवा धर्म में, तथ्य यह है कि मानवीय गरिमा अथवा अधिकार प्रत्येक समाज में सुरक्षा के योग्य माना जाता है। अन्तर उन विशिष्ट तरीकों में है, जिनसे इसे सुरक्षित रखा जाता है। प्राथमिकताओं के बारे में असहमतियाँ हैं परन्तु मानवीय गरिमा को बनाये रखने के चरम उद्देश्य में नहीं। इसीलिये अन्तर्राष्ट्रीय मानवाधिकार और वैश्विक अधिकार हैं। विभिन्न अन्तर्राष्ट्रीय घोषणा-पत्र और समझौते मानवाधिकारों के सकारात्मक रूप को स्वीकार करती है। मोरिस क्रेन्सटन (Maurice Cranston) ने अपनी पुस्तक 'मानवाधिकार क्या हैं?' (What are human rights?) में इस बात को जोर देकर कहा है कि मानवाधिकार 'सब लोगों के, सब समय और सब स्थितियों में अधिकार होने' के अर्थ में नैतिक अधिकारों से भिन्न हैं। जिस बात को स्वीकार किया जाना है, वह यह है कि वैश्विक मानवाधिकारों

की अवधारणा उन मूल्यों को अभिव्यक्त करते हैं, जो न केवल दृढ़ता से जमे हुए मूल्यों और अवधारणाओं के साथ संघर्ष की स्थिति में हैं, बल्कि समाज और सामाजिक संस्थाओं के कुछ प्रकारों से मेल नहीं खाते (are incompatible with).UDHR व्यक्ति (Individual) के मानवाधिकारों का वर्णन है, के बारे में बिना उस विशेष सामाजिक और राजनैतिक व्यवस्था, जिसके अन्तर्गत वह व्यक्ति रह रहा है, विचार किये। यह घोषणा-पत्र उन अधिकारों की विस्तृत सूची का एक-एक करके नाम देता है, जिन्होंने वैश्विक सहयोग को सुरक्षित रखा है और जिनसे जुड़े रहने के लिये लगभग समस्त देशों की सरकारें अपने आपको बाध्य महसूस करती हैं। अधिकार, जैसे कि अभिव्यक्ति और मिलने-जुलने की स्वतन्त्रता का अधिकार न केवल पूर्ण मानव प्राणियों के रूप में जीने की अवधारणा के लिये महत्त्वपूर्ण हैं, बल्कि समस्त दूसरे मानवाधिकारों को सुनिश्चित करने और उनकी सुरक्षा करने के लिये भी आवश्यक साधन है।

इस प्रश्न का उत्तर देते हुए हम इस मुद्दे को देख सकते हैं : वैश्विक और मूल मानवाधिकार वास्तव में हैं क्या? जब किसी एक देश में लोग अधिकारों के प्रश्न के बारे में बहस करते हैं, तो यह अपेक्षा कैसे की जा सकती है कि एक बड़े क्षेत्र, जैसे कि एशिया अथवा यूरोप, और व्यापक दृष्टि से देखा जाये तो विश्व भर के लोग मानवाधिकारों के स्तरों के एक सैट (Set) से सहमत हो सकते हैं? इस प्रश्न का कोई उत्तर नहीं है। अन्तर्राष्ट्रीय प्रणाली देशों के लिये उचित मार्गदर्शन की गुंजाइश छोड़ती है। इसलिये यहां समस्या मानवता के अलग-अलग क्षेत्रों में अपने-अपने मानवाधिकारों को प्राथमिकता देने की है। अन्तर्राष्ट्रीय दस्तावेजों को मानवाधिकारों के लिये स्तर निर्धारित करने वाले आदर्श दस्तावेज के रूप में देखा जाना चाहिये। व्यवहार में यह सामान्यतया स्वीकार किया जाता है कि सम्पूर्ण संसार में सब लोगों के लिये सब समय पर सब अधिकारों की गारण्टी देना असम्भव है

इस सम्बन्ध में वैश्विकता और एकरूपता में अन्तर करना बहुत महत्त्वपूर्ण है। यदि मानवाधिकारों को सारे देशों में समान रूप से लागू किया जाये तो उनको सब जगह ठीक एक ही तरह से लागू करना पड़ेगा। इतना होने पर भी मानवाधिकारों को वैश्विक रूप से लागू किया जाना है, जिसका मतलब है सब जगह, परन्तु ठीक एक ही प्रकार से नहीं। यह अन्तर अलग-अलग राष्ट्रों को उन उपायों की, जिनके द्वारा वे मानवाधिकारों को लागू करना चाहें, स्वतन्त्रता प्रदान करता है, परन्तु यह हर प्रकार की व्याख्या के लिये खुली अनियंत्रित स्वतन्त्रता नहीं है। यह जिम्मेदारी के साथ स्वतन्त्रता है। मानवाधिकारों के प्रति समर्पित राष्ट्रों को, जब वे राष्ट्रीय सन्दर्भ में वैश्विक मानवाधिकारों को लागू कर रहे हों, तो उन्हें मानवाधिकारों के संरक्षण के सभी लक्ष्यों और उद्देश्यों का पालन करना चाहिये। मानवाधिकार के वे प्रावधान जो इन अधिकारों की रक्षा करते हैं, जितने ज्यादा निश्चित, सकारात्मक और स्पष्ट होंगे, लोगों के लिये वैश्विक रूप से मूल मानवाधिकारों को प्राप्त करने में अन्तर्राष्ट्रीय प्रणाली उतनी ही ज्यादा सफल होगी। वैश्विक अधिकारों के दावों को उन दावों के, जिनको वैश्विक समर्थन प्राप्त हो, के बजाय उन दावों के रूप में देखा जाना चाहिये, जिनके लिये कोई व्यक्ति एक वैश्विक पात्रता स्थापित कर सकता हो। वैश्विक अधिकार आवश्यक रूप से किसी भी अन्तर अथवा अलगाव को रोकते हैं, चाहे वह 'जाति (Race), रंग, लिंग, भाषा, धर्म, राजनैतिक आधारों पर हो, अथवा राष्ट्रीय या सामाजिक, उत्पत्ति (Origin), सम्पत्ति, जन्म या दूसरे स्तर के आधार पर हो।'

2.2 प्राकृतिक (Inherent) मानवाधिकार-प्राकृतिक मानवाधिकारों की औपचारिक अभिव्यक्ति अन्तर्राष्ट्रीय मानवाधिकार कानून के माध्यम से होती है। वर्ष 1945 से प्राकृतिक मानवाधिकारों को कानूनी स्तर प्रदान

करते हुए अन्तर्राष्ट्रीय मानवाधिकार संधियों और अन्य दस्तावेजों की एक श्रृंखला दृष्टिगोचर हुई है। संयुक्त राष्ट्र की स्थापना ने अन्तर्राष्ट्रीय दस्तावेजों, जिन्होंने मानवाधिकारों को प्राकृतिक और पूर्ण अधिकारों के रूप में मान्यता दी, के विकास और स्वीकृति के लिये एक आदर्श मंच प्रदान किया।

वैश्विक घोषणा पत्र (Universal Declaration) में मान्यता प्रदान किये गये प्राकृतिक मानवाधिकारों को तीन से अधिक दशकों में अन्तर्राष्ट्रीय कानूनों और स्तरों, जिनमें क्षेत्रीय स्तरों पर स्वीकृत संधियाँ और अन्य दस्तावेज शामिल हैं, में और अधिक विस्तार दिया गाय है। इन अधिकारों के अन्तर्गत नागरिक, राजनैतिक, आर्थिक, सांस्कृतिक और सामाजिक गतिविधियाँ आती हैं और इन्हें न केवल वैश्विक, बल्कि अविभाज्य और परस्पर निर्भर माना जाता है।

UDHRप्रस्तावना में कहा गया है : मानव परिवार के सभी सदस्यों की प्राकृतिक गरिमा और समान और अहस्तान्तरणीय अधिकारों की मान्यता संसार में स्वतन्त्रता, न्याय और शान्ति का आधार है।UDHR व्यक्ति के जीवन, स्वतन्त्रता और सुरक्षा को प्राकृतिक मानवाधिकार के रूप में मान्यता देता है (अनुच्छेद 1) और यह भी स्वीकार करता है कि प्रत्येक व्यक्ति को कानून के समक्ष प्रत्येक जगह एक व्यक्ति के रूप में पहचाने जाने का (अनुच्छेद 6), राष्ट्रीयता का, (अनुच्छेद 15), और विचार, चेतना और धर्म का अधिकार है (अनुच्छेद 18)।

ये अधिकार प्रत्येक व्यक्ति में प्राकृतिक रूप से पाये जाते हैं और उसकी प्राकृतिक पात्रता है, जो उसे मानव प्राणी होने के परिणामस्वरूप प्राप्त होती है। संधियां, संविधान और कानून के अन्य स्रोत सामान्यतया औपचारिक रूप से व्यक्तियों और समूहों के प्राकृतिक अधिकारों की, सरकारों के द्वारा किये गये अथवा न किये गये कार्यों, जो उनके मानवाधिकारों के उपभोग में बाधा डालते हैं, रक्षा करते हैं।

2.3 अहस्तान्तरणीय मानवाधिकार–ये मानवाधिकार प्रकृति में अहस्तान्तरणीय हैं। ये एक व्यक्ति से दूसरे व्यक्ति तक हस्तान्तरित नहीं किये जा सकते। यद्यपि हम अधिकारों के भिन्न-भिन्न वर्गों के बीच अन्तर कर सकते हैं, फिर भी वे सब अहस्तान्तरणीय हैं।

1. व्यक्ति के अधिकार-जीवन का अधिकार।

2. व्यक्तियों के अधिकार-विचार और चेतना का अधिकार।

3. ऐसी स्थितियों, जिनको टाला न जा सके, के कारण व्यक्तियों के अधिकार, जैसे बच्चों और महिलाओं के अधिकार।

4. सम्भावित, यद्यपि टाली जा सकने वाली स्थितियों के कारण व्यक्ति के अधिकार, जैसे-बीमार व्यक्ति के अधिकार।

5. समूहों में व्यक्तियों के अधिकार, जैसे-गुलामों के अधिकार।

6. उन समूहों के, जो व्यक्ति बना सकते हैं, के अधिकार, जैसे-उन व्यक्तियों के अधिकार, जिन्होंने श्रम संगठन बना लिया है, और किसी स्थान पर प्राकृतिक रूप से रहने वाले व्यक्तियों के अधिकार।

किसी स्थान पर प्राकृतिक रूप से रहने वाले (Indigenous) लोगों के मानवाधिकारों का उदाहरण लीजिये। ये अधिकार अहस्तान्तरणीय हैं और उनको वापस नहीं लिया जा सकता क्योंकि उनकी indigenous पहचान उनके व्यक्तित्व का एक भाग है। मानवाधिकारों की अहस्तान्तरणीय प्रकृति को हमारे संविधान में दिये गये मूल अधिकारों के उदाहरण से समझाया जा सकता है। मूल अधिकार, जैसे कि जीवन और व्यक्तिगत स्वतन्त्रता का अधिकार, कानून के समक्ष समानता का अधिकार, बोलने और

विचारों की अभिव्यक्ति का अधिकार, और विचार और चेतना का अधिकार-ये व्यक्ति के अहस्तान्तरणीय अधिकार हैं। किसी भी परिस्थिति में उन्हें किसी दूसरे व्यक्ति को हस्तान्तरित नहीं किया जा सकता। इतना होने पर भी, विशिष्ट स्थितियों में इन अधिकारों पर प्रतिबन्ध लगाया जा सकता है। उदाहरण के लिये, यदि कोई व्यक्ति कानून के न्यायालय के द्वारा किसी अपराध का दोषी पाया जाता है तो उसकी स्वतन्त्रता के अधिकार को प्रतिबन्धित किया जा सकता है।

2.4 अविभाज्य-अधिकार की अवधारणा मनुष्य के एक स्वतन्त्र व्यक्ति और एक गरिमावान और मूल्यवान प्राणी के रूप में स्वीकृति पर आधारित है और इसी स्वीकृति से यह अवधारणा अपना अधिकांश समर्थन और रंग प्राप्त करती है। मनुष्य को तर्क और चेतना का उपहार भी मिला हुआ है, और वह नैतिक चुनाव और मुक्त गतिविधि करने में भी समर्थ है। मानवाधिकार व्यक्तियों के, व्यक्तियों की आवश्यकताओं और उद्देश्यों की पूर्ति के लिये हैं। परन्तु चूंकि हमारी आवश्यकताओं और उद्देश्यों की पूर्ति व्यक्तियों के एक-दूसरे के साथ सहयोग से काम करने से ही हो सकती है, इसलिये व्यक्तियों के मिलने-जुलने और संगठन बनाने और इस प्रकार बना हुआ संगठन कानून के अन्तर्गत स्वतन्त्रतापूर्वक काम कर सके, इस अधिकार को मान्यता देना अत्यन्त आवश्यक है। इतना होने पर भी, संगठन में हमेशा एक-दूसरे के सम्बन्ध में सदस्यों के काम करने की स्वतन्त्रता में कुछ प्रतिबन्ध शामिल होते हैं, ऐसे प्रतिबन्ध, जो सामान्यत: नियमों में और संगठनात्मक ढ़ांचे के माध्यम से अभिव्यक्ति पाते हैं।

मानवाधिकार व्यक्तियों के अधिकार हैं और उनको 'वितरित' अथवा 'विभाजित' नहीं किया जा सकता। वे अविभाज्य, परस्पर संबंधित और परस्पर निर्भर हैं, इस कारण से कि कुछ मानवाधिकारों का आदर करना और दूसरों का न करना अपर्याप्त है। व्यवहार में, एक अधिकार का उल्लंघन प्राय: दूसरे अधिकारों को प्रभावित करता है। सभी मानवाधिकारों को, इसलिये, समान महत्त्व रखने वाले और प्रत्येक व्यक्ति की गरिमा और उपयोगिता (worth) के लिये, आदर के लिये समान रूप से आवश्यक अधिकारों के रूप में देखा जाना चाहिये।

चूंकि यह सुनिश्चित करना कि संबंधित अधिकार समुदाय के भीतर सभी व्यक्तियों और संस्थाओं के विरुद्ध बनाये रखे जायें और उनको समर्थन मिले, समाज की जिम्मेदारी है, इसलिये मानवाधिकार सर्वप्रथम दूसरे व्यक्तियों के विरुद्ध अधिकार होने के बजाये समाज के विरुद्धअधिकार हैं। आधुनिक राज्य में यह जिम्मेदारी प्रत्यक्ष रूप से सरकार पर डाल दी गई है और उसकी कठोर और विशेष बाध्यता हो गई है कि वह उस अधिकार का अतिक्रमण अथवा उपेक्षा न करे, जिसको सुनिश्चित करना उसकी जिम्मेदारी है। अधिकारों की क्रियान्विति के संबंध में दूसरे व्यक्तियों और संस्थाओं की कहां तक जिम्मेदारी है, इस सन्दर्भ में क्रियान्विति संबंधित अधिकार की प्रकृति पर निर्भर करेगी। अहस्तक्षेप के अधिकार समस्त व्यक्तियों और संस्थाओं के विरुद्ध अधिकार हैं, जबकि आर्थिक और सामाजिक लाभों के अधिकारों की मुख्यत: समाज में विरुद्ध होने की सम्भावना है।

मानवाधिकारों के अनेक तत्त्व हैं। एक तत्त्व यह है कि उनके रखने वाले हैं-एक व्यक्ति का एक विशेष अधिकार होता है। व्यापक रूप से देखा जाये तो मानवाधिकारों को रखने वाले आज जीवित सभी व्यक्ति हैं। और अधिक सही तरीके से कहा जाये तो मानवाधिकार कभी-कभी सब व्यक्तियों के, कभी-कभी देशों के समस्त नागरिकों के, कभी-कभी ऐसे समूहों के सभी सदस्यों के, जिसमें विशेष संवेदनशील सदस्य हों (महिलाएँ, बच्चे, जातीय और धार्मिक, अल्पसंख्यक, किसी स्थान पर प्राकृतिक रूप से रहने वाले व्यक्ति), और कभी-कभी किसी जाति-विशेष में जन्म लेने वाले सारे समूहों के (जैसा कि एक जाति या राष्ट्र के लोगों का इरादतन संहार के विरुद्ध अधिकार) होते हैं। इन

अधिकारों का एक दूसरा तत्त्व यह है कि वे एक व्यक्ति की स्वतन्त्रता, सुरक्षा, स्तर अथवा लाभ पर केन्द्रित होते हैं। उनका वितरण नहीं किया जा सकता क्योंकि अधिकार हमेशा किसी ऐसी चीज का होता है जो कि अधिकार रखने वालों के हित का केन्द्र बिन्दु हो।

2.5 मानवाधिकारों की वैश्विकता और अहस्तातरणीयताकी चुनौतियाँ–कुछ सीमा तक मानवाधिकारों की अहस्तान्तरणीयता उनकी उत्पत्ति पर निर्भर करती है। नैतिक मापदण्ड, जैसे कि मानवाधिकार, दो तरीकों से अस्तित्व में आ सकते हैं। उनका लोगों के द्वारा आविष्कार किया जा सकता है, अथवा उन्हें मनुष्यों द्वारा केवल मात्र प्रकट किये जाने अथवा खोजे जाने की आवश्यकता है। अगर मानवाधिकार केवल एक आविष्कार है तो इस बात पर बहस करना, कि प्रत्येक समाज और सरकार को किसी ऐसी बात से बाध्य होना चाहिये, जिससे वे असहमत हों, अपेक्षाकृत कठिन है। यदि मानवाधिकारों का मानव की रचना (Creation) से स्वतन्त्र कोई अस्तित्व है, तो उनकी वैश्विकता पर बल देना अधिक आसान है। परन्तु इस तरह के स्वतन्त्र नैतिक मापदण्ड केवल दो तरीकों से उत्पन्न हो सकते हैं–या तो वे भगवान द्वारा निर्मित हैं, अथवा वे मानव जाति अथवा मानव समाज की प्रकृति में प्राकृतिक रूप से विद्यमान हैं। दुर्भाग्यवश इन दोनों ही रास्तों में वास्तविक गड्ढे (कमियाँ) हैं। वैश्विक मानवाधिकारों के लिये दैविक उत्पत्ति का सिद्धान्त स्वीकार्य नहीं होगा, क्योंकि ऐसा कोई एक देवता नहीं है, जिसे संसार भर में मान्यता मिली हुई हो।

यदि हम यह मान लेते हैं कि मानवाधिकार मानवीय बुद्धि की रचना है, तो हमारे लिये उनकी क्रियान्विति को सुनिश्चित करना और उनकी विशेषताओं को स्वीकार करना आसान होगा। मानवाधिकार मापदण्ड विभिन्न तरीकों से निर्मित किये जा सकते हैं। एक तरीका तो है व्यवहार के मापदण्डों, जो कि अन्ततोगत्वा एक बाध्यकारी चरित्र प्राप्त कर लेते हैं, के इर्द-गिर्द आम सहमति के क्रमिक विकास के द्वारा। इस आम सहमति की उत्पत्ति का पता लगाना मुश्किल हो सकता है, परन्तु इसका अन्तिम परिणाम इस समझौते का, कि मानव प्राणियों के साथ कुछ विशेष तरीकों से व्यवहार किया जाना चाहिये, व्यापक आधार है। दूसरा तरीका एक अधिक समझौतापरक व्यवहार के बाध्यकारी नियमों का निर्माण करने का एक सचेतन प्रयास हो सकता है। व्यक्तियों अथवा प्रशासनों का कोई विशेष समूह मानवाधिकारों पर अन्तर्राष्ट्रीय समझौतों के विकास का नेतृत्व कर सकता है। और, ज्यों-ज्यों और अधिक देश इसमें शामिल होते जायेंगे, त्यों-त्यों ये समझौते, अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग का नैतिक और वैधानिक शक्ति, और अधिक शक्तिशाली होते जायेंगे। आवश्यक रूप से यह वह रास्ता है, जिसका संयुक्त राष्ट्र और दूसरे क्षेत्रीय अन्तर्राष्ट्रीय संगठनों द्वारा निर्मित मानवाधिकारों के दस्तावेजों के विकास में पालन किया गया है।

मानवाधिकारों के निर्माण में इन दोनों ही तरीकों में, प्रेरणा (Motivation) सिद्धान्तों पर आधारित और दूरगामी महत्त्व की हो सकती है। यदि सिद्धान्तों पर आधारित है तो मानवाधिकार आवश्यक हैं, क्योंकि वे कुछ नैतिक मानदण्डों को, कि मानवों के साथ कैसा व्यवहार किया जाना चाहिये, प्रतिबिम्बित करते हैं। यदि मानवाधिकार दूरगामी महत्त्व के हों, तो उनकी आवश्यकता इसलिय पड़ती है कि ये मानदण्ड उन भयानक अप्रत्यक्ष और अप्रिय परिणामों को, जिनकी, जिस तरीके से सरकारें अथवा समूह दूसरों के साथ व्यवहार कर सकते हैं, कोई सीमा नहीं है, उनको रोक सकते हैं।

मानवाधिकारों की उत्पत्ति के प्रश्न से परे, उनकी उत्पत्ति पर विचार किये बिना, उनकी वैश्विकता को लेकर एक मूल चुनौती है। अधिकार प्राप्त करने के लिये उन्हें स्वीकृति प्राप्त करनी होती है। समस्या यह है कि मानवाधिकारों के लिये व्यक्ति एक ही जैसी प्रेरणा में हिस्सा नहीं लेगा। प्रत्येक

व्यक्ति इस बात पर सहमत नहीं होगा कि वह प्रत्येक बात जिस पर मानवाधिकार के रूप में जोर दिया गया है, वह वास्तव में एक है। बिल्कुल प्रारम्भिक स्तर पर मानवाधिकारों के मानकों की घोषणा और स्वीकृति में प्राकृतिक रूप से बहुसंख्यक (Majority) की स्वीकृति शामिल है। मानवाधिकारों के अस्तित्व में रहने के लिये सहमत हुआ जाता है क्योंकि व्यक्तियों की एक बहुसंख्या यह कहती है कि वे उन पर सहमत है। परन्तु फिर उन अल्पसंख्यकों का क्या होगा, जो वैश्विक मानवाधिकारों की अवधारणा पर एतराज करते हैं, अथवा किन्हीं विशेष पात्रताओं से असहमत हैं? वे उन बातों से क्यों बाध्य हों, जिन पर दूसरे विश्वास करते हो। क्या घटित होता है, जब कोई अल्पसंख्यक वर्ग ईमानदारी से विश्वास करता है कि कोई लाभ, जिससे उसे बहुसंख्या द्वारा जान-बूझकर वंचित किया जा रहा है, वह एक मानवाधिकार का मामला है? बहुत से विशिष्ट मानवाधिकारों के सन्दर्भों में एक बहुसंख्यक दृष्टिकोण वाली समस्या केन्द्रीय महत्त्व का रूप धारण कर लेती है।

चाहे आविष्कृत उत्पत्ति हो, अथवा प्राकृतिक उत्पत्ति, मानवाधिकार मानवता के किसी पहलू की रक्षा करने के लिये ही होते हैं। ये वे पात्रताएँ हो सकते हैं, जो हमें हमारे मानव होने के कारण मिली हुई हैं, परन्तु यह निर्धारित करने में कि मानव जीवन के कौन-से गुणों कोमानवाधिकार मानदण्डों के अन्तर्गत सुरक्षा की आवश्यकता हैं, वास्तव में कठिनाइयाँ आती हैं।

मूल मानवीय गुणों का निर्धारण एक व्यक्ति के द्वारा की जाने वाली गतिविधियों और शारीरिक गुण, दोनों के द्वारा होता है। सबसे स्पष्ट भौतिक गुणों में लिंग, जाति (Race), आकार,आकृति और अक्षमताओं (Disabilities) सहित स्वास्थ्य शामिल है। अनेकानेक मानवीय गतिविधियों के बीच कोई भी व्यक्ति उन गतिविधियों, जो जीवन को बनाये रखने के लिए आवश्यक है, और जो उस जीवन को पूर्ण बनाती हैं, में अन्तर कर सकता है। जीवन को बनाये रखने की आवश्यकताओं में पोषण, रहने का स्थान, कपड़ा और नींद शामिल हैं। लम्बी अवधि में मानव जीवन को बनाये रखने के लिये स्वास्थ्य की उचित देखभाल की जरूरत होती है। और मानव प्रजाति केवल सन्तानोत्पत्ति से ही बनी रह सकती है। परन्तु अधिकांश मानव केवल मात्र जीवित ही नहीं रहते, वे अपने जीवन को अत्यधिक गतिविधियों से भर लेते हैं। सम्भवत: सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण गतिविधियां वे हैं, जो मानवों को दूसरे समस्त जानवरों से अलग करती हैं : मानवों के पास रचनात्मक कल्पना होती है, जो विचार के ऐसे उच्चतर रूप प्रदान करती है, जो बौद्धिक खोज और आध्यात्मिकता की ओर ले जाते हैं। मानव अपने सोचने के परिणामों का निरन्तर सम्प्रेषण भी करते रहते हैं। एक स्थान से दूसरे स्थान पर शारीरिक रूप से जाना, मानसिक अथवा शारीरिक दृष्टि से अक्षम व्यक्तियों को छोड़कर सब मानवों की एक और निरन्तर गतिविधि है। सार रूप से मानव प्राणी बहुत सामाजिक पशु है और हमारी गतिविधियों में से बहुत-सी गतिविधिया दूसरे मानव प्राणियों से मिलने-जुलने के माध्यम से ही घटित होती हैं। ये सामाजिक समूह में रहना निर्धारित करता है कि कोई व्यक्ति कौन-सी भाषाएँ बोलना सीखता है, पोशाक की शैली, खाने-पीने की आदतें, धर्म, विचारों के आदान-प्रदान का रूप, सौन्दर्यशास्त्र और सुरुचि की भावना, और सामाजिक समूहों में खेली जाने वाली भूमिकाएँ। ये केवल मात्र बाहरी अन्तर नहीं हैं। जबकि कुछ व्यक्ति तो इच्छापूर्वक नई जीवनशैलियाँ अपना लेते हैं, बहुत से व्यक्ति यह विश्वास करते हैं कि उनका जीवन केवल परम्परागत रीति-रिवाजों को बनाये रखने से ही सन्तोषप्रद हो सकता है।

इस प्रकार मानव प्राणियों के बीच ऐसे बहुत से अन्तर प्रकट हो जाते हैं, जो उनके जन्म और पालन-पोषण की उपज हैं। जबकि कोई व्यक्ति मानव जीवन के ऐसे विभिन्न गुणों की पहचान कर

सकता है, जो कि वैश्विक हो, फिर भी उस तरीके में, जिससे कि उन गुणों को कार्यरूप में सिद्ध किया जाता है, भारी विभिन्नता है।

मानवाधिकारों को 'उन मूल गारण्टियों के रूप में, जो सब देशों और संस्कृतियों में लोगों को कथित रूप से केवल मात्र इसलिये प्राप्त हैं, क्योंकि वे मनुष्य हैं' परिभाषित किया गया है। इन गारण्टियों को 'अधिकारों' के नाम से पुकारना यह दर्शाता है कि वे कुछ विशेष व्यक्तियों से जुड़े होते हैं, जो उनका कारण के रूप में प्रयोग कर सकें, कि वे उच्च प्राथमिकता के हैं, और यह कि उनकी अनुपालना जब आवश्यक हो, तब करने की अपेक्षा कानूनी रूप से आवश्यक अधिक है। मानवाधिकारों को बहुधा इस अर्थ में वैश्विक माना जाता है कि वे सब लोगों को प्राप्त हैं और सब लोगों को उनका उपभोग करना चाहिये, और उन्हें स्वतन्त्र इस अर्थ में माना जाता है कि वे न्यायोचित और आलोचना के मानदण्डों के रूप में अस्तित्व में और उपलब्ध हैं, चाहे उन्हें किसी देश की कानूनी प्रणाली अथवा अधिकारियों के द्वारा मान्यता दी जाये अथवा नहीं और उनकी क्रियान्विति की जाती है अथवा नहीं। मानवाधिकारों के नैतिक सिद्धान्त का उद्देश्य न्यूनतम रूप से अच्छा जीवन बिताने वाले प्रत्येक मानव प्राणी के लिये मूल आवश्यकताओं की पहचान करना है। इन आवश्यकताओं में नकारात्मक और सकारात्मक आवश्यकताएँ शामिल हैं, जैसे यातना के विरुद्ध अधिकार और स्वास्थ्य की देखभाल का अधिकार।

मानवाधिकारों का महत्त्व यह है कि उनके बारे में यह सोचा जाता है कि वे विशिष्ट समाजों के निर्धारण से परे अस्तित्व में हैं। इस प्रकार वे एक वैश्विक स्तर निर्धारित करते हैं, जिसका प्रयोग किसी भी समाज का मूल्यांकन करने के लिये किया जा सकता है। मानवाधिकार तुलना करने के लिये एक ऐसा स्वीकार्य स्तरीय उदाहरण प्रस्तुत करते हैं, जिससे संसार के एक भाग के व्यक्ति अथवा प्रशासन दूसरे प्रशासनों अथवा संस्कृतियों द्वारा अपनाये जाने वाले मानदण्डों की आलोचना कर सकते हैं। मानवाधिकारों की स्वीकृति से बौद्ध, ईसाई, हिन्दू, जैन, मुसलमान, सिख, पूंजीवादी, समाजवादी, प्रजातंत्रवादी अथवा जातिगत समूहतन्त्र (Tribal Oligarchies) सब वैध तरीके से एक-दूसरे की कठोर आलोचना कर सकते हैं। यह आलोचना धार्मिक, राजनैतिक और आर्थिक विभाजनों से दूर जाकर वैधता प्राप्त कर लेती है, क्योंकि मानवाधिकार वैश्विक नैतिक मानदण्डों को शरण देने वाले कहे जाते हैं। पूर्ण रूप से मानवाधिकारों के बिना, कोई व्यक्ति केवल इस बात पर बल देने का प्रयास करने वाला होकर रह जाता है कि उसका स्वयं का सोचने का तरीका अन्य किसी भी व्यक्ति के सोचने के तरीके से ज्यादा अच्छा है।

मानवाधिकारों का भाषाई दृष्टि से प्रमुख प्रभावशाली लाभ यह है कि उनको मानव अस्तित्व के लिये इतना मूल और आधारभूत समझा जाता है कि उन्हें किसी भी दूसरे विचार (Consideration) की सहायता करनी चाहिये। मानवाधिकारों की महत्त्वपूर्ण विशेषताएँ इस प्रकार हैं-

- मानवाधिकार प्रत्येक व्यक्ति की गरिमा और उपयोगिता के प्रति आदर पर आधारित है।
- मानवाधिकार वैश्विक है, जिसका तात्पर्य यह है कि उन्हें समान रूप से और बिना किसी भेदभाव के लागू किया जाता है।
- मानवाधिकार इस अर्थ में अहस्तान्तरणीय है कि विशेष स्थितियों के अतिरिक्त किसी व्यक्ति के अधिकार किसी अन्य व्यक्ति के द्वारा नहीं लिये जा सकते।
- मानवाधिकार अविभाज्य, आपस में संबंधित और एक-दूसरे पर परस्पर निर्भर हैं, इस कारण से कि कुछ मानवाधिकारों का आदर करना और दूसरों का न करना अपर्याप्त है।

- मानवाधिकार समान महत्त्व रखने वाले और प्रत्येक व्यक्ति की गरिमा और उपयोगिता के प्रति आदर के लिये समान रूप से आवश्यक होने वाले प्रतीत होने चाहिये।

मानवाधिकारों को सामान्यत: उन अधिकारों के रूप में समझा जाता है, जो मनुष्य में प्राकृतिक रूप से पाये जाते हैं। प्रत्येक व्यक्ति जाति (Race), रंग, लिंग, भाषा, धर्म, राजनैतिक या अन्य मत, सम्पत्ति, जन्म अथवा किसी स्तर के अन्तर के बिना इन अधिकारों का पात्र/अधिकारी है। मानवाधिकार अन्तर्राष्ट्रीय और क्षेत्रीय संधियों और राष्ट्रीय संविधानों के द्वारा कानूनी रूप से मान्यता प्राप्त है। राष्ट्रीय कानून व्यक्तियों और समूहों को उन कार्यों से बचाते हैं, जो मूलभूत स्वतन्त्रताओं और मानव की गरिमा में हस्तक्षेप करते हों। मानवाधिकार देशों पर एक विशेष तरीके से कार्य करने और कुछ विशिष्ट गतिविधियों में लिप्त होने से रोकने की जिम्मेदारी रखते हैं। वर्ष 1993 में वियेना मानवाधिकारों पर आयोजित विश्व सम्मेलन ने Vienna Delcaration and Programme of Action स्वीकृत किया। सम्मेलन ने मानवाधिकारों को वैश्विक, प्राकृतिक (Inherent) और मानव प्राणियों के अविच्छिन्न भाग के रूप में भी मान्यता दी।

3. अधिकारों और कर्त्तव्यों का वर्गीकरण और उनका परस्पर सम्बन्ध

कुछ ऐसी नितान्त आवश्यक आवश्यकताएँ होती हैं, जिनके बिना मनुष्य जीवित नहीं रह सकता। ये जीवन की मूलभूत, प्राथमिक आवश्यकताएँ हैं। सामाजिक जीवन की उच्चतर आवश्यकताएँ हैं परिवार की आवश्यकता, आजीविका कमाने के लिये काम करने की आवश्यकता, अपने साथियों के साथ रहने की इच्छा और अपनी राय को अभिव्यक्त करने की इच्छा, और इसी प्रकार और आवश्यकताएँ। अधिकार वे हैं, जिनकी हम दूसरों से अपेक्षा कर सकते हैं, और जिनकी दूसरे हमसे अपेक्षा कर सकते हैं, और समस्त सच्चे अधिकार सामाजिक कल्याण का पोषण करते हैं।

इस प्रकार हम दो बातें कह सकते हैं : पहली यह, कि संगठित समाज से बाहर अधिकार निरर्थक हैं। यदि समाज न हो तो अधिकार भी नहीं हो सकते। उदाहरण के लिये, रौबिन्सन क्रूसो के अपने निर्जन द्वीप पर कोई अधिकार नहीं थे। उसकी स्वतन्त्रता की कोई सीमाएँ नहीं थीं। ऐसा केवल समाज में ही होता है कि व्यक्ति दूसरों की स्वतन्त्रता को मान्यता देता है जबकि वह अपनी स्वयं की स्वतन्त्रता का उपभोग कर रहा होता है।

इस तथ्य की स्वीकृति अधिकारों का आधार है, क्योंकि हमारे अधिकार दूसरों के हमारे प्रति कर्त्तव्य हैं और उनके अधिकार हमारे उनके प्रति कर्त्तव्य हैं। इस बात को इस तरह से भी कहा जा सकता है कि प्रत्येक अधिकार का उसी के समान एक कर्त्तव्य होता है। यदि कोई व्यक्ति अपने कर्त्तव्य का पालन करने में असफल रहता है तो यह राज्य का काम है कि वह उसे सुधारे। राज्य (State) का अस्तित्व व्यक्तियों के विभन्न अधिकारों को बनाये रखने और उनमें सामंजस्य स्थापित करने के लिये होता है।

अधिकार वे दावे हैं जो प्रसन्नता, सन्तोष और सामंजस्य प्राप्त करने के साधन के रूप में सामाजिक दृष्टि से मान्य हैं। उनका स्थान राज्य से पहले हैं क्योंकि वे सामाजिक जीवन की मूल शर्तों को पूरा करते हैं। राज्य उनको पैदा नहीं करता। यह उनको केवल मान्यता देता है, उन्हें बनाये रखता है और उनमें सामंजस्य स्थापित करता है ताकि सब लोग ऐसे अधिकारों के लाभों को समझ सकें। इस बात को सुनिश्चित करना राज्य का प्राथमिक कार्य है कि सब लोग अपने अधिकारों का समान रूप से आनन्द लें। अधिकार विशेष प्रकारों की स्वतन्त्रता है जो सब लोगों को समान रूप से प्रदान की जानी

चाहिये। यदि कुछ लोगों को सम्पत्ति रखने की अनुमति दी जाती है, जबकि दूसरों को नहीं, तो सम्पत्ति के स्वामित्व का अधिकार एक विशेषाधिकार बन जाता है, वह अधिकार नहीं रह जाता।

इस प्रकार हम कह सकते हैं कि–

- अधिकारों का उद्‌गम समाज में होता है और वे मनुष्य की सामाजिक प्रकृति के परिणाम हैं।
- बिना समाज के अधिकार नहीं हो सकते।
- प्रत्येक अधिकार का उसी के समान एक कर्त्तव्य होता है।
- एक अधिकार कोई दावा नहीं होता। जब मैं अपने अधिकारों पर बल देता हूँ तो मैं एक सार्वजनिक कर्त्तव्य का पालन करता हूँ, क्योंकि ऐसा करते समय जिस बात का मैं अपने स्वयं के लिये दावा करता हूँ, उसी बात की गारण्टी मैं दूसरों को देता हूँ।
- समाज केवल उन्हीं अधिकारों को मान्यता देता है, जो किसी सामान्य भलाई अथवा किसी नैतिक भलाई से जुड़े हुए हों। राज्य अधिकारों को उत्पन्न नहीं करता। यह उन अधिकारों को, जो सामाजिक दृष्टि से मान्य हैं, केवल बनाये रखता है और उनमें सामंजस्य स्थापित करता है।
- अधिकार निश्चित होने चाहिये। वे अधिकार नहीं रह जाते, जब प्रत्येक व्यक्ति अपना स्वयं का अलग दावा रखता है।
- अधिकारों में बढ़ने की प्रवृत्ति होती है। वे मनुष्य की आवश्यकताओं से मेल खाते हुए होने चाहिये। चूंकि मनुष्य की आवयकताएँ समय के साथ बदल जाती हैं, इसलिये अधिकार भी समय के साथ बदल जाने चाहिये।

अधिकारों को सामान्य रूप से नैतिक और कानूनी अधिकारों में बांटा जाता है।

3.1 नैतिक अधिकार–एक नैतिक अधिकार वह अधिकार है, जो नैतिकता की नीतिगत संहिता पर आधारित होता है। यह वह अधिकार है, जिसके बारे में हम यह सोचते हैं कि यह नैतिक दृष्टि से हमारा होना चाहिये। परन्तु नैतिक अधिकार देश के कानून के द्वारा समर्थित नहीं होते हैं। इसकी स्वीकृति (Sanction) तो समुदाय की राय होती है। यदि नैतिक अधिकारों का उल्लंघन होता है तो जिस व्यक्ति ने उस अधिकार का उल्लंघन किया है, उसे दण्डित करने के लिए कानूनी तौर पर कुछ नहीं किया जा सकता। एक पत्नी का अपने पति के द्वारा दयालुतापूर्ण तरीके से व्यवहार किये जाने का तगड़ा दावा है। परन्तु दयालु व्यवहार का उसका कोई अधिकार नहीं है, क्योंकि देश के कानून किसी व्यक्ति को दयालु होने के लिये बाध्य नहीं कर सकते। एक दावा अधिकार इस कारण नहीं कहलाता क्योंकि वह उचित है, बल्कि इसलिये कहलाता है क्योंकि इसे देश के द्वारा मान्यता दी गई है और कानूनी प्रक्रिया द्वारा इसे लगाू किया जा सकता है। नैतिक अधिकार वे दावे हैं, जिन्हें अधिकारों में केवल तभी बदला जा सकता है जब उन्हें देश के द्वारा मान्यता प्रदान कर दी जाती है। नैतिक दावों को तब भी लागू नहीं किया जा सकता, जब उन्हें मान्यता प्राप्त हो गई हो। विपत्ति के शिकारों, अथवा गरीबों, जरूरतमन्दों और बीमार व्यक्तियों की सहायता करना मेरा नैतिक कर्त्तव्य है, क्योंकि समाज का एक नैतिक अंग होने के नाते मुझे ऐसी स्थितियां निर्मित करने का प्रयत्न करना चाहिये जो समाज की भलाई में अपना योगदान देती हैं। परन्तु यदि मैं अपने नैतिक कर्त्तव्य को करने में असफल रहता हूँ तो देश के कानून इसका संज्ञान नहीं ले सकते। इतना होने पर भी, समाज के द्वारा मान्यता

और स्वीकृति प्राप्त अधिकारों को देश के कानूनों द्वारा भी मान्यता दी जानी चाहिये। कोई भी देश, जो देश कहलाने के लायक है, समाज द्वारा मान्य मापदण्डों की अवहेलना करना सहन नहीं कर सकता। यदि वह ऐसा करता है तो नागरिकों को देश की सत्ता के विरुद्ध विद्रोह करने का नैतिक अधिकार है।

3.2 कानूनी अधिकार–एक कानूनी अधिकार को राज्य के कानूनों के द्वारा मान्यता मिली हुई होती है और उन्हीं के द्वारा उसे बनाये रखा जाता है और यह सरकार और साथ ही साथ व्यक्तियों के विरुद्ध भी न्यायालय में लागू करवाये जा सकने योग्य होता है। सरल शब्दों में कहा जाये तो कानूनी अधिकार वे अधिकार हैं, जो वास्तव में हमारे पास हैं। साथ ही कानूनी अधिकार एकरूप (Uniform) होते हैं और सब पर जाति, धर्म, रंग और इसी प्रकार की अन्य बातों पर विचार किये बिना, सब पर लागू होते हैं। एक प्रजातांत्रिक व्यवस्था में सरकार जनमत के दबाव के प्रति संवेदनशील होती है और कानूनी और नैतिक अधिकारों में सामंजस्य स्थापित करने और मिलकर एक समूह बनाने की प्रवृत्ति होती है

मानव प्राणियों से संबंधित कानूनी अधिकारों को चार वर्गों में बांटा जा सकता है। प्रत्येक वर्ग का सामाजिक ढ़ांचे में एक विशेष कार्य है।

3.2.1. नागरिक अधिकार–इनका उद्देश्य व्यक्ति की स्वतन्त्रता, और शारीरिक और नैतिक अखण्डता की रक्षा करना है। जीने का अधिकार, गुलामी, दास्यवृत्ति, बलात् श्रम, यातना, मनमाने तौर पर गिरफ्तारी और हिरासत से मुक्ति का अधिकार, न्यायालय में न्यायपूर्ण सुनवाई का अधिकार, निजता का अधिकार, स्वतन्त्र भाषण का अधिकार, पूजा का अधिकार, आदि इस वर्ग से सम्बन्ध रखते हैं। ये अधिकार राज्य के मनमाने व्यवहार के विरुद्ध व्यक्तियों को एक औपचारिक आश्वासन हैं। इन्हें 'समानता' को सुनिश्चित करके और 'उचित कानूनी प्रणाली' के द्वारा लागू किया जाता है।

3.2.2. राजनैतिक अधिकार–ये अधिकार सरकार और उन लोगों के बीच, जिन पर शासन किया जाता है, के बीच एक कड़ी प्रदान करते हैं। ये शासितों की सहमति को प्रशासन से जोड़ कर भागीदारी को कानून सम्मत बनाते हैं, संयुक्त करते हैं और भागीदारी प्रदान करते हैं। इस तरह के अधिकार, जैसे कि अपनी राय रखने और अभिव्यक्ति का अधिकार, शान्तिपूर्ण तरीके से इकट्ठे होने का अधिकार, संगठन बनाने का अधिकार, सार्वजनिक मामलों के निर्वहन में भाग लेने का अधिकार, मतदान का अधिकार, सार्वजनिक सेवाओं तक पहुंच का अधिकार इस समूह के अधिकारों में शामिल किये जाते हैं।

3.2.3. आर्थिक और सामाजिक अधिकार–ये अधिकार इस तथ्य को सत्य मानकर चलते हैं कि सरकार को ऐसी बातों को सुनिश्चित करने अथवा प्रदान करने के लिये काम करना चाहिये, जो उसके नागरिकों के कल्याण के लिये आवश्यक हों। इस प्रकार काम करने का अधिकार, स्वतन्त्र रूप से रोजगार चुनने, काम की उचित और अनुकूल स्थितियों, उचित वेतन, सामाजिक सुरक्षा, आराम और विश्राम, भोजन, कपड़ा, मकान, स्वास्थ्य सेवाओं, शिक्षा का अधिकार और हड़ताल करने और श्रम संगठनों में शामिल होने का अधिकार इस वर्ग में शामिल किये जाते हैं।

3.2.4. सांस्कृतिक अधिकार–विचारों की स्वतन्त्रता, सांस्कृतिक जीवन में भाग लेने की स्वतन्त्रता, कला और सौन्दर्य के अनुभव की स्वतन्त्रता, वैज्ञानिक प्रगति, अन्तर्राष्ट्रीय सम्पर्कों और वैज्ञानिक और सांस्कृतिक क्षेत्रों में सहयोग से लाभान्वित होने का अधिकार इस वर्ग के अधिकारों में शामिल किये जा सकते हैं।

अधिकारों का यह वर्गीकरण ऐसा वर्गीकरण (Watertight) नहीं है, जिसमें कुछ फेरबदल किया ही न जा सके। ऐसे अनेक अधिकार हो सकते हैं, जो दो या अधिक समूहों में स्थान पा सकते हैं। यह उस विचार पर निर्भर करता है, जिसमें कि उनको लिया जाता है। एकत्र होने का अधिकार और संगठन बनाने का अधिकार नागरिक अधिकार भी हो सकते हैं और राजनैतिकअधिकार भी। विचारों की स्वतन्त्रता और रचनात्मक गतिविधि का अधिकार सांस्कृतिक अथवा नागरिक अधिकार हो सकते हैं। संयुक्त राष्ट्र ने मानवाधिकारों को दो समूहों में बांटा है-नागरिक और राजनैतिक अधिकार, और आर्थिक, सामाजिक और सांस्कृतिक अधिकार। नागरिक और राजनैतिक अधिकारों को नकारात्मक अधिकार समझा जाता है, जबकि आर्थिक, सामाजिक और सांस्कृतिक अधिकार सकारात्मक अधिकार है। ऐसा इसलिये किया गया क्योंकि मानवाधिकारों की अवधारणा पर प्रजातांत्रिक-स्वतंत्रतावादियों और समाजवादी क्रान्तिकारी राज्यों के बीच विभाजन और अन्तर में सामंजस्य स्थापित करना जरूरी था। प्रजातांत्रिक-स्वतन्त्रतावादियों के लिये नकारात्मक अधिकार-नागरिक और राजनैतिक अधिकार ही वास्तविक मानवाधिकार थे, जबकि समाजवादियों की दृष्टि में सकारात्मक अधिकार-आर्थिक, सामाजिक और सांस्कृतिक अधिकार वास्तविक अधिकार हैं।

4.मानवाधिकारों के बदलते हुए पक्ष

यदि कोई उन विभिन्न अन्तर्राष्ट्रीय और राष्ट्रीय दस्तावेजों का अध्ययन करे, जो सब मिलकर मानवाधिकारों का एक व्यवस्थित संग्रह बनाते हैं तो वह महत्त्वपूर्ण मानवाधिकारों के पांच वर्गों को पहचान सकता है और उनमें अन्तर भी कर सकता है। ये पाँच वर्ग निम्नानुसार हैं-जीवन का अधिकार; स्वतन्त्रता का अधिकार; राजनैतिक भागीदारी का अधिकार, कानून के शासन की सुरक्षा का अधिकार; और मूल सामाजिक, आर्थिक और सांस्कृतिक वस्तुओं का अधिकार।

कुछ अधिकारों, जैसे कि जीवन का अधिकार, में स्वतंत्रता और दावा किये गये अधिकार लगभग समान मात्र में पाये जाते हैं। इस प्रकार, जीवन के अधिकार की पर्याप्त सुरक्षा के लिये दूसरों के किसी के अधिकारों के विरुद्ध अतिक्रमण के विरुद्ध स्वतन्त्रता के अधिकारों के अस्तित्व की और किसी के जीवन को बनाये रखने के लिए मूल आवश्यकताओं तक पहुंच के लिये दावा किये गये अधिकारों के अस्तित्व की आवश्यकता होती है, जैसे पर्याप्त खूराक और स्वास्थ्य की देखभाल। दूसरे अधिकारों, जैसे कि उदाहरण के लिये सामाजिक, आर्थिक और सांस्कृतिक अधिकारों पर विभिन्न दावा अधिकारों की ओर अधिक महत्त्व दिया जाता है, जिन्हें ऐसे अधिकारों के पात्रों के सकारात्मक प्रावधान की अवश्यकता होती है। मानवाधिकारों के बीच महत्त्वपूर्ण अन्तर करने के विवादास्पद, परन्तु महत्त्वपूर्ण परिणाम हो सकते हैं। मानवाधिकारों को विशेष रूप से समान महत्त्व रखने वाला समझा जाता है, प्रत्येक अधिकार उतना ही महत्त्वपूर्ण समझा जाता है जितना कि कोई दूसरा अधिकार।

मानवाधिकारों को सबके द्वारा समान रूप से (Equally) रखा जाने वाला कहा जाता है। इस दावे का एक परम्परागत स्वाभाविक परिणाम यह है कि प्रत्येक अन्य व्यक्ति के मानवाधिकारों की रक्षा करना और उनको बढ़ावा देना प्रत्येक व्यक्ति का कर्त्तव्य है। इतना होने पर भी, व्यवहार में, मानवाधिकारों को सुनिश्चित करने की जिम्मेदारी विशेष रूप से राष्ट्रीय प्रशासनों और अन्तर्राष्ट्रीय, अन्तर्प्रशासनीय संस्थाओं पर पड़ती है। मानवाधिकारों की पर्याप्त सुरक्षा करने और उन्हें बढ़ावा देने के लिए राष्ट्र-राज्यों को अपने स्वयं के नागरिकों के लिये सेवाओं और संस्थाओं के पर्याप्त प्रावधान और अन्तर्राष्ट्रीय संस्थाओं के भीतर राष्ट्र-राज्यों (National-States) के सहयोग को निश्चित करने की आवश्यकता पड़ती है।

मानवाधिकारों का उद्देश्य अब केवल मात्र उत्तम और आदरपूर्ण व्यवहार के 'न्यूनतम' स्तर ही नहीं हैं। उदाहरण के लिये, मानवाधिकारों की पर्याप्त सुरक्षा और प्रोत्साहन के लिये अवश्य ही इस बात की आवश्यकता पड़ती है कि अधिक समृद्ध और शक्तिशाली राष्ट्र-राज्य उन देशों को पर्याप्त सहायता प्रदान करें, जो अभी अपने स्वयं के नागरिकों के मूल मानवाधिकारों की सुरक्षा पर्याप्त रूप से सुनिश्चित करने में असमर्थ हैं। मानवाधिकारों को सुनिश्चित करने की मुख्य जिम्मेदारी राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय संस्थाओं की है और इस जिम्मेदारी को सफलतापूर्वक पूरा करने की कसौटी सभी व्यक्तियों के लिये न्यूनतम रूप से एक अच्छा जीवन बिताने के लिये अवसरों का निर्माण है।

वर्ष 1948 में संयुक्त राष्ट्र द्वारा UDHR को स्वीकृत करने और उसके बाद ICCPRके समझौते (Ratification); और वर्ष 1966 में ESCR के समझौते के बाद से मानवाधिकारों की अवधारणा में बड़ा भारी परिवर्तन हुआ है। मानवाधिकारों की अवधारणा गतिहीन नहीं है और, अपेक्षाओं के अनुसार सामाजिक आवश्यकताओं और शक्तिशाली जनमत ने न केवल मानवाधिकारों का विस्तार किया है, बल्कि नये मानवाधिकारों के निर्माण की ओर भी अग्रसर किया है। उदाहरण के लिये, स्वास्थ्य के अधिकार का भूख से मुक्ति और भोजन और पर्याप्त पोषण के अधिकार को शामिल करने के लिये विस्तार हुआ है। उन लोगों के लिये जो गरीबी की रेखा के नीचे हैं, भोजन तक पहुंच की गारण्टी का प्रयत्न करने के लिये नये शब्दों, जैसे कि 'जीवन-निर्वाह का अधिकार', अथवा 'अधिकार के लिये भोजन', का प्रयोग किया गया है। चुनौती, उन देशों में, जिनके पास भोजन की पर्याप्त पूर्ति है, और उन देशों में, जिनमें भोजन की पर्याप्त पूर्ति नहीं है, भोजन की अधिकार की और अधिक सही तरीके से मानदण्डात्मक विषय-वस्तु और निहितार्थ को बताने की है।

स्वास्थ्य के अधिकार का एक शुद्ध और उत्तम पर्यावरण, जिसका सम्बन्ध जल प्रदूषण, वायु प्रदूषण, महासागरीय प्रदूषण और बाह्य अन्तरिक्ष प्रदूषण है, को शामिल करने के लिये विस्तार किया गया है। अपने जन-समुदाय को शुद्ध पर्यावरण प्रदान करने में हम अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग प्राप्त करने का प्रयास कर रहे हैं।इसी प्रकार, जीवन के अधिकार (ICCPR का अनुच्छेद 6) का, व्यवहार में, वर्तमान में विद्यमान सन्धि की खुले अन्त वाली (Open-ended) व्याख्या, 'जीवित रहने के अधिकार' (Right to living), जिसमें मुख्य रूप से आर्थिक गारण्टियां दी गई हैं, को शामिल करते हुए विस्तार किया गया है। यह इस बात का अधिकार देता है कि जीवन की न्यूनतम गुणवत्ता तो बनाये रखी जानी चाहिये, जिसेक लिए देश में रहने वाले प्रत्येक व्यक्ति के लिये ऐसी नीतियों का पालन करके जो जीवित रहने के साधनों तक पहुंच को सुनिश्चित करती हों, जीवित रहने के न्यूनतम स्तर प्रदान करना प्रशासनों का कानूनी कर्त्तव्य है।

उदाहरण के लिये Draft Employment Guarantee Act का मामला लीजिये, जो हमारी संसद की टेबल पर 2 दिसम्बर, 2004 को रखा गया था। इसने एक बहस को जन्म दिया और इस बहस के बारे में दो बातें बहुत ध्यान आकर्षित करने वाली हैं। पहली तो यह कि इस पर वे अर्थशास्त्री हावी रहे हैं, जो इस प्रस्तावित राष्ट्रीय कानून के बारे में यह सोचते हैं कि यह मुख्यत: गरीबों को आय हस्तान्तरित करने के महत्त्वपूर्ण तरीकों की श्रृंखला में एक है। दूसरी यह कि यह स्वास्थ्य के अधिकार की न्यूनतम गारण्टी है। यह कानून देश के सबसे गरीब 150 जिलों में लागू होगा, और यह प्रत्येक BPL परिवार के एक सदस्य तक साल में अधिकतम 100 दिन के लिये रोजगार की सीमा रखता है।

जीवन के अधिकार से जुड़े हुए दूसरे अधिकार हैं जीवन को बनाये रखने (Survival) का अधिकार, ऐसे खतरों के विरुद्ध जो मानव प्राणियों के जीवन को खतरे में डालते हैं, शुद्ध, स्वच्छ और

सुरक्षित पर्यावरण का अधिकार, और जीवन को बनाये रखने, मुख्य रूप से पर्याप्त पोषण और चिकित्सकीय इलाज का अधिकार। इस प्रकार जीवन के अधिकार का आर्थिक पहलू अपने साथ जीवित रहने के बहुत सारे दूसरे अधिकार लाता है। चूँकि संसार की जनसंख्या के 800 मिलियन से अधिक व्यक्ति अभी तक भुखमरी का सामना करते हैं, यह अधिकार न केवल संबंधित समाज/देश पर, बल्कि संयुक्त राष्ट्र, उसकी विशेषीकृत एजेन्सियों और क्षेत्रीय संगठनों पर भी जीवन के अधिकार की क्रियान्विति के लिये एक कर्त्तव्य रखता है।

अनेक राजय राष्ट्रों में विकासहीनता (Under development) सामाजिक-आर्थिक गतिहीनता और राजनैतिक अस्थिरता की समस्याओं को ध्यान में रखते हुए ऐसी वैश्विक क्रियान्विति की चुनौती और कठिनाइयां स्पष्ट हैं, और इस सन्दर्भ में तृतीय विश्व में विकास के एक नये सामूहिकअधिकार का प्रादुर्भाव महत्त्वपूर्ण हो जाता है।

4.1 व्यक्ति का सामूहिक अधिकार-कुछ व्यक्ति (Individual) के मानवाधिकारों के बीच एक पूर्ण और अविच्छिन्न सम्बन्ध विद्यमान है, जैसे कि स्वास्थ्य का अधिकार, जीवन का अधिकार और समुदाय के अधिकार, जिनके बिना सुरक्षा की कोई भी गारण्टी निरर्थक रहती है। सामूहिक मानवाधिकारों की ये नई पीढ़ियां इस प्रकार हैं-आत्म-निर्णय का अधिकार, विकास का अधिकार, और मानव जाति की सामान्य विरासत से प्राप्त होने वाले प्राकृतिक संसाधनों के लाभ का अधिकार। इसी प्रकार मानव प्राणियों की समष्टि (Collectivity) के एक समूह के रूप में अलग-अलग व्यक्तियों के अधिकारों के साथ पर्यावरणीय सुरक्षा के अधिकार और शान्ति और सुरक्षा के अधिकार की मांग की जाती है और उन्हें प्रायः एकता के अधिकारों (Solidarity Rights) के नाम से जाना जाता है।

लोगों से विशेष रूप से सम्बद्ध इन मानवाधिकारों में सबसे महत्त्वपूर्ण है आत्म-निर्णय का अधिकार, प्रशासन में भागीदारी का अधिकार, और घृणा के उकसावे (Incitement) से मुक्ति का अधिकार।

4.2 आत्म-निर्णय का अधिकार-आत्म-निर्णय के अधिकार को ICCPR और ICCESCRने मान्यता प्रदान की है, यद्यपि भारत सहित एक बड़ी संख्या में देशों ने इस अधिकार पर आपत्तियाँ जताई हैं। इस उद्देश्य के लिये लोगों की पहचान करने में कठिनाई होती है, क्योंकि इस अधिकार का कैसे प्रयोग किया जाये, इस सम्बन्ध में किसी स्पष्ट अन्तर्राष्ट्रीय कानून की अनुपस्थिति के कारण कुछ जटिल राजनैतिक पेचीदगियां हैं। वास्तव में, आत्म-निर्णय तो सब दूसरे मानवाधिकारों के वास्तविक प्रयोग की पहली आवश्यकता है। यह एक सामूहिक अधिकार है-किसी भी विदेशी अथवा दमनकारी शासन से मुक्ति और पूर्ण स्वतन्त्रता के उपभोग का अधिकार, जो प्रत्येक व्यक्ति, यहां तक कि राष्ट्र-राज्य (Nation-State) में भी, संबंधित व्यक्तियों के द्वारा प्रकट की गई इच्छा के द्वारा एक स्वतन्त्र राष्ट्र और एक जवाबदेह और जिम्मेदार प्रशासन का निर्माण करने के लिये, रखते हैं। आत्म-निर्णय का यह अन्तर्राष्ट्रीय रूप से मान्यता-प्राप्त मानवाधिकार अपने मूल औपनिवेशिक सन्दर्भ में बढ़कर जनता के स्वतन्त्र अंग का अर्थ देने लगा है।

4.3 विकास का सामूहिक अधिकार-चूँकि सब मानवाधिकार अविभाज्य, परस्पर संबंधित है, एक सामूहिक मानवाधिकार के रूप में आत्म-निर्णय के अधिकार ने, विकास के सामूहिक अधिकार के माध्यम से, विशेष रूप से आत्म-निर्णय का प्रयास करने वाले लागों के लिए, और अधिक सामूहिक मानवाधिकारों के विकास की प्रक्रिया की ओर अग्रसर किया है।

सारे मानवाधिकार और स्वतन्त्रताएँ, प्रजातंत्र और सामाजिक-आर्थिक आत्म-विकास परस्पर निर्भर हैं और पारस्परिक रूप से समर्थन देने वाले हैं। इस प्रकार, विकासात्मक अधिकार अब आर्थिक सुरक्षा, भोजन की सुरक्षा, स्वास्थ्य के अधिकार, व्यक्तिगत सुरक्षा, साम्प्रदायिक सुरक्षा, सामाजिक सुरक्षा और पर्यावरणीय सुरक्षा से संबंध रखते हैं। इसका अब तात्पर्य, सब लोगों के लिये गरिमामय जीवन जीने और एक लम्बा, स्वस्थ और उत्पादक जीवन बिताने के अधिकार को सुनिश्चित करना है। हम यह भी कह सकते हैं कि प्रजातंत्र और विकास सारे मानवाधिकारों के उपभोग के लिये आवश्यक हैं और यह कि विकास और एक स्वस्थ प्रजातंत्र के लिये मानवाधिकार आवश्यक है। ऐसा दावा किया जाता है कि संघर्षों को समाप्त करने के लिये और वास्तविक समानता और स्वतन्त्रता को प्राप्त करने के लिये लोगों के विकास का सामूहिक अधिकार एक महत्त्वपूर्ण आवश्यकता है।

किसी स्थान के मूल निवासियों के अधिकारों के लिये मांग एक नई अवधारणा है, जो शीघ्र ही एक वास्तविकता बन सकती है। मूल निवासी वे व्यक्ति होते हैं, जो किसी देश अथवा किसी भौगोलिक क्षेत्र में उस समय रहते थे, जब भिन्न संस्कृतियों वाले अथवा किसी जाति-विशेष में उत्पत्ति वाले लोग वहां पर आये और वे बाद में आने वाले व्यक्ति विजय, व्यवसाय, संधि अथवा अन्य किसी साधन के माध्यम से प्रभुत्व वाले हो गये। उदाहरण के लिये बोत्सवाना के बुशमैन और न्यूजीलैण्ड के माओरी वहां के मूल निवासी हैं। वे 700 से अधिक देशों में बिखरे हुए हैं और 5000 से अधिक समूहों से संबंध रखते हैं। ऐसा समझा जाता है कि मूल निवासियों को उनकी संस्कृति से वंचित कर दिया गया है, उन्हें राजनैतिक निर्णय लेने से बाहर रखा गया है, पाशविक तरीके से समाज में रखा गया है और उनका आर्थिक दृष्टि से शोषण किया गया है। मूल निवासियों के अधिकारों की सुरक्षा के लिये संयुक्त राष्ट्र द्वारा एक घोषणा-पत्र की मांग बढ़ती जा रही है। संयुक्त राष्ट्र वर्ष 1994 में मूल निवासियों के अधिकारों पर पहले ही एक प्रारूप घोषणा-पत्र जारी कर चुका है।

4.4 पर्यावरणीय सुरक्षा का सामूहिक अधिकार-पिछले 25 वर्षों में मानवाधिकारों और पर्यावरणीय सुरक्षा के लिये कानूनी दावों में अभूतपूर्व वृद्धि हुई है। मानवाधिकारों और पर्यावरण पर संयुक्त राष्ट्र उपयोग की रिपोर्ट ने न केवल इस सम्बन्ध को खोजा, बल्कि मानवाधिकारों और पर्यावरण पर सिद्धान्तों को अपनाने की सिफारिश भी की। यह रिपोर्ट मुख्य रूप से वर्तमान में विद्यमान मानवाधिकारों के कानूनों को बढ़ावा देने और उन सिद्धान्तों की घोषणा करने से, जिन्हें पर्यावरणीय अधिकारों को एक स्वायत्त और स्पष्ट स्वरूप प्रदान करना चाहिये, संबंधित है।

ऐसा दावा किया जा रहा है कि आर्थिक, सामाजिक और सांस्कृतिक अधिकारों, जैसे कि जीवन का अधिकार, स्वास्थ्य का अधिकार, रहने की उत्तम स्थितियों का अधिकार, और काम करने के उत्तम पर्यावरण का अधिकार, का प्रत्यक्ष सम्बन्ध उन पर्यावरणीय स्थितियों से है, जो राज्य से अपने नागरिकों को पर्यावरणीय गिरावट और प्रदूषण से रक्षा करने के लिये पर्याप्त उपाय करने की मांग करती हैं। आगे यह भी जोर देकर कहा गया है कि एक अच्छे पर्यावरण का अधिकार और जीवन को बनाये रखने वाले विकास और शान्ति के दूसरे मानवाधिकार वैश्विक, परस्पर निर्भर और अविभाज्य हैं। ये दावे राज्यों से पर्यावरण संबंधी अधिकारों की क्रियान्विति के लिये आवश्यक विभिन्न उपाय अपनाने की मांग करते हैं। इस मांग का दूरगामी प्रभाव दोहरा है-

- यह मांग पर्यावरण संबंधी अधिकारों को महत्त्वपूर्ण मानवाधिकार समझती है, जिसमें राज्य की, अच्छा, स्वास्थ्यप्रद अथवा स्वतन्त्र रूप से जीवन यापन के सन्दर्भ में, जो कि मानव अस्तित्व के

समस्त पक्षों में मानवीय गरिमा और सामूहिक मानव कल्याण के लिये अपरिहार्य हैं, एक निश्चित स्तर की पर्यावरणीय गुणवत्ता को प्रोत्साहन देने की जिम्मेदारी शामिल है।

- इस मांग में अन्तर्पीढ़ीगत (Inter-generational) न्याय और निष्पक्षता और जिम्मेदारी शामिल है, जो वर्तमान पीढ़ी से आगे आने वाली पीढ़ियों के लिये प्रकृति और प्राकृतिक संसाधनों के संरक्षण की मांग करती है।

4.5 विज्ञान और टैक्नोलौजी का प्रभाव–मानवाधिकारों का दूसरे क्षेत्रों में प्रादुर्भाव होना जारी रहता है, क्योंकि नये मानवाधिकारों की खोज और सही और संक्षिप्त रूप में उनका निर्माण एक निरन्तर जारी रहने वाली प्रक्रिया है। यह जटिल मानवीय गतिविधियों की सामाजिक आवश्यकताओं के प्रत्युत्तर में है। उदाहरण के लिये आणविक विस्फोटों, गहरे समुद्रों, बाह्य अन्तरिक्ष की खोज और उनके दोहन, कचरे का निस्तारण, भूमि की सावधानी पूर्वक जाँच के कार्यक्रमों ने मानव सुरक्षा के नये सामूहिक अधिकारों को जन्म दिया है। इन गतिविधियों की प्रकृति ही ऐसी है, जो राज्य, बहु-राष्ट्रीय और दूसरे संगठनों पर एक पूर्ण (Absolute) और कठोर जिम्मेदारी लागू कर देती है। इसके अतिरिक्त विशाल विकास परियोजनाओं के कारण देश के अन्दर ही विस्थापित हुए लोगों के लिये मानवाधिकार की मांग भी राज्यों के लिये उठने वाली एक नई मांग है।

कम्प्यूटरों और दूरसंचार साधनों के आपस में निकट आने से इस ग्रह को साझे विचारों और बिम्बों के एक वैश्विक विद्युत जाल (Electric Network) में जुड़े हुए वैश्विक समुदाय में बदल दिया है। वैश्विक वार्तालाप और सम्पर्क का प्रभाव वास्तव में बड़ा भारी है और अधिकाधिक व्यक्ति मानवाधिकारों के प्रति जागरूक हो रहे हैं और अपने स्वयं के भाग्य का निर्माण करने में और अधिक भागीदारी की मांग कर रहे हैं। मानवाधिकारों, मूल स्वतन्त्रताओं, प्रजातंत्र और कानून के शासन से जुड़े मुद्दे अधिकाधिक अन्तर्राष्ट्रीय चिन्ता के विषय बनते जा रहे हैं। भिन्न-भिन्न देशों में मानवाधिकारों के उल्लंघनों का मामला सम्पूर्ण मानवीयता (मानव जाति) की चिन्ता का विषय बनता जा रहा है।

5. मानवाधिकारों के सिद्धान्त

'मानवाधिकार' शब्द की परिभाषा ब्लैक के कानूनी शब्दकोष के आठवें संस्करण (आठवां संस्करण, 2004) में इस प्रकार दी गई है–''वे स्वतन्त्रताएँ, तटस्थताएँ और लाभ, जिनकाआधुनिक मूल्यों के अनुसार समस्त मानवप्राणी उस समाज में जिसमें कि वे रहते हैं, अधिकार के रूप में दावा करने में समर्थ हों।'' तब यह कहा जा सकता है कि मानवाधिकार वे अधिकार हैं जो समस्त मानव प्राणी केवल इस कारण से रखते हैं कि वे मानव प्राणी हैं।

वे सामान्य अधिकार हैं क्योंकि वे सम्पूर्ण मानवता के होने के कारण वैश्विक हैं। मानवाधिकारों की आधारभूत जानकारी के लिये अधिकारों से संबंधित कुछ सिद्धान्तों पर दृष्टिपात करना आवश्यक है।

मानवाधिकारों, न्याय और मानवीय गरिमा की अवधारणाएँ बहुत प्राचीन हैं, यद्यपि मानवाधिकारों को राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय दस्तावेजों में संस्थागत रूप में प्रस्तुतीकरण अभी हाल ही की घटना है। 18वीं शताब्दी के दौरान मूल अधिकारों को पहली बार आज हमारे संविधान में उपलब्ध सूचियों से मिलती-जुलती सूचियों में शामिल किया गया था। इस प्रकार का पहला कानूनी नियम वर्ष 1776 का Virginia Bill of Rights था। यह अधिकारों का एक घोषणा-पत्र था, जिसकी सहायता से अमेरिका में बसने वाले लोगों (Settlers) ने ब्रिटिश सम्राट के सत्ता के दावे का मुकाबला किया था। यूरोप में

1789 के French Declaratin of the Rights of Man and of Citizen और बाद में आने वाले दूसरे दस्तावेजों ने एक ओर तो मानव के अधिकारों और दूसरी ओर नागरिक के अधिकारों के बीच अन्तर किया। इस दृष्टिकोण से मानव के अधिकार प्राकृतिक और अहस्तान्तरणीय हैं, जबकि नागरिक के अधिकार सकारात्मक अधिकार हैं। इस कारण से मानवाधिकार मूल अधिकार हैं क्योंकि उनका अस्तित्व राज्य से पहले भी था जबकि नागरिक के अधिकार उनके अधीन हैं और उन पर निर्भर हैं।

मानव के मूल अधिकारों के विचार के विकास में प्रकृति के नियम की धारणा ने एक बहुत बड़ी भूमिका निभाई। प्राकृतिक नियम के सिद्धान्त ने अन्ततोगत्वा प्राकृतिक अधिकारों के सिद्धान्त की ओर अग्रसर किया-यह वह सिद्धान्त है, जो आधुनिक मानवाधिकारों से सर्वाधिक घनिष्ट रूप से जुड़ा हुआ है।

5.1 प्राकृतिक अधिकारों का सिद्धान्त-यह अधिकारों का सबसे प्रारम्भिक सिद्धान्त है और इसकी उत्पत्ति को प्राचीन यूनानियों में पाया जा सकता है। प्राकृतिक अधिकारों के सिद्धान्त के अनुसार कुछ अधिकार मानव से सम्बन्ध रखते हैं और इस प्रकार स्वयंसिद्ध सत्य हैं। वे जन्मजात, पूर्ण, सभ्यता से भी पूर्व के और समाज से भी पहले के समझे जाते थे।

उन पर कहीं भी और प्रत्येक जगह बल दिया जा सकता है। इस सिद्धान्त के मुख्य प्रवर्तक टॉमस मेन, ग्रोटियस, टॉम पेन और जॉन लॉक हैं। इन सिद्धान्तवादियों ने अधिकारों के बारे में विचार परमात्मा से अथवा किसी मठ की नैतिक मान्यता से प्राप्त किया। वे यह विश्वास करते थे कि व्यक्तियों को इन अधिकारों से वंचित नहीं किया जा सकता अथवा उन्हें कानूनी तौर पर उनसे शासक अथवा समाज के द्वारा लिया नहीं जा सकता और यह कि किसी भी शासक के द्वारा व्यक्ति को इन अधिकारों को देने से इनकार करने अथवा उन्हें इन अधिकारों से वंचित करने से दुगुना उल्लंघन होता है। पहला तो यह कि इससे व्यक्ति के अधिकारों का उल्लंघन होता है और दूसरा यह कि इससे शासक के व्यक्ति की रक्षा करने के कर्त्तव्य का उल्लंघन होता है।

इस बात को दृढ़तापूर्वक कहा गया कि व्यक्ति के मूल मानवाधिकार अहस्तान्तरणीय हैं, जिसका तात्पर्य यह है कि वे कानूनी तौर पर शासक अथवा समाज द्वारा वापस नहीं लिये जा सकते, और, न ही उनको अधिकार रखने वाले व्यक्ति के द्वारा राज्य को समर्पित अथवा स्थानान्तरिक किया जा सकता है। इस सिद्धान्त के प्रवर्तकों द्वारा यह दावा किया गया कि प्रशासन अपनी प्रजा के प्राकृतिक अधिकारों की रक्षा के लिये बाध्य है और यदि वह अपने इस दायित्व की अवहेलना करता है तो प्रजा उसकी वैधता और पद को जब्त कर लेगी। यह सिद्धान्त मनवाधिकारों की रक्षा के लिये बहुत अधिक महत्त्वपूर्ण है।

इतना होने पर भी, प्राकृति सिद्धान्त के आलोचक यह तर्क देते हैं कि अधिकार अमूर्त्त, पूर्ण और अपरिभाषित नहीं हैं। उनका मानना है कि स्वतन्त्रता कुछ प्रतिबंधों के साथ ही रह पाती है। उदाहरण के लिये, अधिकारों पर प्रतिबन्ध ऐसी सामाजिक स्थितियां पैदा करते हैं, जिनमें प्रत्येक व्यक्ति को अपने व्यक्तित्व के विकास का अधिकार होता है और तदनुसार ही दूसरों के प्रति उसके कर्त्तव्य होते हैं। आलोचना के बावजूद, प्राकृतिक अधिकारों के सिद्धान्त ने इस विचार को प्रेरणा दी कि मानव प्राणियों के साथ किसी भी प्रकार का अन्यायपूर्ण, मनमाना अथवा दमनकारी व्यवहार स्वयं मानवता पर आक्रमण है। इसके अतिरिक्त इस सिद्धान्त ने अंग्रेजी, फ्रांसीसी और अमेरिकन क्रान्तियों को आधार प्रदान किया, जिनके परिणामस्वरूप ठपसस वि त्व्हीजे अस्तित्त्व में आया।

5.2 अधिकारों का कानूनी (उपयोगितावादी) सिद्धान्त–यह सिद्धान्त प्राकृतिक अधिकारों के सिद्धान्त की प्रतिक्रिया है। इस सिद्धान्त के समर्थक यह तर्क देते हैं कि प्राकृतिक नियम और प्राकृतिक अधिकारों का विचार अमूर्त्त और हास्यास्पद है। उन्होंने अनुभव किया कि एक व्यक्ति के मूलभूत अधिकार व्यक्ति की अपेक्षा राज्य द्वारा ही बेहतर तरीके से व्यवहृत और बनाये रखे जा सकते हैं। टॉमस हॉब्स, जॉन ऑस्टिन और जेरेमी बैन्थम इस सिद्धान्त के मुख्य प्रवर्तक थे। इन लेखकों के अनुसार अधिकार विशुद्ध रूप से उपयोगितावादी अवधारणाएँ हैं और इस प्रकार अधिकारों की पहचान और सुरक्षा के लिये नियम और कायदे आवश्यक हैं। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिये प्रत्येक व्यक्ति को समाज के सामान्य कल्याण के लिये कुछ अधिकारों और स्वतन्त्रताओं का बलिदान करना पड़ता है।

हीगल का मत यह था कि मनुष्य के कोई अहस्तान्तरणीय अधिकार नहीं होते और उसकी स्वतन्त्रता राज्य का दिया हुआ एक उपहार है। राज्य न केवल समाज की स्वतन्त्रता की अनुमति देता है बल्कि उसका विस्तार भी करता है।इस सिद्धान्त की इस आधार पर आलोचना की गई है कि कानून अधिकारों की रचना नहीं करता। यह उनको मान्यता देता है और उनकी सुरक्षा करता है। रीति-रिवाजों, परम्पराओं और नैतिकता की अधिकारों को परिभाषित करने में भूमिका होती है। इतना होने पर भी इस सिद्धान्त का महत्त्व इस बात में है कि यह व्यक्तियों को कुछ विशेषीकृत और मान्यता प्राप्त अधिकारों की राज्य द्वारा स्वीकृत किये गये और गारण्टी दिये गये अधिकारों के रूप में मांग करने योग्य बनाता है।

5.3 अधिकारों का उपयोगिता विरोधी (Anti-utilitarian)सिद्धान्त–कुछ ऐसे सिद्धान्तवादी हैं, जो दृढ़तापूर्वक यह तर्क देते हैं कि बहुमत के कल्याण की प्राथमिकता, जैसी कि उपयोगितावादी द्वारा वर्णित की गई है, राज्य का प्रमुख उद्देश्य नहीं है। अधिकारों के इस सिद्धान्त को डोरकिन (Dworkin), नोजिक (Nozic) और जॉन रॉल्स (John Rawls) का समर्थन प्राप्त है। वे इस मत के हैं कि जहां तक किसी विशेष व्यक्ति अथवा व्यक्तियों के समूह व कल्याण का सम्बन्ध है, बहुसंख्या का कल्याण हानिकारक परिणामों की ओर अग्रसर कर सकता है। इस प्रकार सामाजिक और व्यक्तियों के अधिकारों के बेहतर आनन्द के लिये बहुसंख्या के कल्याण और व्यक्ति के कल्याण के बीच उचित तालमेल होना चाहिये। विकास के अधिकार की मांग सम्भवत: इसी सिद्धान्त की अभिव्यक्ति है।

5.4 अधिकारों का कानूनी वास्तविकतावादी अधिकार–अधिकारों का कानूनी वास्तविकतावादी सिद्धान्त अभी हाल ही की उपज है। इसका प्रादुर्भाव राष्ट्रपति रूजवैल्ट की 'New Deal Policy' के बाद होने वाली नियंत्रणकारी (Regulatory) गतिविधियों के विस्तार के साथ संयुक्त राज्य अमेरिका में हुआ। कुछ न्यायविदों (Jurists) जैसे कि कार्ल लैविलिन (Karl Liewellyn), रोस्को पाउण्ड (Rosco Pound) और दूसरों ने एक बेहद जटिल और औद्योगीकृत समाज में 'कानून क्या है' इसके बजाय 'कानून क्या करता है', इस बिन्दु पर विचार-विमर्श किया। इन सैद्धान्तिकों ने यह तर्क दिया कि मानवाधिकारों का विकास एक लगातार बनी रहने वाली प्रक्रिया है, न कि एक स्थापित सिद्धान्त का मामला। यह सिद्धान्त वर्तमान में अस्तित्व वाले कानूनों, उनके आधार और परिणाामों पर प्रश्न उठाता है, परन्तु मानव प्राणियों के अति-मूल्य (Super-Value) के रूप में कोई समाधान नहीं सुझाता।

5.5 अधिकारों का मार्क्सवादी सिद्धान्त–अधिकारों का मार्क्सवादी सिद्धान्त अधिकारों को 'प्राकृतिक' अथवा 'अहस्तान्तरणीय' के रूप में नहीं देखता। मार्क्स ने उस समय प्रचलित सिद्धान्तों के विचार को शासक वर्ग की पूर्व-प्रभुत्व वाली स्थिति को बनाये रखने और उसे और अधिक समर्थन देने के लिये

बनाई गई पूंजीवादी शोषकों की अवधारणा कहकर पुकारा। मार्क्स राज्य को एक विशेष प्रकार के सामाजिक संगठन को ऊपर उठाने के लिये एक बल प्रयोग करने वाली एजेन्सी और कानून को समाज में प्रभुत्व सम्पन्न समूह के हितों को जारी रखने और उनकी रक्षा करने के लिए राज्य का एक उपकरण (tool) समझता था। मार्क्स का यह दृढ़ विश्वास था कि सच्चे अधिकारों का अस्तित्व और फलना-फूलना केवल एक वर्गविहीन समाज में ही हो सकता है, जहाँ सब समान हों और किसी का शोषण न हो। इस प्रकार सामाजिक और आर्थिक अधिकार इस सिद्धान्त की चिन्ता के मुख्य विषय थे। मार्क्सवादी दर्शन की झलक 1966 के ICESCR में दिखाई देती है। यह सिद्धान्त धर्म, रीति-रिवाजों, परम्परा और नैतिकता को मानवाधिकारों के अभिन्न अंगों के रूप में शामिल नहीं करता।

6.भारत में मानवाधिकार

मानवाधिकार वे न्यूनतम अधिकार हैं, जिनकी व्यक्तियों को, बिना किसी दूसरी बात का विचार किये, उनके मानव परिवार के सदस्य होने के कारण राज्य अथवा अन्य किसी सार्वजनिक संस्था के विरुद्ध आवश्यकता पड़ती है। मानवाधिकारों की अवधारणा प्राकृतिक नियम (Natural Law) पर आधारित प्राकृतिक अधिकारों के प्राचीन सिद्धान्तों पर आधारित है। सभ्य जीवन के प्रारम्भ से ही शासक शक्तियों की कमियों और अत्याचार ने लोगों को उच्चतर नियमों की खोज की ओर अग्रसर किया है। मानव अधिकारों के लिये बाध्यकारी उच्चतर, नियम की अवधारणा का विकास लम्बे समय में हुआ, और इस बात पर बल दिया जाने लगा कि कुछ ऐसे अधिकार हैं, जो समाज से भी पहले के (anterior) हैं। ये अधिकार मानव अधिकारियों द्वारा निर्मित अधिकारों से श्रेष्ठ थे, सभी युगों और सभी धर्मों के लोगों पर वैश्विक रूप से लागू होने वाले थे, और इनके बारे में विश्वास किया जाता था कि राजनैतिक समाजों के विकास से भी पूर्व उनका अस्तित्व था।

6.1 प्राचीन भारत में मानवाधिकार-पाश्चात्य विद्वानों के द्वारा प्राय: यह दावा किया जाता है कि मानवाधिकार नियम की अवधारणा यूरोपियन सभ्यता की देन है। वास्तविकता यह है कि मानवाधिकार नियम की जड़ें, अधिकांश प्राचीन सभ्यताओं की भांति सुदूर प्राचीन भारत में देखी जा सकती हैं।

एक व्यक्ति की गरिमा के प्रति आदर और समाज में शान्ति और सामंजस्य का प्रयत्न भारतीय संस्कृति की निरन्तर खोज रही है। भारतीय संस्कृति समय के लम्बे अन्तराल में विभिन्न संस्कृतियों और धर्मों के मिश्रण की उपज है। हमारी परम्परा में एकता और वैश्विकता की भावना सम्पूर्ण विश्व तक फैली हुई है। ऋग्वेद में कहा गया है-''मानव प्राणियों की एक ही जाति है'' और विभिन्न परम्पराओं और धर्मों की सत्यता, वास्तव में सत्य के मार्ग के औचित्य का हमेशा आदर किया गया है। 'सर्व धर्म समान' हमारा निर्देशित करने वाला सिद्धान्त रहा है।

एक प्राचीन धर्मग्रन्थ में कहा गया है-''मैं राज्य, स्वर्ग और पुनर्जन्म नहीं चाहता, परन्तु मैं चाहता हूँ कि समस्त जीवित प्राणियों को विभिन्न प्रकार के कष्टों और दु:खों से छुटकारा मिले।'' प्राचीन भारत में एक व्यक्ति का अस्तित्व देश के एक नागरिक के रूप में था और इस हैसियत से उसके अधिकार और कर्त्तव्य, दोनों ही थे। इन अधिकारों और कर्त्तव्यों को अधिकांशत: 'धर्म' कहकर पुकारा गया है-अपने स्वयं के प्रति कर्त्तव्य, अपने परिवार के प्रति कर्त्तव्य, दूसरे साथियों के प्रति कर्त्तव्य। समाज के प्रति कर्त्तव्य और सम्पूर्ण संसार के प्रति कर्त्तव्य। सुदूर तीसरी सदी ईसा पूर्व का मन और कर्म से अहिंसा का बौद्ध सिद्धान्त एक ऐसा मानवतावादी सिद्धान्त है, जिसकी कोई तुलना नहीं है। बौद्ध और जैन, दोनों धर्मों ने समानता, अहिंसा और भौतिक सुखों के त्याग पर जोर दिया।

जैन धर्म ने बौद्ध धर्म के साथ-साथ एक समानान्तर अ-संस्कृत (Non-Sanskrit) परम्परा चलाई। इसने सम्पूर्ण मानव प्राणियों के लिये करुणा का उपदेश दिया और न केवल पिछड़े हुए लोगों, बल्कि पौधों और पशुओं के अधिकारों को भी स्वीकार किया। प्रत्येक प्राणी में जीवन है और समस्त प्राणी कष्ट और सुख की अपनी संवेदनशीलता में समान हैं। जैन धर्म ने 'पाप' को दूसरों के जीवन के अधिकार के उल्लंघन और उसके अतिक्रमण के रूप में परिभाषित किया। मानव इतिहास में सम्भवत: यह पहला अवसर था कि जीवन के अधिकार को यह ऐसे अधिकार के रूप में देखा गया, जिसका आदर किया जाना चाहिये। इस अधिकार के उल्लंघन को हिंसा और वास्तव में पाप समझा जाता था। जैन धर्म ने तो जीवन के अधिकार को न केवल समस्त व्यक्तियों, बल्कि जानवरों और समस्त जीवित प्रजातियों तक पर व्यापकता प्रदान की।

प्राचीन काल में एक राजा का सर्वप्रथम कर्त्तव्य अपनी जनता की रक्षा करना था। इस रक्षा में मानव की स्वतन्त्रता की आन्तरिक खतरों और साथ ही साथ बाहरी आक्रमण का भी सामना करना शामिल था। गौतम बुद्ध ने यह सुझाया कि राजा की विशेष जिम्मेदारी समस्त प्राणियों की रक्षा करना और उचित दण्ड देना है। उसे शास्त्र के नियम के अनुसार वर्णों और आश्रमों की रक्षा करनी चाहिये और जब वे अपने कर्त्तव्य के पालन के पथ से विचलित हों तो उन्हें वापस अपने रास्ते पर लाना चाहिये। वशिष्ठ ने कहा कि सुरक्षा (Protection) एक जीवन-पर्यन्त चलने वाला सूत्र है और राजा को भय और हृदय की कोमलता को त्याग देना चाहिये।

प्राचीन भारत में सामाजिक सेवाओं, जैसे कि शिक्षा, सार्वजनिक स्वास्थ्य, चिकित्सा सुविधाएँ, बेरोजगारी, वृद्धावस्था, विधवा, अनाथ और दरिद्रता उन्मूलन के लिये व्यापक प्रावधान थे। ऐसा विश्वास किया जाता था कि राज्य और उसके संसाधनों का प्रतिनिधित्व करने वाले राजा के लिये ज्ञान को प्रोत्साहन देना, विकलांगों, वृद्धों और विधवाओं का ध्यान रखना और बेरोजगारों के लिये रोजगार का प्रबन्धन करना अत्यन्त आवश्यक है।

कौटिल्य के द्वारा उनके ग्रन्थ 'अर्थशास्त्र' में राजा के लिये एक अत्यन्त उच्च आदर्श प्रस्तुत किया गया था। उन्होंने यह शानदार आदर्श प्रस्तुत किया कि ''जनता की प्रसन्नता में ही राजा की प्रसन्नता निहित है, उसके कल्याण में ही राजा का कल्याण है, राजा की भलाई इस बात में नहीं है कि उसे क्या अच्छा लग रहा है, बल्कि इस बात में है कि उसकी जनता को किस बात से खुशी मिलेगी।'' उन्होंने राजा को अत्यन्त निर्धनों, विकलांगों और इसी प्रकार अन्य व्यक्तियों को सहारा देने का और उन्हें उनकी आवश्यकतानुसार औषधियाँ, रहने का स्थान, भोजन और वस्त्र प्रदान करने का आग्रह किया।

भारतीय परम्परा में मानवाधिकारों की जड़ों पर विचार-विमर्श सम्राट अशोक के सन्दर्भ के बिना पूरा नहीं हो सकता। उनका सबसे महत्त्वपूर्ण योगदान सहिष्णुता के सिद्धान्त को एक ऐसी वृत्ति (attitude) के रूप में बदल देना था, जिसका पालन सबको करना था। वे सम्भवत: पहले शासक थे, जिन्होंने एक पूरी तरह से युद्ध-विरोधी परिदृश्य का विकास किया। सम्पूर्ण इतिहास में राजाओं के बीच युद्ध लड़े गये हैं, और उन्हें सामान्यत: विजेताओं के द्वारा महिमा-मण्डित किया गया है। अशोक इतिहास में अकेले एक ऐसे व्यक्ति के रूप में खड़े हैं, जिसने न केवल युद्ध का, बल्कि युद्ध की वृत्ति (attitude) का भी परित्याग कर दिया। युद्ध के प्रति उनके दृष्टिकोण का वर्णन उनके 13वें प्रमुख शिलालेख में किया गया है। यह शिलालेख प्राचीनतम युद्ध विरोधी कथन है और इसे वास्तव में सबसे प्राचीन और सबसे महत्त्वपूर्ण मानवाधिकार दस्तावेजों में से एक के रूप में देखा जाना चाहिये।

भारत की इस महान परम्परा ने, जो शान्ति, मित्रता, समानता, जीवन और गरिमा के प्रति आदर का सन्देश देती है, हमारे स्वतन्त्रता संग्राम के लिये प्रेरणा प्रदान की। यह वह परम्परा है, जिसने स्वतन्त्रता के लिये हमारे संघर्ष को प्रोत्साहन दिया। जीवन के सब क्षेत्रों के व्यक्तियों ने भारत के लोगों के लिये मूल मानवाधिकारों को प्राप्त करने के लिये इसे अपना संघर्ष बना लिया।

6.2 19वीं शताब्दी में मानवाधिकार–19वीं शताब्दी में ऐसे कई कानून पारित किये गये, जिन्होंने समूहों और व्यक्तियों के लिये मानवाधिकारों को सुरक्षित करने के लिये परम्पराओं पर प्रतिबन्ध लगाये। सती प्रथा (1829), गुलामी का अन्त (1843) और कन्या शिशु हत्या (1870), 1855 में मद्रास प्रैसीडैन्सी में यातना आयोग का गठन, विधवा पुनर्विवाह कानून का लागू किया जाना (1856) और आगे चलकर बाल-विवाह निषेध (1929) एक ऐसा कानून बनाने की दिशा में कुछ कदम थे जो मानव की गरिमा का आदर करता हो। भारतीय दण्ड संहिता (Indian Penal Code) और कानूनों और नियमों के द्वारा कैद और जेलों के सुधारों की श्रृंखला कुछ दूसरे उपाय थे जो मानवाधिकारों की रक्षा करने और उन्हें सुरक्षित रखने के लिये उठाये गये। बालिकाओं के अधिकारों को सुरक्षित रखने के लिये 1891 का सहमति की उम्र का कानून (The Age of Consent Act) और 1929 का बाल-विवाह निषेध कानून पारित किये गये। साथ ही मद्रास सरकार ने बच्चों की सुरक्षा के लिये और प्राथमिक स्तर पर उनहें बेहतर शिक्षा प्रदान करने के लिये Madras Children's Act और Madras Elementary Education Act (1920) पारित किये। इन मानवीयतावादी विधानों ने युद्ध के वर्षों के दौरान मानवीयतावादी अधिकारों की जागरूकता के लिये आधार तैयार किया।

6.3 भारतीय संविधान का निर्माण–भारत में नागरिक अधिकारों और मानवाधिकारों को सुरक्षित करने की प्रक्रिया भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के द्वारा 1931 में कराची प्रस्ताव को स्वीकार करने के साथ प्रारम्भ हुई और इसके बाद 13 दिसम्बर, 1946 का ObjectiveResolution आया जो 22 जनवरी, 1947 को संविधान सभा के द्वारा एक मत से स्वीकार कर लिया गया। ये दोनों प्रस्ताव मानवाधिकारों पर लगभग एक घोषणा-पत्र (Charter) के समान थे, जिनमें सामाजिक, आर्थिक और राजनैतिक न्याय, कानून के समक्ष स्तर (Status) की समानता और अवसर की समानता, विचार, विश्वास, अभिव्यक्ति, आस्था, पूजा, व्यवसाय, मिलने-जुलने (Association) और कार्य की स्वतन्त्रता शामिल थे। Objective Resolution में सारी गारण्टियाँ कानून और जनता की नैतिकता के अध्यधीन थीं। भारतीय संविधान निर्माताओं ने इन दोनों प्रस्तावों के सिद्धान्तों पर विचार किया और उन्हें लागू किया। यह बात संविधान की प्रस्तावना, भाग-III-मूल अधिकार, भाग-IV राज्य के नीति-निर्देशक तत्त्व और संविधान के बहुत से दूसरे प्रावधानों में स्पष्ट दिखाई देती है। यह कहा जा सकता है कि हमारे संविधान निर्माता अमेरिका के संविधान के Bill of Rights; the French Declaratino of the Rights of Men और Irish Constitution और UDHR, जो संयुक्त राष्ट्र द्वारा स्वीकृत किया गया था, से प्रभावित थे। इतना होने पर भी, न तो दोनों में से किसी भी प्रस्ताव में न भारतीय संविधान में 'मानवाधिकार' शब्दों का प्रयोग किया गया, यद्यपि इसका सार नि:संदेह उनमें मौजूद है। आइये, हम उनमें से प्रत्येक का विस्तार से सावधानीपूर्वक अवलोकन करें।

6.3.1 भारतीय संविधान की प्रस्तावना-किसी संविधान की प्रस्तावना से यह अपेक्षा की जाती है कि उसमें मूल मूल्यों और उस विचारधारा (दर्शन) जिस पर कि वह (प्रस्तावना) आधारित है और उन उद्देश्यों और लक्ष्यों जिनका कि संविधान निर्माताओं ने प्रशासन (सरकार) को प्राप्त करने का प्रयत्न करने का आदेश दिया, का समावेश होगा। इससे पहले कि हम आगे बढ़ें, आइये, हम अपने संविधान की प्रस्तावना पर एक दृष्टि डालें-

हम, भारत के लोग, भारत को एक सम्पूर्ण प्रभुत्व सम्पन्न समाजवादी धर्म-निरपेक्ष प्रजातांत्रिक गणतन्त्र बनाने और इसके समस्त नागरिकों के लिये :

न्याय, सामाजिक, आर्थिक और राजनैतिक;स्वतन्त्रता, विचार, अभिव्यक्ति, विश्वास, आस्था और पूजा की समानता, स्तर (Status) और अवसर की; और उन सबमें; व्यक्ति की गरिमा और राष्ट्र की एकता और अखण्डता को सुनिश्चित करने वाले भ्रातृत्वभाव का विकास करने का गम्भीरतापूर्वक विचार कर लेने पर अपनी संविधान सभा में आज 26 नवम्बर, 1949 को इस संविधान को स्वीकार करते हैं, पारित करते हैं और अपने आपको समर्पित करते हैं।

यह प्रस्तावना भारतीय संविधान की आत्मा का कार्य करती है। यह वास्तव में मानवाधिकार मूल्यों को अभिव्यक्त करती है, यद्यपि 'मानवाधिकार' शब्दों का प्रयोग नहीं किया गया है। यह एक सम्पूर्ण प्रभुत्व सम्पन्न, धर्म-निरपेक्ष, समाजवादी, प्रजातांत्रिक गणतन्त्र, राजनैतिक और आर्थिक न्याय, विचार, अभिव्यक्ति, विश्वास, आस्था और पूजा की स्वतन्त्रता, स्तर (Status) और अवसर की समानता और व्यक्ति की गरिमा और राष्ट्र की एकता और अखण्डता का आश्वासन देने वाले भ्रातृत्वभाव की बात करती है। 'धर्म-निरपेक्ष' शब्द का अर्थ यह है कि राज्य का अपना स्वयं का कोई धर्म नहीं होगा और सब व्यक्ति अपनी चेतना की स्वतन्त्रता के अधिकारी होंगे और सब स्वतन्त्रतापूर्वक धर्म को स्वीकार करने, उसका पालन करने और उसका प्रचार करने की स्वतन्त्रता के अधिकारी होंगे।

प्रस्तावना में प्रयुक्त शब्द सर्वश्रेष्ठ शब्दों में से हैं। वे उन सर्वोच्च मूल्यों को अभिव्यक्त करते हैं, जो मानवीय मौलिकता और अनुभव अभी तक खोज पाये हैं। प्रस्तावना के मूल पाठ, जैसा कि वह आज है, के अनुसार, वे सर्वोच्च और मूल सांवैधानिक मूल्य, जिनमें कि संविधान निर्माता विश्वास करते थे, जिनका वे गणतन्त्र के लोगों के बीच विकास करना चाहते थे, और जिनके लिये कि वे आशा करते थे कि वे मूल्य उन सब लोगों का मार्गदर्शन करेंगे, जिन्हें इस संविधान पर कार्य करने के लिये आमंत्रित किया जायेगा, इस प्रकार हैं-

सम्प्रभुता, समाजवाद, धर्म-निरपेक्षता, प्रजातंत्र, गणतांत्रिक स्वरूप, न्याय, स्वतन्त्रता, समानता, भ्रातृत्वभाव, व्यक्ति की गरिमा, और राष्ट्र की एकता और अखण्डता

इनमें से कुछ शब्द समूहों पर इस पत्र की इकाई-I में विस्तार से व्याख्या की गई है। सामाजिक, राजनैतिक और आर्थिक प्रजातंत्र के आदर्शों को शामिल करके यह प्रस्तावना उस भारत का निर्माण करने का प्रयास करती है, जिसे गाँधी ने 'मेरे सपनों का भारत' कहा था। आइये, हम इस प्रस्तावना की विशेषताओं का अवलोकन करें-

- यह प्रस्तावना 'भारत के लोगों' की बात करती है, और इस प्रकार प्रारम्भ से ही यह बात स्थापित कर देती है कि सामाजिक-आर्थिक स्तर में अन्तरों के बावजूद भारत के लोग एक हैं और वे ही सम्पूर्ण अधिकार के अन्तिम स्रोत हैं।
- यह उस प्रजातांत्रिक आदर्श का वर्णन करती हैं, जो प्रत्येक नागरिक को उसके व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति के साधन के रूप में व्यक्ति की गरिमा और अन्य वांछित मानवीय मूल्यों का आश्वासन देता है। विधायिका, कार्यपालिका और न्यायपालिका को अपनी-अपनी शक्तियाँ प्रदान करते हुए भी जनता ने कुछ मूल अधिकार अपने लिये सुरक्षित रखे हैं।
- सबके लिये समान अधिकार और अवसरों की समानता में विश्वास करने वाले समाज के चार मूल सिद्धान्तों अथवा चार स्तम्भों-न्याय, स्वतन्त्रता, समानता और भ्रातृत्व भाव-पर प्रस्तावना में स्पष्ट रूप

से जोर दिया गया है। यद्यपि वे अतिरिक्त महत्त्वकांक्षी अथवा बड़े बोल प्रतीत हो सकते हैं, फिर भी वे उन लक्ष्यों के रूप में कार्य करते हैं जिनकी राष्ट्र को आकांक्षा करनी चाहिये और जिन्हें प्राप्त करने के लिये उसे प्रयास करना चाहिये।

- प्रस्तावना में प्रयुक्त शब्द 'भ्रातृत्व भाव' केवल मात्र बड़बोलापन नहीं है। यह (a) व्यक्ति की गरिमा और (b) राष्ट्र की एकता और अखण्डता को सुनिश्चित करने का एक साधन है। इसकी दोहरी व्यवहार्यता (application) है-(a) पिछड़े वर्गों और (b) धार्मिक अल्प संख्यकों के सन्दर्भ में। सभी नागरिकों को बिना किसी भेदभाव के गारण्टी दिये हुए मूल अधिकार और सामाजिक और आर्थिक समानता को प्राप्त करने की ओर निर्देशित नीति-निर्देशक तत्त्व भी भ्रातृत्वभाव को बढ़ावा देने के लिये बनाये गये हैं।
- प्रस्तावना एक न्यायपूर्ण समाज की स्थापना की अत्यन्त महत्त्वपूर्ण आवश्यकता का भी आग्रह करती है, जहाँ जाति, धर्म, रंग अथवा लिंग के आधार पर किसी भी नागरिक के साथ किसी भी प्रकार का भेदभाव न हो।
- व्यक्ति की गरिमा की रक्षा के लिये हमें राष्ट्र का निर्माण करने और उसकी एकता और अखण्डता की रक्षा करने की आवश्यकता है। राष्ट्र की एकता और अखण्डता के बिना हम आर्थिक विकास के अपने प्रयासों में सफल नहीं हो सकते और प्रजातंत्र अथवा देश की स्वतन्त्रता और देशवासियों के सम्मान को सुरक्षित रखने की आशा नहीं कर सकते।
- प्रस्तावना में प्रयुक्त शब्द भारत के संविधान के सार, दर्शन अथवा आत्मा का प्रतिनिधित्व करते हैं। संविधान के दूसरे भाग और प्रावधान संविधान के शब्दों के केवल विस्तार मात्र अथवा उनको ठोस आकार, सन्दर्भ और अर्थ देने के प्रयास मात्र हैं।

6.3.2 मूल अधिकार-हमारे संविधान द्वारा गारण्टी दिये गये मूल अधिकारों में UDHR में दिये गये प्रावधानों में से अधिकांश का समावेश है। (UDHR के बारे में और अधिक विस्तार से आप दूसरे पत्र में पढ़ेंगे।) इन अधिकारों को दो वर्गों में बांटा गया है-Justiciable Rights vkSj Non-Justiciable Rights- Justiciable Rights के अन्तर्गत संविधान के भाग III में दिये गये नागरिक और राजनैतिक अधिकार आते हैं जबकि Non-justifiable Rights, जिनमें सामाजिक-आर्थिक अधिकार शामिल हैं, संविधान के भाग-IV में दिये गये हैं। भाग-IV के प्रावधान भाग-III की महत्त्वाकांक्षाओं की वास्तविक सिद्धि को सम्भव बनाते हैं और उन्हें पूर्ण अर्थ प्रदान करते हैं। संविधान के भाग-III के सम्बन्ध में न्यायाधिपति भगवती ने (राज्य द्वारा मूल अधिकारों पर 'प्रतिबन्ध' से संबंधित एक मामले में) टिप्पणी करते हुए कहा कि मूल अधिकार इस देश के लोगों के द्वारा वैदिक काल से संरक्षित आधारभूत मूल्यों का प्रतिनिधित्व करते हैं और वे व्यक्ति की गरिमा की रक्षा करने और ऐसी स्थितियों का, जिनमें प्रत्येक मानव अपने व्यक्तित्व का पूर्णतम विकास कर सके, निर्माण करने के लिये बनाये गये हैं। दूसरे शब्दों में संविधान के भाग-III को यदि सही अर्थों में, उसकी भावना के अनुरूप लागू किया जाता है तो यह लगभग मानवाधिकारों के एक घोषणा-पत्र के समान होगा। भाग-IIIमें 12 से 35 अनुच्छेद हैं, और इन मानवाधिकारों को बहुमत वाली पार्टी की तानाशाही से बचाने के लिये एक उच्चतर आधार पर रखा गया है। मूल अधिकार भारतीयों को एक सम्पूर्ण प्रभुत्व सम्पन्न राष्ट्र के स्वतन्त्र और समान नागरिक बनाते हैं। इसका निहितार्थ यह है कि राष्ट्रीय समुदाय का प्रत्येक सदस्य सब तरह से समान है। ये अधिकार लोगों के बीच और जनता और राज्य के बीच सम्बन्ध को परिभाषित करते हैं। आइये, हम इस बात पर विस्तार से चर्चा करें।

मूल अधिकारों का एक विशेष स्तर है। वे कर्त्तव्यों और जिम्मेदारियों का एक पैमाना प्रस्तुत करते हैं, जिन्हें एक आधुनिक राज्य को अपने नागरिकों के प्रति निभाना है। यदि राज्य अपने नागरिकों में से किसी के प्रति भी इन कर्त्तव्यों को सुनिश्चित करने में असफल रहता है तो वह नागरिक न्यायालयों में अपील कर सकता है और वे (न्यायालय) सरकार को अधिकारों की पुनर्स्थापना करने का निर्देश दे सकते हैं। इस अर्थ में मूल अधिकार 'न्याय पाने योग्य' (Justiciable) हैं और इस अर्थ में वे राज्य की नीति के नीति-निर्देशक तत्त्वों से भिन्न हैं।

अनुच्छेद 13 स्पष्ट रूप से इस बात को स्थापित करता है कि मूल अधिकारों का मन्तव्य राज्य द्वारा व्यक्ति के प्राकृतिक (जन्मजात, Inherent) अधिकारों और स्वतन्त्रताओं के मनमाने तौर पर उल्लंघन से रक्षा करना है। अनुच्छेद की धारा 2 के अनुसार, ''राज्य ऐसा कोई भी कानून नहीं बनायेगा जो संविधान के इस भाग द्वारा प्रदत्त अधिकारों को वापस ले लेता है अथवा उनको संक्षिप्त कर देता है और इस धारा के प्रतिकूल बनाया गया कोई भी कानून उस सीमा तक शून्य होगा, जिस सीमा तक कि वह कानून इस धारा को भंग करता है।'' 12 से 35 अनुच्छेदों को 6 समूहों में वर्गीकृत किया गया है-

a. समानता का अधिकार (अनुच्छेद 14 से 18)

b. स्वतन्त्रता का अधिकार (अनुच्छेद 19 से 22)

c. शोषण के विरुद्ध अधिकार (अनुच्छेद 23 से 24)

d. धर्म की स्वन्त्रता का अधिकार (अनुच्छेद 25 से 28)

e. सांवैधानिक उपचारों का अधिकार (अनुच्छेद 32 से 35)

6.3.2.1 समानता का अधिकार-समानता के अधिकार में दो महत्त्वपूर्ण तत्त्व हैं-(i) यह समस्त मानवप्राणियों की समानता के आदर्श से सहमत हैं और (ii) यह इस बात को भी स्वीकार करता है कि कुछ दशाएँ, जैसे कि व्यक्ति की जाति, वास्तविक जीवन में समानता को प्रतिबंधित करती हैं। प्रस्तावना यह घोषणा करती है कि 'स्तर (Status) और अवसर की समानता' प्रत्येक नागरिक को प्रदान की जायेगी। इसका निहितार्थ यह है कि समानता केवल मात्र औपचारिक नहीं होनी चाहिये बल्कि इसको सार्थक बनाने के लिये राज्य द्वारा पर्याप्त और सकारात्मक कदम उठाये जाने चाहिये। इस प्रकार अनुच्छेद 14 प्रत्येक नागरिक से 'कानून के समक्ष समानता अथवा कानून की समान सुरक्षा' का वायदा करता है। अनुच्छेद-15 इस बात का आश्वासन देता है कि 'राज्य किसी भी नागरिक के विरुद्ध केवल मात्र धर्म, जाति (Race), जाति (Caste), लिंग और जन्म के आधार पर भेदभाव नहीं करेगा' और अनुच्छेद 16 'सार्वजनिक रोजगार में अवसर की समानता' की गारण्टी देता है। ये अनुच्छेद व्यक्तियों के बीच स्तर की समानता को सुनिश्चित करते हैं। वे जाति (Caste), लिंग, धर्म इत्यादि की परिस्थितियों के कारण हुई असमानता को भी मिटाते हैं। अनुच्छेद 15 (3) राज्य के लिये महिलाओं और बच्चों के लिये विशेष प्रावधान प्रदान करने का विवेकाधीन अधिकार (discreetion) सुरक्षित रखता है। धारा 4 राज्य को नागरिकों के सामाजिक और शैक्षिक दृष्टि से पिछड़े हुए वर्गों अर्थात् अनुसूचित जातियों और अनुसूचित जनजातियों के लिये विशेष प्रावधान करने के लिये अधिकृत करता है। अनुच्छेद 17 'अस्पृश्यता' को समाप्त करता है और किसी भी रूप में इसके व्यवहार का निषेध करता है। अस्पृश्यता (अपराध) कानून 1955 और इसका बाद का रूप 'Protection of Civil Rights Act 1976' संसदीय कानून है जो संविधान के इस सिद्धान्त को प्रभावी बनाते हैं।

6.3.2.2 स्वतन्त्रता का अधिकार-स्वतन्त्रता के अधिकार में 6 मूल स्वतन्त्रताएँ शामिल हैं-

(a) भाषण और अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता।

(b) शान्तिपूर्वक और बिना हथियारों के एकत्र होने की स्वतन्त्रता।

(c) संगठन (Association) और संघ बनाने की स्वतन्त्रता।

(d) भारत के सम्पूर्ण अधिकार क्षेत्र में स्वतन्त्रतापूर्वक घूमने-फिरने की स्वतन्त्रता।

(e) भारत के अधिकार क्षेत्र में किसी भी भाग में निवास करने और बसने की स्वतन्त्रता।

(f) कोई भी व्यवसाय करने की स्वतन्त्रता, अथवा कोई भी धन्धा, व्यापार अथवा काम करने की स्वतन्त्रता।

इतना होने पर भी राज्य को 'भारत की सम्प्रभुता और अखण्डता', 'राज्य की सुरक्षा', 'सार्वजनिक व्यवस्था (Public Order)' और 'जनता के सामान्य हित में' इन स्वतन्त्रताओं को 'उचित प्रतिबन्धों' के अध्यधीन करने का अधिकार दिया गया है।

अनुच्छेद 20, 21 और 22 नागरिकों को क्रमशः 'अपराधों के लिये किसी को दोषी घोषित करने के बारे में सुरक्षा', 'जीवन और व्यक्तिगत स्वतन्त्रता की सुरक्षा' और 'कुछ मामलों में गिरफ्तारी और हिरासत में रखने के विरुद्ध सुरक्षा' प्रदान करते हैं। अनुच्छेद 22 में कुछ 'सुरक्षाओं' अथवा गिरफ्तार किये गये अथवा हिरासत में रखे गये व्यक्तियों के अधिकारों का प्रावधान है। इन सुरक्षाओं में गिरफ्तारी के आधारों से सूचित किये जाने का अधिकार, किसी वकील से परामर्श करने और उसके द्वारा पैरवी किये जाने का अधिकार, और 24 घंटे के भीतर मैजिस्ट्रेट के सामने पेश किये जाने का अधिकार शामिल है। ये अधिकार किसी 'बाहरी शत्रु (enemy alien)' और उन व्यक्तियों को प्राप्त नहीं है, जिन्हें Preventive Detention Act के अन्तर्गत गिरफ्तार किया गया है अथवा हिरासत में रखा गया है। इतना होने पर भी कुछ विशेष कानूनों, जैसे ज।क। और च्ज्ञ का प्रयोग राजनैतिक विरोध को कुचलने और इन कानूनों में वर्णित उद्देश्यों के अलावा अन्य उद्देश्यों के लिये भी किया गया है।

6.3.2.3 शोषण के विरुद्ध अधिकार-अनुच्छेद 23 और 24 शोषण के विरुद्ध अधिकार हैं और मानव प्राणियों के 'अवैध और अनैतिक व्यापार' और 'बलात् श्रम' के विरुद्ध महत्त्वपूर्ण गारण्टियों को सुनिश्चित करते हैं। गुलामी और सेवा के अन्य रूपों, जैसे-'बेगार' और 'बन्धुआ श्रम' ने पीढ़ियों से दासता में जकड़े हुए सम्पूर्ण समुदायों अथवा लोगों के समूहों की गरिमा को ठेस पहुंचाई है। ये अनुच्छेद ऐसी प्रथाओं के अन्तर्गत शोषण के विरुद्ध गारण्टियां हैं। अनुच्छेद-23 14 वर्ष से कम आयु के बच्चों को कारखानों, खानों और दूसरे खतरनाक कार्यस्थलों पर नियुक्ति से रक्षा करता है।

6.3.2.4 धर्म और अल्पसंख्यकों के अधिकारों की स्वतन्त्रता का अधिकार-अनुच्छेद 25 से 30 धर्म और अल्पसंख्यकों के अधिकारों की स्वतन्त्रता के अधिकार सेसंबंधित है। वे चेतना की स्वतन्त्रता, और धार्मिक समुदायों के धार्मिक संस्थाएँ स्थापित करने और उन्हें बनाये रखने की स्वतन्त्रता और 'धर्म के मामलों में अपने मामलों की व्यवस्था स्वयं करने की स्वतन्त्रता', 'सम्पत्ति को प्राप्त करने और किसी को औपचारिक रूप से देने की स्वतन्त्रता','धार्मिक शिक्षा प्रदान' और 'अपनी भाषा, लिपि, संस्कृति को सुरक्षित रखने की स्वतन्त्रता' इत्यादि को सुनिश्चित करते हैं। अधिकारों के इस समूह का संबंध स्पष्ट रूप से धार्मिक और सांस्कृतिक समुदायों और अल्पसंख्यक समूहों से है। यह धार्मिक समुदायों को

नागरिक मामलों, जैसे कि विवाह, तलाक, सम्पत्ति, संरक्षण (Custody) और उत्तराधिकार इत्यादि को अपने स्वयं के Personal Laws के द्वारा नियंत्रित करने का आधार भी प्रदान करता है।

6.3.2.5 सांवैधानिक उपचारों का अधिकार-अनुच्छेद 32-35 नागरिक को सर्वोच्च न्यायालय तक जाने का अधिकार देते हैं। वे संसद को सशस्त्र सेनाओं (अनुच्छेद 33) अथवा उन बलों, जिन्हें कानून और व्यवस्था बनाये रखने, Intelligence इत्यादि की जिम्मेदारी सौंपी गई है, पर लागू किये जाने वाले मूल अधिकारों में उनके कर्त्तव्य पालन के हित में और अनुशासन बनाये रखने के लिये, संशोधन करने की शक्ति भी प्रदान करते हैं।

अनुच्छेद 34 के अन्तर्गत सैनिक शासन के दौरान, कानून और व्यवस्था बनाये रखने के लिये मूल अधिकारों के प्रतिकूल किये गये किसी काम के लिये किसी भी व्यक्ति को कानून द्वारा क्षतिपूति भी दे सकती है।अधिकार, सार्थक (Meaningful) हों, इसके लिये लागू किये जा सकने योग्य होने चाहिये और उनके उल्लंघन की स्थिति में उन्हें उपचारों का समर्थन प्राप्त होना चाहिये। हमारा संविधान न केवल कुछ मूल अधिकारों की गारण्टी देता है, बल्कि अनुच्छेद 32 के अन्तर्गत मूल अधिकारों को लागू करवाने के लिये उचित कार्यवाही के द्वारा सीधे देश के सबसे ऊँचे न्यायालय (सर्वोच्च न्यायालय) तक जाने के अधिकार की गारण्टी भी देता है। इन शक्तियों को कार्य में लेने के लिये संसद किसी भी दूसरे न्यायालय को भी अधिकार प्रदान कर सकती है। अनुच्छेद 32 द्वारा गारण्टी दिये गये अधिकार को संविधान में दिये गये प्रावधान के अतिरिक्त अस्थाई रूप से रोका नहीं जा सकता।

अन्तर्राष्ट्रीय मानवाधिकारों की परम्परा में भारतीय संविधान, सब 'व्यक्तियों' को, बिना इस बात का विचार किये कि वे भारतीय हैं अथवा नहीं, कुछ मूल अधिकारों की गारण्टी देता है। येअधिकार कानून के समक्ष समानता और सब कानूनों के समान संरक्षण (अनुच्छेद 14), जीवन और स्वतन्त्रता की सुरक्षा (अनुच्छेद 21), कुछ मामलों में गिरफ्तारी और हिरासत में रखे जाने के विरुद्ध संरक्षण (22), धर्म की स्वतन्त्रता (अनुच्छेद 25-28) इत्यादिसे सम्बन्ध रख्तो हैं। इतना होने पर भी, कुछ अधिकार, जैसे कि धर्म, जाति (Race), जाति (Caste), लिंग अथवा जन्म-स्थान केदआधार पर भेदभाव से संरक्षण (अनुच्छेद 15), सार्वजनिक पदों पर नियुक्ति के मामले में अवसर की समानता (अनुच्छेद 16), और भाषण और अभिव्यक्ति, मिलने-जुलने और संगठन, घूमने-फिरने, निवास और व्यवसाय का अधिकार (अनुच्छेद 19) से संबंधित अधिकारों पर केवल देश के नागरिकों द्वारा ही दावा किया जा सकता है।

भारतीय संविधान ने इस प्रकार समानता को सामाजिक न्याय से जोड़ने का प्रयास किया। सामाजिक और धार्मिक समुदायों को संस्कृति की दृष्टि से भिन्न होने का अधिकार दिाय गया। जातियों (Castes) और समुदायों की भूतकाल में किये गये भेदभाव के लिये क्षतिपूर्ति की गई और उन्हें समान नागरिकों के रूप में मुख्य धारा में लाया गया। परिस्थितिजन्य असमर्थताओं (Diasbilities) पर विजय प्राप्त करने में उनकी सहायता करने के लिये विशेष प्रावधान किये गये। इस बात को सुनिश्चित किया जाना था कि अनुसूचित जातियों/दलितों जैसे समुदाय, जो कि विगत में सामाजिक भेदभाव के शिकार रहे थे, अपनी असमर्थताओं पर विजय प्राप्त करने में समर्थ हो सकें और मुख्य धारा में शामिल हो सकें।

मूल अधिकारों के ऐतिहासिक विकास ने इन अधिकारों के समर्थकों को मुख्य रूप से व्यक्तियों के द्वारा इन अधिकारों के उल्लंघन के प्रति नहीं, बल्कि सरकार के द्वारा उन अधिकारें के उल्लंघन के प्रति चिन्तित किया। परिणामस्वरूप मूल अधिकार केवल सरकार के द्वारा ही लागू किये जाने योग्य हैं, यद्यपि वास्तविकता में उनका उल्लंघन व्यक्तियों द्वारा भी किया जा सकता है। नागरिकों के अधिकारों

की रक्षा करने के लिये कुछ उपाय हैं, जिनका पालन भारत में भी किया जाता है। ये उपाय इस प्रकार हैं-(a) संविधान में इन अधिकारों का स्पष्ट शब्दों में एक-एक करके वर्णन, (b) संविधान के संशोधन को लेकर कठोरता, और (c) विधायिका और कार्यपालिका के कार्यों की न्यायिक पुनर्व्याख्या (त्मअपमू) का प्रावधान।

संविधान के भाग-III का उद्देश्य जाति (Caste) और वर्ग (Class) के बन्धन से मुक्ति प्रदान करना, जाति (Caste), लिंग और धर्म का विचार किये बिना सबके लिये समानता प्रदान करना और सामाजिक न्याय प्रदान करना है। यह उस वायदे को मूर्त आकार प्रदान करता है, जो नागरिक इसकी प्रस्तावना में करते हैं; जैसे कि स्वतन्त्रता, समानता, न्याय और गरिमा के जीवन का आश्वासन देना और उसे सुनिश्चित करना।

6.3.3 राज्य की नीति के नीति-निर्देशक तत्त्व-संविधान के भाग-IV में प्रस्तुत किये गये नीति-निर्देशक तत्त्व हमारे संविधान की एक अद्वितीय विशेषता है। आयरिश संविधान के पूर्ववर्ती उदाहरण के अतिरिक्त इन सिद्धान्तों की मूल प्रेरणा एक कल्याणकारी राज्य (Welfare State) की अवधारणा से प्राप्त हुई। व्यक्तियों के मूल अधिकारों की सुरक्षा का प्रयत्न करने के साथ-साथ संविधान निर्माता यह भी चाहते थे कि हमारा संविधान सामाजिक क्रान्ति का एक प्रभावी उपकरण बने। अनुच्छेद 37 यह घोषणा करता है कि नीति-निर्देशक तत्त्व ''देश के प्रशासन में मूलभूत हैं'' और यह कि ''यह राज्य का कर्त्तव्य होगा कि कानून बनाते समय वह इन सिद्धान्तों को व्यवहार में लाये।'' इस प्रकार यह स्पष्ट है कि ये सांवैधानिक निर्देशक तत्त्व केवलमात्र नैतिक उपदेश देने के लिये नहीं बनाये गये थे, बल्कि इसलिये बनाये गये थे कि उन्हें एक सकारात्मक आदेश और संविधान के मानवाधिकारों के प्रावधानों के अभिन्न अंग के रूप में देखा जाये।

नीति-निर्देशक तत्त्व अन्तिम रूप से मूल अधिकारों की सिद्धि (प्राप्ति) में सहायता करने के लिये बनाये गये हैं। सामाजिक, राजनैतिक और आर्थिक न्याय पर आधारित कुछ नीति-निर्देशक तत्त्व कानून बनाते और उन्हें लागू करते समय विधायिका और कार्यपालिका की मदद के लिये बनाये गये हैं। यद्यपि इन सिद्धान्तों को किसी न्यायालय में चुनौती नहीं दी जा सकती, फिर भी वे देश के शासन में आधारभूत बनने के लिये बनाये गये हैं और राज्य का यह कर्त्तव्य है कि वह जनता की सामान्य भलाई के लिये कानून बनाते समय इन सिद्धान्तों को व्यवहार में लाये।

36 से 51 तक के अनुच्छेदों में नीति-निर्देशक तत्त्व शामिल हैं। अनुच्छेद 38 राज्य को एक ऐसी सामाजिक व्यवस्था को सुनिश्चत करके, जिसमें सामाजिक, आर्थिक और राजनैतिक न्याय राष्ट्रीय जीवन की समस्त संस्थाओं में व्याप्त हो, और न केवल व्यक्तियों, बल्कि व्यक्तियों के समूहों के बीच भी आय, स्तर (Status), सुविधाओं और अवसरों की असमानताओं को न्यूनतम करने के लिये जनता की भलाई करने का प्रयत्न करने का आदेश देता है। सर्वोच्च न्यायालय ने यह निर्णय दिया है कि जनता की भलाई और सामाजिक न्याय को बढ़ावा देने के लिये न्यायालयों को अनुच्छेद 38 के प्रति सम्मान की भावना रखनी चाहिये। रतलाम नगरपालिका के विरुद्ध वरदीचन्द के मामले (A. 1980 S.C. 1622) में, जहाँ नगरपालिका गरीबों की बस्तियों (Slums) की नालियों में से गन्दगी को दूर करने में असफल हो गई है, सर्वोच्च न्यायालय ने निर्देश दिया कि न्यायालयों को, नगरपालिका के वित्तीय संसाधनों का विचार किये बिना, इस सार्वजनिक परेशानी को एक निर्धारित समय के भीतर दूर करने का निर्देश देते हुए ब्तण च्ण्ब्ण के ैण 133 के अन्तर्गत एक सकारात्मक और बाध्यकारी आदेश देना चाहिये।

अनुच्छेद 39 राज्य को अन्य बातों के साथ नागरिकों को आजीविका के पर्याप्त साधन उपलब्ध करने के अधिकार का निर्देश देता है। यह राज्य को यह सुनिश्चित करने का भी निर्देश देता है कि समुदाय के भौतिक संसाधनों के स्वामित्व और नियन्त्रण का बटवारा इस तरह से किया जाये, जिससे सामान्य जनता को अधिकतम लाभ पहुंचे और यह, कि आर्थिक प्रणाली के संचालन का परिणाम यह न निकले कि धन और उत्पादन के साधन कुछ ही हाथों में सीमित हो जायें, जिससे सामान्य हितों को नुकसान पहुंचे; और यह कि बच्चों को स्वस्थ तरीके से और स्वतन्त्रता और गरिमा की स्थितियों में विकास करने की सुविधाएँ और अवसर दिये जायें और बचपन और युवावस्था को शोषण और नैतिक और भौतिक परित्याग से बचाया जाये। अनुच्छेद 39।यह प्रावधान करता है कि राज्य यह सुनिश्चित करेगा कि कानूनी प्रणाली का संचालन (Operation) समान अवसर के आधार पर न्याय को बढ़ावा दे और विशेष रूप से उपयुक्त विधान अथवा योजनाओं अथवा अन्य किसी भी तरीके से नि:शुल्क कानूनी सहायता प्रदान करेगा और यह सुनिश्चित करेगा कि आर्थिक अथवा अन्य किसी प्रकार की असमर्थता के कारण किसी भी नागरिक को न्याय प्राप्त करने के अवसरों से वंचित न होना पड़े। अनुच्छेद-41 काम के अधिकार को प्राप्त करने के प्रावधान पर विचार करता है। अनुच्छेद 42 काम की न्यायपूर्ण और मानवीय, अच्छी स्थितियों और मातृत्व राहत को प्राप्त करने के प्रावधान पर विचार करता है। अनुच्छेद-45 राज्य को 10 वर्षों की समयावधि के भीतर 14 वर्ष से कम आयु के बच्चों के लिये नि:शुल्क और अनिवार्य शिक्षा प्रदान करने का प्रयास करने का निर्देश देता है। अनुच्छेद 46 जनता के कमजोर वर्गों और विशेषकर अनुसूचित जातियों और जनजातियों के शैक्षिक और आर्थिक हितों को, विशेष ध्यान देकर, बढ़ावा देने का प्रावधान करता है। यह अनुच्छेद राज्य को उन्हें अन्याय और हर प्रकार के शोषण से रक्षा करने का भी निर्देश देता है। अनुच्छेद-47 जनता के रहन-सहन के स्तर और पोषण के स्तर को ऊँचा उठाने और सार्वजनिक स्वास्थ्य को सुधारने की भी मांग करता है।

नीति-निर्देशक तत्त्व भावी सरकारों को समानता और सामाजिक न्याय की स्थितियाँ उत्पन्न करने के लिए स्मरण पत्र का काम करते हैं। सब बातों पर विचार करते हुए, दृष्टि से वे सामाजिक कल्याणकारी अधिकारों की श्रृंखला प्रदान करने में राज्य की एक सक्रिय भूमिका की कल्पना करते हैं। इनमें आजीविका के पर्याप्त साधनों तक पहुंच, समान कार्य के लिये समान वेतन, कामगारों का स्वास्थ्य और उनकी शक्ति, कामगारों के लिये उचित मजदूरी, काम की न्यायपूर्ण और दयालुतापूर्ण स्थितियां, काम, शिक्षा, सार्वजनिक सहायता, समान न्याय और नि:शुल्क कानूनी सहायता, पर्याप्त पोषण और स्वास्थ्य का अधिकार शामिल हैं।

मूल अधिकारों के समान, नीति-निर्देशक तत्त्व भी समुदाय और व्यक्ति, दोनों के प्रति वचनबद्धता दिखाते हैं। उदाहरण के लिये अनुच्छेद 38 राज्य को, एक ऐसी सामाजिक व्यवस्था स्थापित करके, जिसमें ''सामाजिक, आर्थिक और राजनैतिक न्याय'' राष्ट्रीय जीवन की समस्त संस्थाओं के लिये आधार होगा, ''जनता के कल्याण को बढ़ावा देने के लिये'' अपने आपको वचनबद्ध करने का निर्देश देता है। इस उद्देश्य को प्राप्त करने के लिये राज्य से ''आय की असमानताओं को न्यूनतम करने का प्रयास करने'' और ''स्तर (Status), सुविधाओं और अवसरों की असामनताओं को दूर करने'' के लिये कहता है। न्याय और समानता को प्राप्त किये जाने की आवश्यकता ''न केवल व्यक्तियों के बीच, बल्कि भिन्न-भिन्न क्षेत्रों में निवास करने वाले अथवा भिन्न-भिन्न व्यवसायों में लगे हुए व्यक्तियों के समूहों के बीच'' भी पड़ती है। इसी प्रकार अनुच्छेद 46 राज्य से ''विशेष ध्यान देकर समाज के कमजोर वर्गों और विशेष रूप से अनुसूचित जातियों और अनुसूचित जनजातियों के शैक्षिक और आर्थिक हितों को बढ़ावा देने'' और ''उन्हें सामाजिक अन्यायों और हर प्रकार के शोषण से बचाने'' की मांग करता है।

सर्वोच्च न्यायालय ने, बड़ी संख्या में अपने फैसले में नीति-निर्देशक तत्त्वों के महत्त्व का जिक्र किया है। उसने इन तत्त्वों को संविधान की चेतना (आत्मा) और संविधान का सबसे महत्त्वपूर्ण भाग बताया है। ये तत्त्व संविधान के भाग-III के द्वारा प्राप्त किये जाने वाले लक्ष्य हैं। वे असमानताओं और असर्थताओं को दूर करने के लिये और समाज के सदस्यों के बीच धन के उचित वितरण को प्राप्त करने के लिये 'वितरणात्मक न्याय' को सुनिश्चित करने के लिये बनाये गये हैं।

सर्वोच्च न्यायालय ने यह माना है कि न्यायालय मूल अधिकारों की व्याख्या के लिये नीति-निर्देशक तत्त्वों का सहारा ले सकते हैं। न्यायालय उस व्याख्या को अपनायेंगे जो मूल अधिकारों को अर्थपूर्ण और प्रभाव पैदा करने वाले बनाते हैं। न्यायालयों को इस बात को स्मरण रखते हुए, कि नीति-निर्देशक तत्त्वों को संविधान निर्माताओं द्वारा Non-enforceable छोड़ दिये जाने का कारण सरकार को उनको लागू करने के लिये पर्याप्त स्वतन्त्रता प्रदान करना था, मूलअधिकारों का नीति-निर्देशक तत्त्वों से सामंजस्य स्थापित करने का हर प्रयत्न करना है।

नीति-निर्देशक तत्त्व संविधान का एक संचालनात्मक भाग और उस पर भी, एक महत्त्वपूर्ण भाग निर्मित करते हैं, क्योंकि उनके माध्यम से संविधान उसकी प्रस्तावना में दिये हुए एक प्रजातांत्रिक कल्याणकारी राज्य के आदर्श को प्राप्त करने का और वह सामाजिक और आर्थिक क्रान्ति लाने का प्रयास करता है, जिसका हमारे गणतन्त्र के संस्थापकों ने सपना देखा था। न्यायाधिपति के.एस. हेगड़े के शब्दों में-''मूल अधिकारों का उद्देश्य एक समान अधिकारों और समान अवसरों वाले समाज का निर्माण करना, समाज के द्वारा दूसरों पर बल प्रयोग अथवा प्रतिबन्ध से सब नागरिकों को मुक्त करना, और सबके लिये स्वतन्त्रता, मुक्ति उपलब्ध करवाना है। नीति-निर्देशक तत्त्वों का उद्देश्य एक अहिंसक सामाजिक क्रान्ति लाकर तत्काल लक्ष्य प्राप्ति के लिये कुछ सामाजिक और आर्थिक लक्ष्य निर्धारित करना है। ऐसी सामाजिक क्रान्ति के माध्यम से संविधान सामान्य जन की मूल आवश्यकताओं को पूरा करने का और हमारे समाज के ढ़ांचे को बदलने का प्रयास करता है। इसका उद्देश्य सकारात्मक अर्थ में भारतीय जनता को मुक्त कराना है।

यह स्मरण रखा जना चाहिये कि प्रस्तावना, मूल अधिकार और नीति-निर्देशक तत्त्व एक ही सांवैधानिकता की विशाल ईमारत के अभिन्न अंग हैं। वे सब समान रूप से महत्त्वपूर्ण हैं और उन्हें एक-दूसरे के साथ पढ़ा जाना चाहिये।

7. संयुक्त राष्ट्र और मानव अधिकारों की रक्षा

संयुक्त राष्ट्र के माध्यम से मानवाधिकारों की रक्षा के उद्देश्य की पूर्ति व्यक्ति की गरिमा और खुशहाली की युगों पुरानी चिन्ता की आधुनिक अभिव्यक्ति है। संयुक्त राष्ट्र की इस मुद्दे में भागीदारी अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग को, एक ऐसे विश्व की, जो कि परस्पर निर्भर है, सामान्य समस्याओं से निबटने के एक उपाय के रूप में देखने की बढ़ती हुई प्रवृत्ति को प्रतिबिम्बित करती है।

संयुक्त राष्ट्र के न्यूयॉर्क स्थित मुख्य अंग सुरक्षा परिषद, साधारण सभा और सचिवालय, जिसका सभापतित्व संयुक्त राष्ट्र के मुख्य सचिव के द्वारा किया जाता है, हैं। दो अन्य मुख्य अंग, जो कि संयुक्त राष्ट्र के 1945 के घोषणा-पत्र की सूची में दिये गये हैं, आर्थिक और सामाजिक परिषद और अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय (हेग) हैं। इनके अतिरिक्त संयुक्त राष्ट्र की अनेक विशिष्ट एजेन्सियां हैं, जिनकी अपनी परिषदें, सभाएँ, सचिवालय और बजट हैं। मुख्य संस्थाएँ (agencies) जेनेवा स्थित अन्तर्राष्ट्रीय श्रम संगठन, रोम स्थित संयुक्त राष्ट्र खाद्य एवं कृषि संगठन, पेरिस स्थित संयुक्त राष्ट्र शैक्षिक, वैज्ञानिक

एवं सांस्कृतिक संगठन, जेनेवा स्थित विश्व स्वास्थ्य संगठन, वाशिंगटन D.C. स्थित विश्व बैंक और जेनेवा स्थित विश्व बौद्धिक सम्पदा संगठन (WIPO) हैं। संयुक्त राष्ट्र की ये सब विशिष्ट एजेन्सियाँ संयुक्त राष्ट्र से अलग अपनी स्वतंत्र अन्तर्राष्ट्रीय वैधानिक पहचान रखने वाली एजेन्सियों के रूप में जानी जाती हैं। वे स्वतंत्र वैधानिक संस्थाएँ हैं, जिनके अपने वैधानिक अधिकार और कर्त्तव्य हैं और वे अन्तर्राष्ट्रीय कानून के अन्तर्गत आती हैं।

संयुक्त राष्ट्र के कुछ और अधीनस्थ अंग हैं, जिनकी स्थापना संयुक्त राष्ट्र के घोषणा-पत्र की धारा 22 के अन्तर्गत की गई थी। यद्यपि ये पृथक् से अन्तर्राष्ट्रीय संगठन नहीं हैं, फिर भी वे काफी अंशों में अपनी स्वायत्तता रखते हैं। ये अंग इस प्रकार हैं-न्यूयॉर्क स्थित संयुक्त राष्ट्र विकास कार्यक्रम (UNDP); न्यूयॉर्क स्थित संयुक्त राष्ट्र बच्चों के लिए कोष (UNICEF), जेनेवा स्थित शरणार्थियों के लिए संयुक्त राष्ट्र उच्चायुक्त (UNHCR); नैरौबी स्थित संयुक्त राष्ट्र पर्यावरण कार्यक्रम (UNEP) और जेनेवा स्थित मानवाधिकारों के लिये संयुक्त राष्ट्र उच्चायुक्त।

संयुक्त राष्ट्र के घोषणा-पत्र की धारा-68 का अनुपालन करते हुए ECOSOCने वर्ष 1946 में मानवाधिकार आयोग जैसी कुछ अधीनस्थ इकाइयों की स्थापना की है। सुरक्षा परिषद ने भी संयुक्त राष्ट्र के घोषणा-पत्र की धारा 29 के अन्तर्गत अधीनस्थ इकाइयों की स्थापना की है। इनमें तथ्यों का अनुशीलन करने वाली इकाइयां शामिल हैं। ये वे समितियाँ हैं, जो यह देखती हैं कि वे आर्थिक स्वीकृतियां, जिनका आदेश परिषद के द्वारा और अन्तर्राष्ट्रीय आपराधिक न्यायाधिकरण, जो युद्ध सम्बन्धी अपराधों अथवा पूर्व यूगोस्लाविया और रवाण्डा में घटित हुए अन्तर्राष्ट्रीय अपराधों की सुनवाई करता है, के द्वारा दिया गया है, क्रियान्वित हुई है अथवा नहीं। इसके साथ ही सुरक्षा परिषद और साधारण सभा ने दुनिया भर में ढेर सारी निरीक्षण करने वाली, शान्ति बनाये रखने वाली, मानवाधिकार और चुनावों की निगरानी रखने वाली इकाइयों की भी स्थापना की है। उन इकाइयों, जिनकी स्थापना संयुक्त राष्ट्र की संवैधानिक सन्धियों (treaties) और उसकी विशिष्ट एजेन्सियों द्वारा अथवा जिनकी स्थापना इन इकाइयों (bodies) के द्वारा अधीनस्थ अंगों के रूप में की गई है, की इस अपूर्ण सूची के साथ बहुत बड़ी संख्या में वे इकाइयां (bodies) भी हैं, जिनकी स्थापना संयुक्त राष्ट्र द्वारा प्रायोजित सन्धियों (treaties) के अन्तर्गत की गई है। ऐसी विशिष्ट संस्थाओं के कुछ उदाहरण नीचे दिये गये हैं-

- जातिगत भेदभाव को मिटाने के लिए बनाई गई समिति, जिसका गठन 1966 की हर प्रकार के जातिगत भेदभाव के उन्मूलन के लिये आयोजित सम्मेलन (convention) के अन्तर्गत किया गया।
- मानवाधिकार समिति (H.R.C.) जिसका गठन नागरिक एवं राजनैतिक अधिकारों के लिए आयोजित सम्मेलन (convention) के अन्तर्गत किया गया।
- महिलाओं के विरुद्ध भेदभाव के उन्मूलन के लिये बनाई गई समिति, जिसका गठन महिलाओं के विरूद्ध सभी प्रकारों के भेदभाव के उन्मूलन के लिए आयोजित सम्मेलन (convention) की धारा 17 के अन्तर्गत किया गया।
- बालक के अधिकारों के लिये समिति, जिसका गठन बालक के अधिकारों के लिये आयोजित सम्मेलन (convention) की धारा 43 के अन्तर्गत किया गया।
- यातना के विरूद्ध समिति, जिसका गठन यातना एवं अन्य निर्दय, अमानवीय अथवा व्यक्ति की गरिमा के विरूद्ध व्यवहार अथवा दण्ड के विरूद्ध 1984 में आयोजित सम्मेलन (convention) के अन्तर्गत किया गया।

- आर्थिक, सामाजिक और सांस्कृतिक अधिकारों की समिति, जिसकी स्थापना आर्थिक, सामाजिक एवं सांस्कृतिक अधिकारों के लिये आयोजित अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन (convention) में इन अधिकारों की क्रियान्विति को सुनिश्चित करने के लिएECOSOC द्वारा पारित एक प्रस्ताव के अन्तर्गत की गई।

7.1 संयुक्त राष्ट्र घोषणा पत्र एवं मानवाधिकार-इस घोषणा-पत्र में, जिस पर 26 जून, 1945 को हस्ताक्षर किये गये, इस अभी अस्तित्व में आये संघ के लिये तीन मुख्य उद्देश्य निर्धारित किये गये-शान्ति और सुरक्षा को बढ़ावा देकर भावी युद्धों को रोकना; सामाजिक एवं आर्थिक उन्नति को बढ़ावा देना और जाति, लिंग, भाषा अथवा धर्म का विचार किये बिना प्रत्येक मानव प्राणी के अधिकारों एवं स्वतंत्रताओं को परिभाषित करना और उनकी रक्षा करना। आइये, हम संयुक्त राष्ट्र के घोषणा-पत्र की प्रस्तावना और मूलभूतमानवाधिकारों और मूल स्वतंत्रताओं को सुरक्षित बनाने वाली धाराओं का अध्ययन करें।

भूमिका (Preamble)-हम, संयुक्त राष्ट्र के सदस्य, आने वाली पीढ़ियों को युद्ध की विभीषिका, जिसने हमारे जीवन काल में दो बार मानव जाति को अकथनीय दु:ख दिया है, से बचाने और मूलभूत मानवाधिकारों, मानव मात्र की गरिमा और मूल्य, महिलाओं और पुरुषों और छोटे और बड़े सभी राष्ट्रों के समान अधिकारों में पुन: आस्था दृढ़ करने और ऐसी स्थितियों पैदा करने जिनमें अन्तर्राष्ट्रीय कानून व अन्य स्रोतों के अन्तर्गत की गई सन्धियों के कारण उत्पन्न हुए कर्त्तव्यों के प्रति न्याय एवं आदर बनाये रखा जा सके, और सामाजिक उन्नति एवं और अधिक स्वतंत्रता के वातावरण में जीवन-स्तर का विकास करने और उसे बेहतर बनाने के लिए दृढ़ प्रतिज्ञ हैं, और इन उद्देश्यों की पूर्ति के लिये सहिष्णुता का अभ्यास करने और एक-दूसरे के साथ अच्छे पड़ौसियों की भांति शान्ति पूर्वक रहने, और अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति एवं सुरक्षा बनाये रखने, के लिये अपनी शक्ति को संगठित करने, और ऐसे सिद्धान्तों और इस प्रकार की संस्थाओं, कि सामान्य (common) हितों के अतिरिक्त सशस्त्र बल का प्रयोग नहीं किया जायेगा, की स्वीकृति को सुनिश्चित करने, और सभी लोगों के आर्थिक एवं सामाजिक विकास के लिये अन्तर्राष्ट्रीय तन्त्र (machinary) को लगाने के लिए इन उद्देश्यों को प्राप्त करने के लिये अपने प्रयासों को शामिल (combine) करने का संकल्प लिया है।

तदनुसार हमारी सरकारें, सान फ्रांसिस्को शहर में एकत्र प्रतिनिधियों के माध्यम से, जिन्होंने अपनी अच्छे और उचित रूप में पाई जाने वाली सभी शक्तियों को प्रदर्शित किया है, संयुक्त राष्ट्र के घोषणा-पत्र को प्रस्तुत करने के लिये सहमत हो गई हैं और संयुक्त राष्ट्र के रूप में जानी जाने वाली एक अन्तर्राष्ट्रीय संस्था की स्थापना करती हैं।

धारा (Article) 1

संयुक्त राष्ट्र के उद्देश्य निम्नानुसार हैं-

3. आर्थिक, सामाजिक, सांस्कृतिक अथवा मानवतावादी प्रकृति की अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं को हल करने और मानवाधिकारों और जाति, लिंग, भाषा अथवा धर्म के आधार पर किसी भी प्रकार का भेदभाव किये बिना सभी के लिये मूलभूत स्वतंत्रता के लिये अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग प्राप्त करना।

धारा (Article) 13

1. साधारण सभा निम्न उद्देश्यों का अध्ययन करेगी और उनके लिये सिफारिश करेगी-

आर्थिक, सामाजिक, सांस्कृतिक, शैक्षिक और स्वास्थ्य के क्षेत्र में अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग का विकास, और जाति, लिंग, भाषा अथवा धर्म के आधार पर किसी भी प्रकार का भेदभाव किये बिना मानवाधिकारों और सभी के लिये मूलभूत स्वतंत्रता की प्राप्ति।

धारा (Article) 55

सभी राष्ट्रों (peoples) के समान अधिकारों और आत्म-निर्णय के प्रति आदर की भावना पर आधारित स्थायित्व और खुशहाली की ऐसी स्थितियां, जो कि राष्ट्रों के बीच शान्तिपूर्ण एवं मित्रतापूर्ण सम्बन्धों के लिये आवश्यक हैं, उत्पन्न करने के दृष्टिकोण से संयुक्त राष्ट्र विकसित करेगा-

जाति, लिंग, भाषा अथवा धर्म के आधार पर किसी भी प्रकार का भेदभाव किये बिना सबके लिये मूलभूत स्वतंत्रता और मानवाधिकारों के लिये विश्वव्यापी आदर एवं उनका पालन।

धारा (Article) 62

1. **आर्थिक एवं सामाजिक परिषद**-सबके लिये मूलभूत स्वतंत्रता, और मानवाधिकारों के प्रति सम्मान की भावना जागृत करने और उनके पालन के लिये अनुशंसा करेगी।

धारा (Article) 68

आर्थिक एवं सामाजिक परिषद आर्थिक एवं सामाजिक क्षेत्र में, और मानवाधिकारों को बढ़ावा देने के लिये आयोगों की स्थापना करेगी। यह परिषद ऐसे अन्य आयोगों की स्थापना भी करेगी, जिनकी इसके कार्यों को करने के लिये आवश्यकता पड़ सकती है।

धारा (Article) 76

संयुक्त राष्ट्र के उद्देश्य, जो कि वर्तमान घोषणा-पत्र की धारा 1 में वर्णित हैं, के अनुसार (in accordance with) ट्रस्टीशिप प्रणाली के मूल उद्देश्य इस प्रकार होंगे-

जाति, लिंग, भाषा और धर्म का भेदभाव किये बिना सबके लिये मूलभूत स्वतंत्रताओं और मानवाधिकारों के प्रति आदर को प्रोत्साहित करना और संसार के सभी राष्ट्रों की परस्पर निर्भरता की स्वीकृति को प्रोत्साहित करना।

संयुक्त राष्ट्र घोषणा-पत्र मानवाधिकारों एवं मूलभूत स्वतंत्रताओं की प्राप्ति, पालना और क्रियान्विति के लिये समर्पित है। मानवाधिकारों की उपधाराओं (clauses) को संयुक्त राष्ट्र के घोषणा-पत्र में शामिल करने के सबसे महत्त्वपूर्ण परिणामों में से एक परिणाम मानवाधिकारों का अन्तर्राष्ट्रीयकरण करना था। संयुक्त राष्ट्र के घोषणा-पत्र की स्वीकृति (adoption) के बाद संसार के अनेक देशों ने इसी प्रकार के प्रावधानों (provisions) को अपने संविधानों में मानव की गरिमा और मूल्य की रक्षा करने के दृष्टिकोण से शामिल किया। संयुक्त राष्ट्र के सदस्य वैधानिक रूप से घोषणा-पत्र के प्रावधानों के अनुसार कार्य करने के लिये बाध्य हैं। मूलभूत मानवाधिकारों एवं स्वतंत्रताओं का आदर करना और पालन करना उनका कर्त्तव्य है।

7.2 मानवाधिकारों की रक्षा से सम्बन्धित संयुक्त राष्ट्र के निकाय (Bodies)-ECOSOCऔर साधारण सभा को मानवाधिकारों से सम्बन्धित गतिविधियों को संचालित करने की जिम्मेदारी सौंपी गई है।ECOSOC वह सामग्री (Input) प्रदान करती है, जिस पर साधारण सभा कार्य करती है। फिर भी, व्यावहारिक रूप से मानवाधिकार तंत्र में मुख्य उपकरण (Cogs) मानवाधिकार आयोग (CHR) एवं

उसके सहायक अंग और मानवाधिकारों की रक्षा और बढ़ावे के लिये गठित उप-आयोग हैं। साथ ही मानवाधिकार समिति, जिसका गठन नागरिक एवं राजनैतिक अधिकारों पर आयोजित अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन (Convenant) के अन्तर्गत किया गया था, मानवाधिकार के मामलों से सम्बन्धित सूचना प्रदान करती है।

7.2.1 साधारण सभा-चूँकि मानवाधिकारों को बढ़ावा संयुक्त राष्ट्र के सबसे महत्त्वपूर्ण उद्देश्यों में से एक है, इसलिये इस कार्य को भली प्रकार पूरा करने में संयुक्त राष्ट्र की सहायता करना इसके सभी अंगों का मुख्यकर्त्तव्य है। फिर भी घोषणा-पत्र ने अपने अधिकार के अन्तर्गत इसकी प्रमुख जिम्मेदारी साधारण सभा औरECOSOC को सौंपी है।

साधारण सभा की अनेक समितियाँ हैं, जो संयुक्त राष्ट्र के घोषणा-पत्र के अधिकार क्षेत्र में आने वाले सभी मामलों का निबटारा करती है। मानवाधिकारों से सम्बन्धित मुद्दों पर मुख्यतया बहस इसकी तृतीय समिति सामाजिक, मानवतावादी एवं सांस्कृतिक समिति (Social, Humanitarian and Cultural Committee) द्वारा की जाती है। फिर भी, अन्य मुख्य समितियों द्वारा लिये गये निर्णयों का भी इन मुद्दों पर प्रभाव पड़ सकता है।

मानवाधिकारों की विश्व-जनीन घोषणा (The Universal Declaration of Human Rights), मानवाधिकारों पर आयोजित दोनों सम्मेलन और मानवाधिकारों से संबंधित संयुक्त राष्ट्र की अन्य सारी संधियों (Treaties) को साधारण-सभा के द्वारा स्वीकार कर लिया गया। मानवाधिकारों के क्षेत्र में साधारण-सभा की गतिविधियों को निम्न प्रकार से वर्गीकृत किया जा सकता है-

- मानवाधिकारों से संबंधित सारभूत (Substantive) मुद्दे।
- बड़े पैमाने पर मानवाधिकारों का उल्लंघन।
- सम्मेलनों अथवा घोषणाओं का प्रारूप (draft) तैयार करना।
- संगठन से संबंधित मामले।

साधारण सभा की विभिन्न समितियों की कार्यसूची (agenda) एक सत्र से दूसरे सत्र तक बदलती रहती है। उदाहरणार्थ, वर्ष 2001 में साधारण सभा की तृतीय समिति के 56वें सत्र की कार्यसूची में निम्नलिखित मुद्दे शामिल थे-

- मानवाधिकार उपकरणों की क्रियान्विति।
- बड़े पैमाने पर मानवाधिकारों के उल्लंघन से संबंधित मानवाधिकारों की स्थितियां।
- वियेना घोषणा-पत्र की क्रियान्विति और पश्चात् कार्य।
- मानवाधिकारों के लिये संयुक्त राष्ट्र के आयुक्त की रिपोर्ट।
- बच्चों के अधिकारों को प्रोत्साहन और उनकी रक्षा।
- जातिवाद और जाति के आधार पर भेदभाव का उन्मूलन।
- व्यक्तियों के आत्म-निर्णय का अधिकार।

साधारण-सभा द्वारा स्वीकृत प्रस्ताव (मानवाधिकारों के सम्बन्ध में) न केवल तृतीय समिति के मूल्यांकन को प्रतिबिम्बित करते हैं बल्कि (समग्र रूप में) अन्तर्राष्ट्रीय समुदाय द्वारा की गई अनुशंसाओं को भी दर्शाते हैं, विशेषत: सरकारों, संयुक्त राष्ट्र के विभिन्न घटकों और गैर-सरकारी संगठनों द्वारा की गई अनुशंषाएँ। साधारण-सभा के अधिकांश प्रस्ताव इसकी तृतीय समिति द्वारा बिना किसी मतदान के

स्वीकार कर लिये जाते हैं। हाँ, किसी देश से सम्बन्धित प्रस्तावों के लिये मतदान की आवश्यकता होती है, क्योंकि किसी भी मामले में सर्वसम्मति सामान्यत: असम्भव होती है। तृतीय समिति अपनी कार्यसूची को निबटाने के लिये कार्यकारी समूह (Working Groups) भी बना सकती है।

अपने सामान्य-अधिकार (Mandate) के अन्तर्गत कार्य करते हुए साधारण-सभा ने वर्ष 1993 में एक वरिष्ठ संयुक्त राष्ट्र अधिकारी के रूप में मानवाधिकारों के लिये संयुक्त राष्ट्र उच्चायुक्त का पद सृजित किया। इस उच्चायुक्त को संयुक्त राष्ट्र के मुख्य सचिव (Secretary General) के संरक्षण में मानवाधिकारों की गतिविधियों की विशेष जिम्मेदारी सौंपी गई थी। मानवाधिकारों के प्रथम संयुक्त राष्ट्र उच्चायुक्त की नियुक्ति वर्ष 1994 में की गई थी।

7.2.2 आर्थिक एवं सामाजिक परिषद (ECOSOC)-जैसा कि पहले बताया जा चुका है, मानवाधिकारों को प्रोत्साहन और उनकी रक्षाECOSOC के प्रमुख कार्यों में से है। इस सन्दर्भ में ECOSOC निम्नलिखित कार्य करती है-

- सभी के लिये मूलभूत स्वतंत्रताओं और मानवाधिकारों के लिये सम्मान को बढ़ावा देने और उनका पालन करने की अनुशंषाएँ करना।
- साधारण सभा को प्रस्तुत किये जाने वाले प्रारूप सम्मेलनों (DraftConventions) की तैयारी करना।
- अपने अधिकार क्षेत्र में आने वाले विषयों पर अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलनों का आयोजन करना।
- मानवाधिकार आयोग, मानवाधिकार समिति और आर्थिक, सामाजिक एवं सांस्कृतिक अधिकार समिति जैसे संयुक्त राष्ट्र के अंगों (Bodies) की रिपोर्टों पर विचार करना।

ECOSOC आर्थिक एवं सामाजिक क्षेत्रों में संयुक्त राष्ट्र का प्रमुख समन्वयकारी अंग है। इन क्षेत्रों से सम्बन्धित मामलों को निबटाने के लिये इसने विभिन्न आयोग गठित किये हैं। मानवाधिकार आयोग एवं महिलाओं की स्थिति (Status) के लिये गठित आयोग उनमें से दो हैं। वे ECOSOC को वार्षिक रिपोर्ट देते हैं, विषय से सम्बन्धित प्रारूप निर्णय (Draft Decisions) अनुशंषाएँ और साथ ही साथ सम्मेलनों एवं घोषणाओं के प्रारूप भी तैयार करते हैं। आयोग के उन प्रस्तावों के लिये, जिनमें धन की आवश्यकता होती है, उनकी क्रियान्विति से पहले ECOSOCकी स्वीकृति लेनी होती है। इनके साथ ही ECOSOC के अन्य कार्यकारी आयोग इस प्रकार हैं-अपराध निवारण एवं आपराधिक न्याय आयोग (Commission on Crime Prevention and Criminal Justice) बनाये रखे जा सकने वाले (Sustainable) विकास आयोग एवं सामाजिक विकास आयोग।

ECOSOC गैर-सरकारी संगठनों (NGOs) का परामर्शदात्री स्थिति (Status) पर भी फैसला करती है। यह तथ्य महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि गैर-सरकारी संगठन संयुक्त राष्ट्र मानवाधिकारों को बढ़ावा देने में विभिन्न प्रकारों से सहायता करते हैं।

7.3 मानवाधिकारों का सार्वभौमिक घोषणा-पत्र (Universal Declaration of Human Rights)

प्रस्तावना

जबकि मानव परिवार के सभी सदस्यों की स्वाभाविक गरिमा और उनके समान, एवं ऐसे अधिकारों, जिनको कि वापस न लिया जा सके, की स्वीकृति संसार में स्वतंत्रता, न्याय और शान्ति का

आधार है, जबकि मानवाधिकारों के प्रति असम्मान और उनकी अवमानना का परिणाम ऐसे जंगली, असभ्य कृत्यों के रूप में प्रकट हुआ है, जिन्होंने मानव जाति की अन्तरात्मा को उद्वेलित किया है और जिन्होंने एक ऐसे विश्व का आह्वान किया है, जिसमें मानव प्राणी वाणी और विश्वास की स्वतंत्रता का उपभोग करेंगे और जिससे भय और अभाव से मुक्ति को सामान्य जन की सर्वोच्च आकांक्षा घोषित किया गया है,

जबकि यदि मानव को अत्याचार और दमन के विरुद्ध अन्तिम उपाय के रूप में विद्रोह का सहारा लेने के लिये बाध्य न होना पड़े, तो यह आवश्यक है कि मानवाधिकारों की कानून के शासन के द्वारा रक्षा की जाये,

जबकि यह आवश्यक है कि राष्ट्रों के बीच मैत्रीपूर्ण सम्बन्धों के विकास को बढ़ावा दिया जाये,

जबकि संयुक्त राष्ट्र के सदस्यों ने चार्टर में मूलभूत मानवाधिकारों, मानव मात्र की गरिमा और महत्त्व और पुरुषों और स्त्रियों के समान अधिकारों में अपनी आस्था पुनः प्रकट की है और वे सामाजिक प्रगति एवं व्यापक स्वतंत्रता के वातावरण में बेहतर जीवन स्तर को प्रोत्साहन देने के लिये दृढ़प्रतिज्ञ हैं,

जबकि सदस्य देशों ने, संयुक्त राष्ट्र से सहयोग करते हुए मानवाधिकारों के प्रति विश्व-जनीन सम्मान और मूलभूत स्वतंत्रताओं के पालन के लिये अपने आपको वचनबद्ध किया है।

जबकि इस वचन के फलीभूत होने के लिये इन अधिकारों और स्वतंत्रताओं की सामान्य समझ सर्वाधिक महत्त्व की है,

इसलिये, अब, साधारण सभा (General Assembly) UDHR की संसार के सभी लोगों और राष्ट्रों के लिये उपलब्धि के एक सामान्य स्तर के रूप में इस उद्देश्य से घोषणा करती है कि प्रत्येक व्यक्ति और समाज का प्रत्येक अंग, इस घोषणा-पत्र को निरन्तर अपने ध्यान में रखते हुए, उपदेश और शिक्षा के द्वारा इन अधिकारों और स्वतंत्रताओं के प्रति सम्मान की भावना को प्रोत्साहन देने का प्रयत्न करेगा और राष्ट्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय, उन्नतिशील उपायों के द्वारा संयुक्त राष्ट्र के सदस्य राज्यों एवं उनके अधिकार क्षेत्र में आने वाले भू-भाग के लोगों के बीच, उनके विश्व स्तर पर एवं प्रभावी स्वीकृति और पालन को प्राप्त करने का प्रयत्न करेगा।

अनुच्छेद-1

सब मानव प्राणी स्वतंत्र, और गरिमा और अधिकारों की दृष्टि से समान पैदा होते हैं। उनमें प्रकृति-प्रदत्त तर्क शक्ति और अन्तरात्मा (चेतना) होती है और उन्हें एक-दूसरे के साथ भाईचारे की भावना से व्यवहार करना चाहिये।

अनुच्छेद-2

प्रत्येक व्यक्ति किसी भी प्रकार के भेदभाव, जैसे कि जाति, वर्ण, लिंग, भाषा, धर्म, राजनैतिक अथवा अन्य किसी प्रकार का मत, किसी भी प्रकार के राष्ट्रीय अथवा सामाजिक मूल, सम्पत्ति, जन्म अथवा अन्य किसी प्रकार के स्तर के भेदभाव के बिना इस घोषणा-पत्र में वर्णित सभीअधिकारों एवं स्वतंत्रताओं का अधिकारी है।

और राजनैतिक, अधिकार-क्षेत्र अथवा किसी देश के अन्तर्राष्ट्रीय स्तर अथवा वह भू-भाग, जिससे कि कोई व्यक्ति सम्बन्ध रखता है, चाहे वह स्वतन्त्र हो, ट्रस्ट के रूप में हो, गैर-स्व-शासित हो

अथवा अन्य किसी प्रकार की सम्प्रभुता के अन्तर्गत आता हो, के आधार पर किसी प्रकार का अन्तर नहीं किया जायेगा।

अनुच्छेद–3

प्रत्येक व्यक्ति को जीवित रहने का, स्वतन्त्रता का और स्वयं की सुरक्षा का अधिकार है।

अनुच्छेद–4

किसी को भी गुलामी अथवा सेवक बनने की स्थिति में नहीं रखा जयेगा। सभी प्रकार की गुलामी और दासों के व्यापार का निषेध किया जायेगा।

अनुच्छेद–5

किसी को भी यातना नहीं दी जायेगी और किसी के भी साथ निर्दयतापूर्ण, अमानवीय और गरिमा का हनन करने वाला व्यवहार नहीं किया जायेगा और दण्ड भी नहीं दिया जायेगा।

अनुच्छेद–6

प्रत्येक व्यक्ति को सब जगह कानून के सम्मुख एक व्यक्ति के रूप में पहचाने जाने का अधिकार होगा।

अनुच्छेद–7

कानून के सम्मुख सब बराबर हैं और बिना किसी भेदभाव के कानून के समान संरक्षण के अधिकारी हैं। सभी व्यक्ति इस घोषणा–पत्र के किसी भी प्रकार के उल्लंघन में भेदभाव के विरुद्ध और इस प्रकार के भेदभाव के उकसावे के विरुद्ध समान संरक्षण के अधिकारी हैं।

अनुच्छेद–8

प्रत्येक व्यक्ति को संविधान अथवा कानून के द्वारा उसे मंजूर किये गये मूलभूत अधिकारों के उल्लंघन के लिये किसी अधिकारी (Competent) राष्ट्रीय न्यायाधिकरण के द्वारा प्रभावी उपचार (समाधान) प्राप्त करने का अधिकार है।

अनुच्छेद–9

किसी को भी मनमाने तौर पर गिरफ्तार, नजरबन्द अथवा निर्वासित नहीं किया जा सकेगा।

अनुच्छेद–10

प्रत्येक व्यक्ति को अपने अधिकारों और कर्त्तव्यों के निर्धारण में, और उसके विरुद्ध किसी भी प्रकार के आपराधिक आरोप के विरुद्ध किसी निष्पक्ष और स्वतंत्र प्राधिकरण द्वारा उचित एवं सार्वजनिक सुनवाई की पूरी समानता का अधिकार है।

अनुच्छेद–11

(i) प्रत्येक ऐसे व्यक्ति को, जिस पर किसी दण्डनीय अपराध का आरोप लगा हो, को निरपराध समझे जाने का अधिकारी है, जब तक कि वह किसी ऐसी सार्वजनिक सुनवाई में, जिसमें कि उसके पास अपने बचाव के लिये आवश्यक सम्पूर्ण गारण्टी प्राप्त हो चुकी हो, कानून के अनुसार दोषी साबित न हो जाये।

(ii) किसी भी व्यक्ति को किसी ऐसे कार्य के करने के अथवा न करने के, जो राष्ट्रीय अथवा अन्तर्राष्ट्रीय कानून के अन्तर्गत, उस समय जबकि वह कार्य किया गया था, दण्डनीय अपराध की श्रेणी में न आता हो, किसी दण्डनीय अपराध का दोषी नहीं ठहराया जायेगा।

अनुच्छेद–12

कोई भी व्यक्ति अपनी निजता, परिवार, घर अथवा पत्राचार में मनमाने तौर पर हस्तक्षेप और न ही अपने सम्मान और ख्याति पर हमलों के लिये सपंइसम नहीं होगा। प्रत्येक व्यक्ति को इस तरह के हस्तक्षेप अथवा हमलों के विरुद्ध कानून से संरक्षण का अधिकार है।

अनुच्छेद–13

(i) प्रत्येक व्यक्ति को अपने देश की सीमाओं के भीतर कहीं भी आने–जाने और रहने का अधिकार है।

(ii) प्रत्येक व्यक्ति को किसी भी देश को, जिसमें उसका खुद का देश भी शामिल है, छोड़ने का और वापस अपने देश में लौटने का अधिकार है।

अनुच्छेद–14

(i) प्रत्येक व्यक्ति को अपनी जाति, धार्मिक अथवा राजनैतिक विचारों के आधार पर निर्दयतापूर्ण व्यवहार से बचने के लिये दूसरे देशों में शरण लेने और उसका उपयोग करने का अधिकार है।

(ii) यह अधिकार ऐसे वास्तविक मामलों में, जो कि गैर–राजनैतिक अपराधों से सम्बन्धित हों अथवा ऐसे कार्यों के लिये, जो संयुक्त राष्ट्र के उद्देश्यों और सिद्धानतों के विपरीत हो, प्रभावी नहीं हो सकेगा।

अनुच्छेद–15

(i) प्रत्येक व्यक्ति को एक राष्ट्रीयता का अधिकार है।

(ii) किसी भी व्यक्ति को मनमाने तौर पर उसकी राष्ट्रीयता से वंचित नहीं किया जायेगा, न उसे अपनी राष्ट्रीयता बदलने से इनकार किया जायेगा।

अनुच्छेद–16

(i) पूर्ण आयु प्राप्त पुरुषों और स्त्रियों को जाति, राष्ट्रीयता अथवा धर्म की वजह से होने वाली सीमा के बिना विवाह करने और परिवार बसाने का अधिकार है। वे विवाह के समय, विवाह के दौरान और विवाह के भंग होने पर समान अधिकारों के अधिकारी हैं।

(ii) विवाह, विवाह करने वाले स्त्री और पुरुष की स्वतन्त्र और सम्पूर्ण सहमति से ही होगा।

(iii) परिवार समाज की स्वाभाविक और मूलभूत समूह इकाई है और समाज और राज्य के द्वारा सुरक्षा का अधिकारी है।

अनुच्छेद–17

(प) प्रत्येक व्यक्ति को अकेले अथवा दूसरों के साथ सम्पत्ति रखने का अधिकार है।

(पप) किसी भी वयक्ति को मनमाने तौर पर उसकी सम्पत्ति से वंचित नहीं किया जायेगा।

अनुच्छेद–18

प्रत्येक व्यक्ति को अपने विचार, अन्तरात्मा और धर्म रखने का अधिकार है। इस अधिकार में अपना धर्म अथवा आस्था के परिवर्तन की स्वतंत्रता और अपने धर्म अथवा आस्था को उपदेश, अभ्यास, पूजा और पालन के रूप में, अकेले अथवा समुदाय में दूसरों के साथ और सार्वजनिक अथवा व्यक्तिगत रूप से प्रदर्शित करने की स्वतन्त्रता शामिल है।

अनुच्छेद–19

प्रत्येक व्यक्ति को अपनी राय रखने और उसकी अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता का अधिकार है। इस अधिकार में बिना किसी हस्तक्षेप के अपनी राय कायम करने और किसी भी संचार साधन के माध्यम से और सीमाओं का विचार किये बिना सूचना और विचारों का पता लगाने, प्राप्त करने और दूसरों तक पहुंचने की स्वतंत्रता शामिल है।

अनुच्छेद–20

(i) प्रत्येक व्यक्ति को शान्तिपूर्वक मिलने-जुलने और एकत्र होने की स्वतन्त्रता का अधिकार है।

(ii) किसी भी व्यक्ति को किसी संगठन से सम्बन्ध रखने के लिये बाध्य नहीं किया जा सकता।

अनुच्छेद–21

(i) प्रत्येक व्यक्ति को अपने देश की सरकार में, प्रत्यक्ष रूप से अथवा स्वतंत्रतापूर्वक चुने हुए प्रतिनिधियों के माध्यम से, भाग लेने का अधिकार है।

(ii) प्रत्येक व्यक्ति को अपने देश की सार्वजनिक सेवा में समान पहुंच (equal access) का अधिकार है।

(iii) जनता की इच्छा सरकार के अधिकार का आधार होगी। यह इच्छा समय-समय पर और ईमानदारी से होने वाले चुनावों में अभिव्यक्त की जायेगी। ये चुनाव सामूहिक और समान मताधिकार वाले होंगे और ये गुप्त मतदान अथवा उसी के बराबर स्वतन्त्र मत-प्रणाली द्वारा करवाये जायेंगे।

अनुच्छेद–22

समाज के एक सदस्य के रूप में प्रत्येक व्यक्ति को सामाजिक सुरक्षा का अधिकार है और वह राष्ट्रीय प्रयास और अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग से और प्रत्येक राज्य का जैसा संगठन है और जैसे साधन हैं, उनके अनुसार, उन आर्थिक, सामाजिक और सांस्कृतिक अधिकारों, जो उसकी गरिमा और उसके व्यक्तित्व के स्वतन्त्र विकास के लिये अति आवश्यक हैं, का हकदार है।

अनुच्छेद–23

(i) प्रत्येक व्यक्ति को कार्य करने का, रोजगार के स्वतन्त्र चुनाव का, कार्य करने की उचित और अनुकूल दशाओं का और बेरोजगारी से सुरक्षा का अधिकार है।

(ii) प्रत्येक व्यक्ति को, बिना किसी भेदभाव के, समान कार्य के लिये समान वेतन का अधिकार है।

(iii) उस प्रत्येक व्यक्ति को, जो कार्य करता है, उचित और अनुकूल पारिश्रमिक, जो उसके और उसके परिवार के मानवीय गरिमा के योग्य जीवन-यापन को सुनिश्चित करे, और आवश्यकता होने पर सामाजिक सुरक्षा के अन्य साधनों द्वारा जिसे पूरा किया जा सके, का अधिकार है।

(iv) प्रत्येक व्यक्ति को अपने हितों की रक्षा के लिये ट्रेड यूनियन बनाने और उनमें शामिल होने का अधिकार है।

अनुच्छेद-24

प्रत्येक व्यक्ति को आराम करने और कार्य से मुक्त समय (time free from work) का अधिकार है। इसमें काम के घंटों की उचित सीमा और वेतन सहित समय-समय पर अवकाश शामिल हैं।

अनुच्छेद-25

(i) प्रत्येक व्यक्ति को ऐसे जीवन-स्तर का अधिकार है, जो उसके और उसके परिवार के स्वास्थ्य और भलाई के लिए पर्याप्त हो। इस जीवन-स्तर में भोजन, कपड़ा, मकान, चिकित्सकीय देखभाल और सामाजिक सेवाएँ शामिल हैं।

व्यक्ति को बेरोजगारी, बीमारी, असमर्थता (disability), वैधव्य, वृद्धावस्था और ऐसी परिस्थितियों में, जो उसके नियन्त्रण से परे हो, अन्य प्रकार से जीविकोपार्जन के अभाव की स्थिति में सुरक्षा का अधिकार है।

(ii) मातृत्व और बचपन विशेष देखभाल और सहायता के अधिकारी हैं। सभी बच्चे, चाहे वे विवाह से उत्पन्न हुए हों या बिना विवाह के, एक जैसी सामाजिक सुरक्षा का उपभोग करेंगे।

अनुच्छेद-26

(i) प्रत्येक व्यक्ति को शिक्षा का अधिकार है। शिक्षा नि:शुल्क होगी, कम से कम प्रारम्भिक और आधारभूत अवस्था में। प्रारम्भिक शिक्षा अनिवार्य होगी। तकनीकी और व्यावसायिक शिक्षा सामान्यत: उपलब्ध करवाई जायेगी और उच्च शिक्षा योग्यता के आधार पर सबकी समान पहुंच (equally accessible) में होगी।

(ii) शिक्षा मानवीय व्यक्तित्व के पूर्ण विकास और मानवाधिकारों एवं मूलभूत स्वतंत्रताओं के प्रति आदर को मजबूत बनाने की दिशा में उन्मुख होगी। यह सब राष्ट्रों और जातीय अथवा धार्मिक समूहों के बीच समझ, सहिष्णुता और मित्रता को प्रोत्साहन देगी और शान्ति बनाये रखने के लिये संयुक्त राष्ट्र की गतिविधियों को आगे बढ़ायेगी।

(iii) माता-पिता को उस प्रकार की शिक्षा, जो उनके बच्चों को दी जायेगी, के चुनने का पहले अधिकार (Prior right) होगा।

अनुच्छेद-27

(i) प्रत्येक व्यक्ति को समुदाय के सांस्कृतिक जीवन में मुक्त रूप से भाग लेने, कलाओं का आनन्द लेने और वैज्ञानिक प्रगति और उससे प्राप्त होने वाले लाभों में हिस्सा बटाने का अधिकार है।

(ii) प्रत्येक व्यक्ति को किसी भी प्रकार की वैज्ञानिक, साहित्यिक अथवा कलात्मक उत्पाद (रचना), जिसका कि वह लेखक है, से होने वाले नैतिक और भौतिक हितों की सुरक्षा काअधिकार है।

अनुच्छेद–28

प्रत्येक व्यक्ति ऐसी सामाजिक और अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था का, जिसमें इस घोषणा–पत्र में प्रस्तुत किये गये अधिकारों और स्वतन्त्रताओं को पूर्ण रूप से प्राप्त किया जा सके, अधिकारी है।

अनुच्छेद–29

(i) प्रत्येक व्यक्ति के समुदाय के प्रति कर्त्तव्य हैं, क्योंकि केवल समुदाय में ही उसके व्यक्तित्व का स्वतन्त्र और पूर्ण विकास सम्भव है।

(ii) अपने अधिकारों और स्वतन्त्रताओं को काम में लेते समय प्रत्येक व्यक्ति केवल उन्हीं सीमाओं से बाध्य होगा जो कि एकान्ति रूप से (Solely) दूसरों के अधिकारों और स्वतन्त्रताओं को उचित रूप से स्वीकारने और उनका आदर करने और एक प्रजातन्त्रात्मक समाज में नैतिकता, सामाजिक व्यवस्था और सामान्य कल्याण की उचित आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये कानून द्वारा निर्धारित की गई है।

(iii) इन अधिकारों और स्वतन्त्राओं का उपभोग किसी भी दशा में संयुक्त राष्ट्र के उद्देश्यों और सिद्धान्तों के विपरीत नहीं किया जा सकेगा।

अनुच्छेद–30

इस घोषणा–पत्र की किसी भी बात की व्याख्या इस प्रकार से नहीं की जायेगी, जिसका कि अर्थ यह निकले कि किसी राज्य, समूह अथवा व्यक्ति को किसी गतिविधि में लिप्त होने का अथवा कोई ऐसा कार्य करने का, जिसका उद्देश्य यहां घोषित और प्रस्तुत किये गये अधिकारों और स्वतन्त्रताओं का विनाश हो, अधिकार है।

7.4मानव उत्तरदायित्व का वैश्विक घोषणा पत्र, 1997(यूनेस्को द्वारा 1997 में तैयार किया गया प्रारूप)

प्रस्तावना

जबकि मानव प्राणियों को दूसरे प्राणियों से अलग करने वाली एक मूलभूत विशेषता यह है कि वे ही अकेले ऐसे प्राणी हैं, जो ''क्यों?'' पूछना कभी बन्द नहीं करते : 'वे निश्चित रूप से बातों का अर्थ ढूंढते हैं और ऐसा करने की उनकी प्यास कभी नहीं बुझती, और तब वे उसी के अनुसार रहने का प्रयास करते हैं,

जबकि मानव प्राणी विशेष चीजों और सामान्य अवास्तविकताओं, दोनों को जानने में सक्षम होते हैं; क्योंकि इसके परिणामस्वरूप वे तुलनाएँ कर सकते हैं, इसलिये वे स्वतन्त्र और उसी प्रकार जिम्मेदारीपूर्ण चुनाव करने के लिये भी सक्षम होते हैं,

जबकि मानव की अर्थ की तलाश और मानव की मूलभूत रूप से स्वतन्त्रतापूर्वक और जिम्मेदारीपूर्वक चुनाव करने की योग्यता, दोनों 'अनन्त' हैं, अर्थात् उनका क्षितिज अनन्त रूप से विस्तृत है, उसी के अनुसार मानव की गरिमा भी 'अनन्त' है।

इसीलिये मानव की वास्तविकता पर किये गये ये विचार संयुक्त राष्ट्र के 1948 के ''मानव की गरिमा और महत्त्व'' पर ''मानवाधिकारों की वैश्विक घोषणा'' की स्वीकृति के लिये एक तर्कसंगत आधार प्रदान करते हैं,

जबकि मानव परिवार के सभी सदस्यों की स्वाभाविक गरिमा और उनके समान और वापस न लिये जा सकने वाले अधिकारों की स्वीकृति, जो कि संसार में स्वतन्त्रता, न्याय और शान्ति का आधार है, कुछ कर्त्तव्य और जिम्मेदारियों को मानकर और निहित करके चलती है,

जबकि अधिकारों पर एकान्तिक आग्रह का परिणाम अपनी ही राय और अपनी ही बात को उचित मानने की प्रवृत्ति के रूप में निकल सकता है,

जबकि जिम्मेदारियों की उपेक्षा मनमानेपन, कानूनहीनता और अराजकता की स्थिति की ओर ले जा सकती है,

जबकि कानून का शासन और मानवाधिकार दोनों स्त्रियों और पुरुषों की न्यायपूर्ण तरीके से काम करने की तत्परता पर निर्भर करते हैं क्योंकि जिम्मेदारियों की स्वीकृति के बिना अधिकार लम्बे समय तक नहीं चल सकते हैं,

जबकि वैश्विक समस्याएँ जैसे कि गरीबी, अर्द्धविकास, पर्यावरणीय प्रदूषण, जनसंख्या विस्फोट, बीमारी, अपराध, आणविक हथियारों का प्राचुर्य, भ्रष्टाचार एवं धार्मिक और राजनैतिक कट्टरता वैश्विक समाधान की और इसीलिये ऐसे विचारों, मूल्यों और मानकों, जो कि सभी संस्कृतियों और समाजों में मान्य हों, की मांग करती है,

जबकि सब मानव प्राणी, अपने पूरे ज्ञान और योग्यता भार, एक बेहतर वैश्विक व्यवस्था, जो कि केवल कानूनों, सुधारात्मक उपायों और सभा-सम्मेलनों से उत्पन्न अथवा लागू नहीं की जा सकती, के लिये जिम्मेदार हैं,

जबकि इस धरती ग्रह पर मानव जाति की प्रगति और सुधार की आकांक्षाओं की, बिना एक न्यूनतम मूलभूत आम सहमति, जो कि बाध्यकारी मूल्यों, अपरिवर्तनीय स्तरों और मूलभूत नैतिक धारणाओं, जो समस्त मानव प्राणियों और संस्थाओं पर लागू हों, सुरक्षा नहीं की जा सकती,

इसलिये, अब, साधारण सभा,

इस ''UDH Responsibilities'' की, संसार के सभी देशों के लोगों और राष्ट्रों के द्वारा कर्त्तव्य के एक आम स्तर के रूप में, इस लक्ष्य की प्राप्ति के लिये घोषणा करती है कि समाज का प्रत्येक व्यक्ति और प्रत्येक अंग प्रत्येक व्यक्ति की वास्तविक स्वायत्तता और समुदायों की न्यायोचित आवश्यकताओं की पूर्ति में अपना योगदान देगा।

हम जिम्मेदारी की एक नीति को, उस स्तर पर सुनिश्चित करते हैं जो कि अधिकारों के स्तर पर औपचारिक रूप से पहले ही घोषित की जा चुकी है और वह है-मानव की आन्तरिक और प्राकृतिक गरिमा की पूर्ण रूप से प्राप्ति, सिद्धान्त रूप में सभी मानव प्राणियों की वापस न ली जा सकने वाली स्वतन्त्रता और समानता, एक-दूसरे के साथ एकता और सभी चेतनायुक्त प्राणियों की परस्पर अन्तर्निर्भरता।

व्यक्तियों और संस्थाओं की इन जिम्मेदारियों की चेतना शिक्षा और शिक्षण द्वारा जाग्रत की जानी है और साथ ही साथ राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय प्रगतिशील उपायों द्वारा उसे मजबूती प्रदान की जानी है और बढ़ावा दिया जाना है।

हम इस बात को भी स्वीकार करते हैं कि संवाद् अर्थात् वार्तालाप, जिसका मुख्य उद्देश्य दूसरे से कुछ सीखना होता है, एक महत्त्वपूर्ण साधन है, जिसके द्वारा स्त्री और पुरुष एक-दूसरे का आदर करना सीखें, जीवन के अर्थ की अपनी समझ को विस्तृत और गहरा करें और सतत् विस्तृत होने वाली ऐसी आम सहमति विकसित करें जिससे स्त्री और पुरुष इस विश्व में वास्तविक रूप में मानवीय तरीके से रह सकें।

अनुच्छेद-1

प्रत्येक मानव के साथ सहानुभूतिपूर्ण और दयालुतापूर्ण व्यवहार किया जाना चाहिये, चाहे वह किसी भी सामाजिक मूल, लिंग, सम्पत्ति, रंग, भाषा, राष्ट्रीयता अथवा धर्म का हो।

अनुच्छेद-2

समस्त मानव प्राणियों को समस्त प्रकार की अमानवीय, विशेषत: धार्मिक और राजनैतिक कट्टरता, घृणा और समाज से निष्कासन का विरोध करना चाहिये और अधिक सहानुभूति और दयालुता के लिये काम करना चाहिये।

अनुच्छेद-3

कोई भी अकेला मानव अथवा मानवों का समूह, जिसमें राज्य, सामाजिक वर्ग, दबाव डालने वाला समूह, पुलिस अथवा सेना की एजेन्सी शामिल हैं, अच्छाई और बुराई के नैतिक आदेशों से ऊपर नहीं है। सभी को ईमानदारी से मानवीय तरीके से व्यवहार करना चाहिये, जिसका तात्पर्य है-भलाई करो और बुराई से बचो।

अनुच्छेद-4

समस्त मानव प्राणियों को, जिन्हें तर्क और चेतना का उपहार मिला हुआ है, एक-दूसरे के साथ भाईचारे अथवा बहनापे की भावना से व्यवहार करना चाहिये। इसलिये ये दोनों बातें सभी मानव प्राणियों पर लागू की जानी चाहिये, चाहे वे अकेले हों अथवा समूह, जिनमें दूसरों के परिवार, समुदाय, जातियाँ, राष्ट्र और धर्म, लम्बे समय से चले आ रहे नैतिक और धार्मिक परम्पराओं के सिद्धान्त शामिल हैं। जैसा व्यवहार तुम अपने साथ नहीं चाहते, वैसा दूसरों के साथ भी मत करो।

अनुच्छेद-5

प्रत्येक मानव प्राणी के साथ हमेशा एक लक्ष्य की तरह व्यवहार किया जाना चाहिये, कभी भी केवल मात्र साधन के रूप में नहीं, हमेशा अधिकारों के एक कर्त्ता की तरह व्यवहार किया जाना चाहिये, कभी भी केवल मात्र एक वस्तु के रूप में नहीं, चाहे जीवन का कोई भी क्षेत्र-व्यापार, राजनीति, सम्प्रेषण, वैज्ञानिक शोध अथवा दूसरे क्षेत्र हों।

अनुच्छेद-6

किसी को भी, आत्म-रक्षा के मामले को छोड़कर, किसी को चोट पहुंचाने अथवा मारने का अधिकार नहीं है। प्रत्येक मानव को बल्कि जीवन का आदर करना चाहिये।

अनुच्छेद–7

यद्यपि प्रत्येक मानव प्राणी का जीवन अत्यन्त बहुमूल्य है और उसकी बिना किसी शर्त के रक्षा की जानी चाहिये, उन सभी जानवरों और पौधों, जो हमारे साथ इस ग्रह पर निवास करते हैं, का जीवन भी रक्षा, सुरक्षित रखे जाने का और देखभाल का अधिकारी है। कहने का तात्पर्य यह है कि हम मानव प्राणी प्रकृति का एक अंग हैं, प्रकृति से अलग नहीं हैं। अतएव ऐसे प्राणी होने के नाते जिनमें दूरदर्शिता की क्षमता है, वायु, जल, मिट्टी अर्थात् धरती और यहां तक कि ब्रह्माण्ड के प्रति भी, विशेषत: भावी पीढ़ियों के दृष्टिकोण से, हमारी एक विशेष जिम्मेदारी बन जाती है।

अनुच्छेद–8

झगड़ों का निबटारा बिना हिंसा के किया जाना चाहिये। यह सिद्धान्त समस्त संस्थाओं, विशेषत: राज्यों और साथ ही साथ व्यक्तियों पर भी लागू होता है। खास तौर से जन अधिकारी (Public Officials) एक न्यायोचित व्यवस्था के ढ़ांचे के अन्दर काम करने के लिए बाध्य हैं और जब भी सम्भव हो, अहिंसक, शान्तिपूर्ण समाधानों के लिये कर्त्तव्यबद्ध हैं।

अनुच्छेद–9

किसी भी व्यक्ति को किसी भी दूसरे व्यक्ति, व्यक्तियों के समूह अथवा आम हित को किसी भी प्रकार से लूटने अथवा उसको अपनी वस्तुओं से रहित कर देने का अधिकार नहीं है।

अनुच्छेद–10

सम्पत्ति, चाहे वह सीमित हो अथवा बड़ी, उसके साथ एक कर्त्तव्य जुड़ा हुआ होता है, स्वामित्व न केवल सम्पत्ति के व्यक्तिगत उपयोग की अनुमति देता है, बल्कि उसमें सामान्य भलाई करने की जिम्मेदारी भी शामिल है।

अनुच्छेद–11

आर्थिक और राजनैतिक शक्ति का प्रभुत्व के उपकरण के रूप में दुरुपयोग नहीं किया जाना चाहिये, बल्कि उसका उपयोग मानवता की सेवा के लिये किया जाना चाहिये। इसलिये पारस्परिक आदर और मध्यस्थता की इच्छा को पल्लवित किया जाना चाहिये ताकि किसी भी कार्य की अति से मुक्ति और औचित्य के अर्थ में पारस्परिक हितों का एक युक्तियुक्त सन्तुलन स्थापित किया जा सके।

अनुच्छेद–12

जहां कहीं भी शासक शासितों, संस्थाओं का दमन करते हो, व्यक्तियों को धमकाते हों, अथवा शक्ति सही पर हावी होती हो, वहां मानव प्राणियों का प्रतिरोध करना–जब कभी सम्भव हो, अहिंसात्मक तरीके से, न केवल अधिकार है, बल्कि यह उनका कर्त्तव्य भी है।

अनुच्छेद–13

किसी भी व्यक्ति को झूठ नहीं बोलना चाहिये। बल्कि प्रत्येक मानव प्राणी को सत्य बोलना चाहिये और सत्यतापूर्वक कार्य करना चाहिये।

अनुच्छेद–14

सम्प्रेषण करने वाला मीडिया, जिसे सत्य के लिए रिपोर्ट करने की स्वतन्त्रता सौंपी गई है और जिसे संरक्षक का पद मंजूर किया गया है, नैतिक नियमों से ऊपर नहीं है बल्कि मानव गरिमा, मानवाधिकारों और मूलभूत मूल्यों का आदर करना उसका कर्त्तव्य है। वह निरपेक्षता, औचित्य और सहानुभूतिपूर्ण व्यवहार के लिये कर्त्तव्यबद्ध है।

इसलिये उसे व्यक्ति के व्यक्तिगत क्षेत्रों में अवांछित हस्तक्षेप करने का, जनमत को अनुचित तरीके से प्रभावित करने का अथवा वास्तविकता को तोड़-मरोड़ कर विकृत करने का अधिकार नहीं है।

अनुच्छेद-15

राजनीतिज्ञों, वैज्ञानिकों और कलाकारों का, एक व्यक्ति और समाज के नेता होने के नाते दोहरा कर्त्तव्य हो जाता है कि वे नैतिक स्तरों का एक आदर्श रूप प्रस्तुत करें और सत्य की सेवा विशेष रूप से करें।

अनुच्छेद-16

धार्मिक व्यक्तियों और विशेषत: धार्मिक नेताओं, जिनकी धार्मिक स्वतन्त्रता की गारण्टी मिली हुई होती है, को लोगों को भड़काने और धार्मिक युद्धों को कानून सम्मत ठहराने की तो बात ही क्या, उन्हें भिन्न धर्म वाले लोगों के प्रति पूर्वाग्रह, कट्टरता और घृणा से बचना चाहिये।

अनुच्छेद-17

सभी व्यक्तियों और समूहों का कर्त्तव्य है कि वे दूसरे व्यक्तियों को केवल भोग की वस्तु (Sex Object) न समझें और न उनकी लैंगिक प्रकृति के कारण उन्हें किसी प्रकार की हानि पहुंचायें। बल्कि स्त्रियों और पुरुषों को अपने सैक्स सम्बन्धों और पारिवारिक सम्बन्धों को एक-दूसरे के साथ आदर का और बराबर भागीदारों का व्यवहार करना चाहिये।

अनुच्छेद-18

युवाओं को घर, स्कूल, धर्म और समाज में अन्य कहीं पर भी यह जानना चाहिये कि सैक्स की इच्छा (Sexuality) एक रचनात्मक और सकारात्मक भावना है, न कि नकारात्मक, विनाशात्मक अथवा शोषण करने वाली शक्ति। समुदाय के जीवन की स्वीकृति को आकार देने वाली Sexuality तभी प्रभावी हो सकती है जबकि इसमें भाग लेने वाले स्त्री-पुरुष एक-दूसरे की प्रसन्नता की परवाह करने की जिम्मेदारी को स्वीकार करें।

अनुच्छेद-19

विवाह, अपनी सांस्कृतिक और धार्मिक विविधता के बावजूद प्रेम, वफादारी और स्थायित्व की विशेषताओं से युक्त होना चाहिये और इसे पारस्परिक सुरक्षा और सहारे की गारण्टी होना चाहिये।

अनुच्छेद-20

परिवार में माता-पिता को बच्चों का शोषण नहीं करना चाहिये, न ही बच्चों को माता-पिता का। उनके व्यवहार में पारस्परिक आदर, प्रशंसा और एक-दूसरे की परवाह प्रतिबिम्बित होनी चाहिये।

अनुच्छेद-21

भिन्न-भिन्न व्यवसायों और दूसरे सामाजिक समूहों, जैसे कि चिकित्सा, व्यापार, पत्रकारिता और अन्य, को नीतिशास्त्र की वर्तमान में प्रचलित नीतियों को, उन व्यवसायों को और अधिक विशिष्ट दिशा-निर्देश (Guidelines) प्रदान कर, विकसित करना चाहिये। ये नीतियां इस घोषणा-पत्र के नैतिक सिद्धान्तों से सम्बन्धित होंगी।

अनुच्छेद-22

इस घोषणा-पत्र की किसी भी बात की इस रूप में व्याख्या न की जाये, जिसका मतलब यह निकले कि किसी भी राज्य, समूह अथवा व्यक्ति को किसी ऐसी गतिविधि में लिप्त होने का अधिकार है, जिसका उद्देश्य 1948 के इस UDH Rights अथवा इसके बाद में आने वाले संयुक्त राष्ट्र के दस्तावेजों में उल्लिखित अधिकारों, स्वतन्त्रताओं अथवा जिम्मेदारियों में से किसी का भी विनाश करने का हो।

मानवाधिकारों का तरीका (Approach) सभी अधिकारों और स्वतन्त्रताओं के उपभोग में समानता की मांग करता है। वर्तमान में मौजूद असमानताओं का भेदभव के निषेध और उसको जड़ समेत नष्ट करने के सरकारी दायित्व के विरुद्ध मूल्यांकन किये जाने की आवश्यकता है। अन्त में महिलाओं के निम्न स्तर को निर्देशित किया जाना चाहिये। परिवार में और अन्यत्र महिलाओं के प्रति हिंसा इस हीनता की ही उपज है, और हिंसा की समाप्ति केवल तभी होगी, जब जीवन के समस्त क्षेत्रों में महिलाओं को समानता की गारण्टी देने के लिये कदम उठाये जायें और उन्हें आर्थिक दृष्टि से सशक्त बनाय जाये।

8. मानवाधिकार एवं विश्वशांति

मानवाधिकारों को दो कालों में विभक्त किया गया- युद्धकाल के मानवाधिकार एवं शांतिकाल के मानवाधिकार।

(a) युद्धकाल के मानवाधिकार-युद्धों के कानून बनाने के लिए दो विश्व प्रसिद्ध सम्मेलन हुए हैं-हेग सम्मेलन और जेनेवा सम्मेलन। हेग सम्मेलन में सर्वप्रथम यह प्रस्ताव पारित हुआ कि युद्धकाल में युद्धरत राष्ट्रों का शत्रु को नुकसान पहुंचाने का अधिकार असीमित नहीं है। जबकि जेनेवा कानून लड़ने वाले सैनिक तथा असैनिक (नागरिक) दोनों के प्रति मानवीय व्यवहार सुनिश्चित करने के उद्देश्य से प्रेरित है। हेग कानून में हथियारों पर प्रतिबंध लगाने की बात भी सम्मिलित है पर इस संदर्भ में अब तक किये गये प्रयास असफल ही रहे हैं। द्वितीय विश्वयुद्ध में इस प्रथागत कानून को भी काफी धक्का लगा था जिसके अनुसार सैनिक तथा असैनिक व्यक्तियों के बीच भेद किया गया था।

इस विश्वयुद्ध ने नागरिक बस्तियों पर आक्रमण कर सर्वांगीण युद्ध के सिद्धान्त को जन्म दिया था। रेडक्रास इस सिद्धान्त के विरुद्ध लड़ता रहा। इन्स्टीट्यूट दे द्रोइन इंटरनेशनल ने कहा कि समग्र युद्ध के सिद्धान्त को स्वीकार भी कर लें तो भी काफी असैनिक लोग रह जाते हैं जैसे अशक्त, बूढ़े, गर्भवती स्त्रियां, बच्चे, बीमार-घायल इन पर तो आक्रमण नहीं किया जाना चाहिये। इस प्रकार इस संस्थान ने मानव सभ्यता के प्रभात में मानवता की सर्वप्रथम कानून-संहिता के निर्माता मनु के इन शब्दों का समर्थन किया कि सशस्त्र संघर्ष में उसे नहीं मारा जाना चाहिये जो सो रहा हो, नग्न हो और जो शस्त्रहीन हो। इन प्रयासों का सुफल तब सामने आया जब 19 दिसम्बर 1968 को असैनिक नागरिकों के विरुद्ध हमले पर रोक लगाई गई। सभी राष्ट्र इन नियमों का पालन करें इस हेतु संयुक्त राष्ट्र ने रेड क्रॉस को उत्तरदायित्व दिया।

(b) शांतिकाल के मानवाधिकार–अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय ने शांतिकाल में मानवतावाद के महत्त्व पर बल देते हुए कहा है– ''वह कानून जो व्यक्ति की गरिमा को सुनिश्चित करता है, उसकी रक्षा के लिए सदैव तत्पर है तथा उसके कल्याण व प्रगति को उच्चतम सीमा तक ले जाने को संभव बनाता है उस कानून को शांतिकाल में भी स्वीकृत किया जाना ही चाहिए।'' वस्तुत: देखा जाए तो युद्ध से अधिक शांतिकाल में मानवता की

विचारधारा सर्वोपरि है। संयुक्त राष्ट्र चार्टर के अनुच्छेद (3) में कहा गया है– ''विश्व की आर्थिक, सामाजिक, सांस्कृतिक या मानवतावादी समस्या के समाधान के लिए अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग प्राप्त किया जाए तथा जाति, भाषा, लिंग या धर्म का भेद किए बिना समस्त लोगों के लिए मानवाधिकारों एवं आधारभूत स्वतंत्रता के सम्मान को प्रोत्साहन दिया जाए।इसी आधार पर मानवाधिकार आयोग ने नरसंहार पर रोक, जातिगत भेदभाव का निवारण, शिक्षा में भेदभाव का निवारण, महिलाओं की स्थिति को सम्मानजनक बनाने, नागरिकताहीन व्यक्तियों व शरणार्थियों की स्थिति सुनिश्चित करने, दासता एवं व्यक्तियों के क्रय-विक्रय को समाप्त करने तथा रोजगार देने आदि के लिए विश्व समुदाय से अपील की।

1977 में महासभा ने कहा– ''आर्थिक-सामाजिक दृष्टि से भी सभी मनुष्यों को समान अधिकार है इसलिए विश्व के संसाधनों का उपयोग भी विश्व समुदाय के लिए हो, न कि मात्र कुछ राष्ट्रों के लिए'' क्योंकि व्यक्ति को अपने अस्तित्व का अधिकार है।अतएव इस दृष्टि से युद्धकालीन और शांतिकालीन मानवाधिकार अविभाज्य एवं अंतर सम्बन्धित हैं और ठीक इसी तरह मानवाधिकार, नि:शस्त्रीकरण और शांति भी। मानवता को यदि जीवित रखना है तो हमें शांतिकाल के मानवाधिकारों पर अधिक बल देना होगा, पर इसका अर्थ यह नहीं है कि हम युद्धकाल के मानवाधिकरों का निषेध कर रहे हैं।

व्यक्ति को कुछ निश्चित अहस्तान्तरणीय अधिकारों का सिद्धान्त बहुत प्राचीन है। जबकिमानवाधिकारों का उद्‌गम अन्तर्राष्ट्रीय कानून है। मानव अधिकार व विश्वशांति दो ऐसे सिद्धान्त हैं जो एक दूसरे से घनिष्ठ सम्बन्धित है। बीसवीं शताब्दी एशिया, अफ्रीका और लेटिन अमेरिका महाद्वीपों की मुक्ति की साक्षी है जिसमें दुनिया की आधी जनसंख्या स्वतंत्र हुई तथा यह स्वतंत्रता मानव जाति के स्वर्णिम भविष्य का प्रतीक कही गई। इसी शताब्दी में महात्मा गांधी ने सत्य और अहिंसा का मार्ग दिखाया, पटेल ने हमें अन्याय और दमन से लड़ने का निर्देश दिया, नेहरू ने गुटनिरपेक्षता और विश्वशांति की नींव रखी। यह उपनिवेशवाद के विरूद्ध एक लहर थी जो 1947 से भारतीय तट से उठी, जिसने सम्पूर्ण विश्व की राजनैतिक, भौगोलिक स्थितियों को बदल दिया, अन्तर्राष्ट्रीय कानून ही नहीं वरन् मानव जाति के मूलभूत कानूनों की सुदीर्घ परम्परा के सिद्धान्तों और नियमों को परिवर्तित कर दिया तथा मानवाधिकारों की एकात्मकता और मानव जाति की एकता को एक नये युग में प्रवेश के लिए मानवीय चिन्तन को क्रांतिकारी बना दिया। भारत की स्वतंत्रता इस शदी की सर्वाधिक यादगार घटना है। यह ऐसा सामूहिक प्रयास था जिसमें विजेता और विजित दोनों ने एक विशिष्ट पार्लियामेन्ट एक्ट के अन्तर्गत सत्ता का शांतिपूर्ण हस्तान्तरण करने में सहयोग किया। इससे पूर्व बर्मा तथा इसके पश्चात् सीलोन को स्वतंत्रता मिली। नेल्सन मण्डेला के नेतृत्व में दक्षिणी अफ्रीका की स्वतंत्रता इस दिशा में एक और महत्त्वपूर्ण अनुभव था। ऐसे स्वायत्त राज्यों की घोषणाओं के साथ ब्रिटेन ने दूसरे शासकों के समक्ष मानवीय आधार प्रस्तुत किया। यद्यपि इस शताब्दी के अंत तक भी चीन के कानों में

यह आवाज नहीं पहूंची है कि वह तिब्बत को स्वतंत्र कर दे तथा तिब्बतियों के मानवाधिकारों की बहाली कर विश्वशांति के नये युग का प्रारम्भ कर दे।

मानव जाति के अहस्तान्तरणीय अधिकारों का विचार कवियों, दार्शनिकों, राजनीतिज्ञों द्वारा प्राय: किया जाता रहा है अत: मानवाधिकारों के अन्तर्राष्ट्रीय संरक्षण का विकास भी प्राचीन काल से माना जा सकता है। अर्थात् मानव अधिकार उतने ही प्राचीन हैं जितनी मानव सभ्यता। स्वस्थ समाज के अस्तित्व की पहचान मानव अधिकारों की पहचान ही है। हमारे आगम मानव जाति के भाईचारे और पूरे विश्व को परिवार के रूप में देखते आये हैं। परिवार की सदस्यता की बाध्यता के बावजूद मानवता एक परिवार है। भारतीय ऋषि-मुनियों ने सदैव विश्वबन्धुत्व, प्रेम एवं वसुधैव कुटुम्बकम् के गीत गाये हैं। गुरुनानक ने कहा था-कोई मेरा शत्रु नहीं है, कोई बाहरी नहीं है, सभी मेरे हैं, मेरे बन्धु हैं। महावीर भाईचारे तक ही सीमित नहीं रहे, अपितु वे प्राणी समानता तक आगे बढ़े। फ्रेंच डिक्लेरेशन ऑफ ह्यूमन राइट 1789, अमेरिकन बिल ऑफ राइट्स 1791, अबोलिशन ऑफ स्लेवरी इन ब्रिटिश एम्पायर, 1833 आदि विधान भी मानव जाति के प्राकृतिक अधिकारों के सिद्धान्तों पर आधारित है।

ये और इन्हीं के समान कुछ अन्य विधान निश्चित ही मील के पत्थर थे जिससे एक व्यक्ति राजाओं की स्वेच्छाचारिता तथा तानाशाहों, साम्राज्यवादियों एवं उपनिवेशकों के विरूद्ध अपना संरक्षण कर सका। व्यक्ति के अधिकारों द्वारा ही स्वतंत्र समाज में स्वतंत्र जीवन-यापन ने पहचान ली। मानव सभ्यता के इतिहास में 1945 में हुए जापान में परमाणु आक्रमण ने एक ऐसा आधार तैयार किया जिससे नये विश्व की दृष्टि समाहित किये संयुक्त राष्ट्र अस्तित्व में आया। जहां मानव कल्याण और मानव अधिकारों द्वारा जाति, वर्ण, प्रदेश और धर्म के भेदभाव के बिना सामूहिक कल्याण के साथ व्यक्तिगत कल्याण की गारंटी दी गई। मानवाधिकारों के लिए समकालीन प्रयास 50 वर्ष पूर्व 10 दिसम्बर 1948 को मानवाधिकारों की सार्वभौमिक घोषणा से प्रारम्भ हुए। नानी पालकीवाला के अनुसार-"यह विश्व अभी भी पाशविक हो सकता है लेकिन हमारे अतीत के अनुभव यह दर्शाते हैं कि विश्व परिष्कार कर रहा है। यद्यपि इसकी गति अत्यन्त धीमी है।" महात्मा गांधी ने कहा था-यह सदैव एक आश्चर्य बना रहेगा कि क्यों और कैसे एक व्यक्ति अपने ही बन्धु को अपमानित कर सम्मान का अनुभव करता है।

संयुक्त राष्ट्र का मूलभूत दायित्व मानवाधिकारों की सुरक्षा है। संयुक्त राष्ट्र चार्टर की प्रस्तावना में सदस्य राष्ट्रों ने मूलभूत मानवाधिकारों तथा मानव के सम्मान और उसकी योग्यता में विश्वास व्यक्त किया है। धारा एक में संयुक्त राष्ट्र सदस्यों ने मानवाधिकारों के प्रति सम्मान तथा जाति, लिंग, भाषा और धर्म के भेदभाव के बिना सभी के लिए मूलभूत स्वतंत्रता की प्रतिज्ञा की है।नि:सन्देह जीने का अधिकार प्रथम मानवाधिकार है तथा जीवन का अर्थ अस्तित्व से कहीं अधिक है। किसी व्यक्ति को जीवन जीने (भरण-पोषण) के अधिकार से वंचित करना उसे जीवन से वंचित कर देना है। महात्मा गांधी ने जोर देकर कहा था-प्रत्येक मनुष्य को जीने का अधिकार है और इसलिए उसे अपने भरण-पोषण का अधिकार भी है। जीने का अधिकार एक मूलभूत मानवाधिकार होने के बावजूद उस समय विडम्बना बन जाता है जब कानून निष्प्रभावी बनकर अराजकता की स्थिति पैदा कर देते हैं। अतएव मानवाधिकारों का प्रावधान कर देना ही पर्याप्त नहीं है, उन्हें प्रभावी ढंग से लागू भी किया जाना चाहिए।

मानवाधिकारों की सार्वभौमिक घोषणा के साथ ही इसे बहुत से नये राष्ट्रों के संविधानों में समाहित कर लिया गया और इसने अन्तर्राष्ट्रीय आचार संहिता पर एक सकारात्मक प्रभाव डाला। इस घोषणा पत्र की धारा 25 में यह उल्लिखित है कि प्रत्येक व्यक्ति को ऐसे जीवन स्तर का अधिकार है

जो उसके और उसके परिवार के सदस्यों के लिए पर्याप्त हो। इसमें भोजन, वस्त्र, आवास और चिकित्सा सुविधायें सम्मिलित हैं। मानवाधिकारों के मामलों में संयुक्त राष्ट्र की प्रभावशीलता इसके सदस्य राष्ट्रों की अभिवृत्तियों से घनिष्ठ रूप से जुड़ी है। संयुक्त राष्ट्र के चार्टर के अन्तर्गत प्रत्येक सदस्य राष्ट्र का यह दायित्व है कि वह अपने अधिकार क्षेत्र में मानवाधिकारों के प्रति सम्मान को सुनिश्चित करे। मानवाधिकारों के अन्तर्राष्ट्रीय बिल के प्रावधान सरकारों के लिए ही है।

मानवाधिकार एक शताब्दी पूर्व अब्राहिम लिंकन की उस घोषणा के अनुरूप अभी भी विकसित नहीं हो पाये हैं जिनमें उन्होंने कहा था-अधिकारों की घोषणा कर परिस्थितियों के अनुरूप तेजी से उन्हें प्रभावी बनायें। जो सभी के द्वारा सम्मानित हों, जिसे सब समान दृष्टि से देखें, जिसके लिए सभी समान श्रम करें तथा जिसका प्रभाव समान रूप से व्यापक हो। एक समान खुशियां फैले तथा सभी वर्गों एवं क्षेत्रों में सर्वत्र जीवन का मूल्य हो।

संयुक्त राष्ट्र का उद्‌भव अन्तर्राष्ट्रीय संकटों के शांतिपूर्ण निपटारे में अन्तर्राष्ट्रीय दायित्व को पूरा करने के लिए हुआ था। संयुक्त राष्ट्र को हमें एक न्यायपूर्ण, सुरक्षित विश्व व्यवस्था को शांतिपूर्ण साधनों से प्राप्त करने का अपूर्ण किन्तु अपरिहार्य साधन समझना चाहिये। अन्तर्राष्ट्रीय डिक्लेरेशन एवं कन्वेन्शन में मानवाधिकार के क्षेत्र में जो विकास हुआ है, तभी वास्तविक होगा जब वह स्थानीय स्तर पर निम्न से निम्न व्यक्ति के उत्थान से सम्बन्धित कार्यों में प्रतिबिम्बित होगा। मानवाधिकार घोषणा पत्र को राष्ट्रों द्वारा वैश्विक स्वीकृति की भावपूर्ण अभिव्यक्ति करते हुए संयुक्त राष्ट्र पूर्व महासचिव ऊथां ने तेहरान में आयोजित मानवाधिकारों पर अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन में कहा था-चालीस से अधिक राष्ट्रों के संविधान जो हाल ही के वर्षो में बनाये गये हैं स्पष्ट रूप से वैश्विक घोषणा-पत्र से प्रभावित है, लेकिन वे इस क्षेत्र में विकास की दृष्टि से पर्याप्त नहीं है।

प्रत्येक राष्ट्र मानवाधिकारों के हनन की रोकथाम के लिए अपने कानून बनाता है पर अभी भी यह विचारणीय है कि क्या उन कानूनों की शक्ति उतनी है जितनी की मानवाधिकारों के सम्मान के लिए आवश्यक है। अभी भी ऐसी बहुत से क्षेत्र एवं परिस्थितियां है जहां बड़े पैमाने पर मानवाधिकारों का हनन किया जा रहा है। दलाई लामा ने तिब्बत के सम्बन्ध में ऐसी परिस्थितियों का आकलन करते हुए कहा था कि सम्पूर्ण तिब्बती क्षेत्र को शांति और अहिंसा का क्षेत्र घोषित कर देना चाहिए। न केवल भारत के लिए अपितु सम्पूर्ण विश्व के लिए यह एक महत्त्वपूर्ण कदम हो सकता है कि हिन्द महासागर को शांति क्षेत्र घोषित कर दिया जाए। युद्ध के स्थान पर शांति की मांग सर्वोच्च मानवाधिकार है। हिन्द महासागर में सैनिक अड्डों की सैनिक गतिविधियों के स्थान पर विश्वशांति की चाह रखने वालों के लिए हिन्द महासागर को शांति क्षेत्र घोषित किया जाना मील का पत्थर साबित हो सकता है। शांति केवल किसी भूमि के टुकड़े तक ही सीमित न होकर इसका विस्तार सम्पूर्ण जल, थल व नभ पर्यन्त होना चाहिए। किसी भी क्षेत्र के शांति क्षेत्र घोषित होने से यह तथ्य भी स्पष्ट होगा कि शांति काल्पनिक नहीं है बल्कि वास्तविक है। महावीर से गांधी तक शांति और अहिंसा की संस्कृति शताब्दियों तक हिन्दुस्तान की माटी को महकाती रही है। शांति हमारे खून में है, निश्चित ही उसकी गर्मी विश्व पर्यन्त फैलेगी।

विश्व मानव व्यवस्था एक कानूनी वास्तविकता है तथा शांति की संस्कृति प्रतिष्ठापित करने का कार्य संयुक्त राष्ट्र के चार्टर ने किया है। चार्टर के लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए प्रत्येक अधिकार और कर्त्तव्य मानवाधिकारों के वैश्विक घोषणाओं में अप्रत्यक्ष रूप से अन्तर्निहित है। शांति को क्रियान्वित करने और मानवाधिकारों की वास्तविकता के लिए जो प्रयत्न आवश्यक हैं वे भविष्य के गर्भ में हैं।

8.मानवाधिकार एवं संघर्ष निराकरण

मानवाधिकारों का सीधा सम्बन्ध संघर्ष से नहीं है, लेकिन संघर्षों के दौरान मानव अधिकारों का अत्यधिक महत्त्व है। मानव अधिकारों से यहां हमारा अभिप्राय उन अधिकारों से है जो संयुक्त राष्ट्र और क्षेत्रीय संगठनों द्वारा स्वीकृत किये गये हैं। इनमें इण्टरनेशनल बिल ऑफ राइट्स, यूनिवर्सल डिक्लेरेशन ऑफ ह्यूमन राइट्स (संयुक्त राष्ट्र द्वारा 1966 में अंगीकृत), कन्वेंशन फॉर दी एलीमिनेशन ऑफ रेसियल डिस्क्रिमिनेशन (1965), द कन्वेंशन अगेन्स्ट स्लेवरी और कन्वेंशन अगेन्स्ट जेनोसाइड सम्मिलित हैं।

8.1 मानवाधिकार व्यवस्था की विषयवस्तु–अधिकारों को दो श्रेणियों में विभाजित किया जा सकता है.1. स्वतंत्रताएं (Freedom) और 2. मांग (Demand)।स्वतंत्रता का सम्बन्ध मानवीयअखण्डता से है। स्वतंत्रता में स्वेच्छाचारी प्रतिबंधों या वैयक्तिक स्वतंत्रता से वंचित करने वोल प्रयत्नों से स्वतंत्रता, यातना, क्रूरता के अन्य तरीकों व अमानवीय व्यवहार से मुक्ति तथा इससे भी अधिक एक व्यक्ति के जीवन को छीन लेने से स्वतंत्रता आदि सम्मिलित होते हैं। इनके साथ ही कार्य की स्वतंत्रता, अभिव्यक्ति व संघ बनाने की स्वतंत्रता भी इसमें निहित है। कार्य की स्वतंत्रता इस रूप से दी गई है जिससे दूसरों के अधिकारों का भी सम्मान हो सके।

मानव अधिकारों में जो मांगें सम्मिलित की गई हैं, वे कुछ भिन्न प्रकृति की हैं। इनमें राज्य सत्ता द्वारा व्यक्तियों या समूहों पर की जाने वाली हिंसा से सुरक्षा की मांग तथा व्यक्तियों या समूहों द्वारा राज्य सत्ता से कुछ निश्चित आवश्यकताओं की पूर्ति की गारण्टी की मांग सम्मिलित है। यद्यपि स्वतंत्रता का अधिकार राज्य शक्ति के क्रियाकलापों को सीमित करता है जबकि मांगें राज्य की सक्रियता चाहती हैं, क्योंकि मांगों की पूर्ति हेतु राज्य व्यवस्था को आवश्यक और पर्याप्त रूप से विकसित किया जाना अपेक्षित है।

8.2 राज्य के कर्त्तव्यों का स्वरूप–राज्य के कर्त्तव्यों को मूलत: तीन श्रेणियों में बांटा जा सकता है:–

- सम्मान का कर्त्तव्य (Duty to Respect)
- सुरक्षा का कर्त्तव्य (Duty to Protect)
- आवश्यकताओं की पूर्ति का कर्त्तव्य (Duty to fulfill)

सम्मान के कर्त्तव्य का निर्वहन करने के लिए राज्य तथा उसके अंगों व प्रतिनिधियों के लिए यह आवश्यक है कि वे ऐसे कार्यों से बचें जो व्यक्ति की स्वतंत्रता व अखण्डता को बाधित करते हों। सुरक्षा के कर्त्तव्य के निर्वहन के लिए राज्य के लिए यह आवश्यक है कि वह अखण्डता, कार्य की स्वतंत्रता या व्यक्ति के अन्य अधिकारों के हनन की रोकथाम के लिए आवश्यक व कारगर उपाय सुनिश्चित करे। आवश्यकताओं की पूर्ति हेतु राज्य के लिए यह आवश्यक है कि वह प्रत्येक व्यक्ति के लिए उन आवश्यकताओं की पूर्ति की संभावनाओं को सुनिश्चित करे जो मानवाधिकार व्यवस्था में निर्दिष्ट की गई हैं। जैसे कार्य का अधिकार, पर्याप्त जीवनस्तर का अधिकार, स्वास्थ्य, सेवा व शिक्षा का अधिकार आदि।

मानवाधिकार कानून के अन्तर्गत राज्य की दोहरी भूमिका है। राज्य को अपने कार्यों के लिए कुछ सीमाएं स्वीकार करनी चाहिए साथ ही मानव अधिकारों की आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए सक्रिय कदम उठाये जाने की भी बाध्यता है। राज्य की इस दोहरी भूमिका को लेकर यद्यपि कुछ तनाव है, इस पर विमर्श आवश्यक है।मानव अधिकार व्यवस्था में व्यक्तियों या समूहों के अधिकारों के साथ कुछ कर्त्तव्य भी हैं। इण्टरनेशनल डिक्लेरेशन की धारा 29 के अनुसार प्रत्येक व्यक्ति का अपने समुदाय

के प्रति दायित्व है, जिसमें उसके व्यक्तित्व का स्वतंत्र व सम्पूर्ण विकास संभव है। यद्यपि धारा 29 एक व्यक्ति के कर्त्तव्यों की दृष्टि से अनिश्चित सी है। भेदभाव की रोकथाम एवं अल्पसंख्यकों के संरक्षण के लिए संयुक्त राष्ट्र के एक उप आयोग ने अपनी विशेष रिपोर्ट में व्यापक अध्ययन के पश्चात् निम्नांकित कर्त्तव्यों को सूचीबद्ध किया है-शांति और सुरक्षा के सम्मान का कर्त्तव्य, युद्ध के प्रचार से बचने का कर्त्तव्य, राष्ट्रीय, जातीय और धार्मिक घृणा फैलाने से बचने का कर्त्तव्य, अन्तर्राष्ट्रीय मानवतावादी कानून को स्वीकार करने का कर्त्तव्य तथा मानवाधिकार और मूलभूत स्वतंत्रताओं को उन्नत करने एवं तदनुरूप आचरण करने का कर्त्तव्य।

घरेलू कानून के अन्तर्गत एक राज्य व्यक्तियों पर कर्त्तव्यों को लागू करने के अधिकार रखता है। लेकिन प्रभावी किये जाने वाले कर्त्तव्यों की एक सीमा है जैसा कि धारा 29 के पैरा 2 में कहा गया है-अपने अधिकारों एवं स्वतंत्रताओं का उपयोग करते समय प्रत्येक व्यक्ति केलिए कुछ ऐसी सीमाएं होंगी जो दूसरों के अधिकारों व स्वतंत्रताओं की सुरक्षा एवं प्रजातांत्रिक समाज में नैतिकता, व्यवस्था और सामान्य कल्याण की आवश्यकता पूर्ति हेतु कानून द्वारा निर्धारित की जाएगी।

8.3 संघर्षों के दौरान मानवाधिकारों का प्रयोग-एक राज्य खुले संघार्षों के दौरान मानवाधिकारों के सम्मान, संरक्षण एवं आवश्कताओं की पूर्ति के लिए बाध्य है। उपद्रव, अपगमन के लिए युद्ध (a war of secession) या क्रांति के समय भी राज्य मानवाधिकारों की बहाली के लिए बाध्य है।

सरकारें प्राय: यह तर्क प्रस्तुत करती हैं कि प्रतिपक्षी आतंकवादी गतिविधियों में लिप्त हैं, इसलिए सरकार द्वारा किये जाने वाले वे कार्य भी उचित हैं जो अन्य स्थितियों में गैर कानूनी होते।

मानवाधिकार इतने व्यापक अपवाद नहीं मानता। यद्यपि एक परिवर्तन किया जा सकता है कि आपातकाल के समय जब राष्ट्र के अस्तित्व को खतरा हो तो कुछ अधिकार अस्थाई रूप से सीमित किये जा सकते हैं।' किन्तु कुछ अधिकार किसी भी परिस्थिति में सीमित नहीं किये जा सकते। जैसे जीने का अधिकार, यातना व दुर्व्यवहारों से मुक्ति का अधिकार, गुलामी से मुक्ति का अधिकार, कानून के समक्ष प्रत्येक व्यक्ति को एक व्यक्ति के रूप में पहचान का अधिकार, विचार, संज्ञान और धर्म की स्वतंत्रता का अधिकार, कानून के अनुसार कार्य करने के सिद्धान्त का अधिकार आदि। राज्य को सदैव इन अधिकारों का सम्मान करना चाहिए तथा दूसरे जो इन अधिकारों का हनन करते हैं उनको रोकने का कार्य भी राज्य को करना चाहिए।पूछताछ के समय फांसी, नजरबंदी और दुर्व्यवहार किसी भी और सभी परिस्थितियों में वर्जित है। यद्यपि यहां साक्ष्य की समस्या है। सरकारें प्राय: इस बात से इंकार कर देती है कि ये कार्य जिनके द्वारा किये गये हैं वे उनके प्रतिनिधि हैं। अगर वे सरकार के प्रतिनिधि नहीं हैं तो सरकार मानव अधिकारों के हनन के लिए तब तक उत्तरदायी नहीं है जब तक कि उन्होंने इस प्रकार के कार्य करने वाले समूहों को रोकने में लापरवाही न बरती हो।

आपातकाल के समय अधिकारों को सीमित करने का अधिकार कई अन्य प्रकार से भी सीमित है। प्रथमत: यह तभी किया जा सकता है जब राष्ट्र के अस्तित्व पर गंभीर संकट हो। इस तरह का संकट, जिसके कारण अधिकार सीमित किये जाते हैं, स्पष्ट परिलक्षित होना चाहिए तथा संकटकाल में उठाये गये कदम भी अत्यन्त आवश्यक प्रतीत होने चाहिए। अन्यथा यह मानवाधिकारों का हनन ही होगा।द्वितीय, समानता के सिद्धान्त का सम्मान होना चाहिए। यदि समानता के सिद्धान्त का कठोरता से पालन नहीं किया गया तो व्यापक दमन अनावश्यक अवरोध को जन्म देगा।तृतीय सम्पूर्ण आपातकाल में भेदभाव रहित व्यवहार के सिद्धान्त का भी सम्मान होना चाहिए। अधिकारों में कमी प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष रूप से भेद-भावपूर्ण न हो। यदि सरकार उग्र कथन करने से रोकती है तो उन सबके विरूद्ध

कार्यवाही अपेक्षित है जो ऐसा करते हैं, भले ही वे सरकार के पक्ष के लोग हों या अन्य पक्ष के।चतुर्थ अधिकारों में कमी तथा ऐसे सभी कदम जो इसके अन्तर्गत उठाये गये हैं सामान्य स्थिति की बहाली तक ही सीमित होने चाहिए तथा मानव अधिकारों के सम्मान हेतु इन्हें जितना शीघ्र संभव हो समाप्त कर दिया जाना चाहिए।

मानवाधिकार कानून संग्राम की स्थितियों में सीधे रूप से व्यवहार नहीं करता। ऐसी स्थिति में सामान्य प्रावधान व्यवहार्य होते हैं। जैसे राज्य जीवन के अधिकार के सम्मान तथा क्रूर व अमानवीय व्यवहार से मुक्ति के लिए बाध्य है। यहां यह समस्या आती है जब सत्ता को ही चुनौती दे दी जाती है (जैसे राजविद्रोह या सैनिक हस्तक्षेप) तब ये प्रावधान कैसे व्यवहार्य होंगे?नागरिक और राजनैतिक अधिकारों पर अन्तर्राष्ट्रीय समझौते की धारा 6 जो जीवन के अधिकार से सम्बन्धित है, इस मुद्दे पर मौन है। मानवाधिकारों पर यूरोपियन कन्वेन्शन की धारा 2 के अनुसार जीवन की हानि उस समय विचारणीय नहीं है जब यह अत्यावश्यक शक्ति के प्रयोग के कारण हुई हो जैसे उपद्रव या राजद्रोह के दमन के लिए की जा रही कार्यवाही।नि:सन्देह मानव अधिकार कानून के समक्ष एक गंभीर समस्या है। किन परिस्थितियों में ऐसी शक्ति का प्रयोग आवश्यक है? अहिंसक प्रदर्शन और एक दंगे के बीच विभाजक रेखा क्या है? यहां तक कि दंगे में भी किसी को मारने का अधिकार नहीं है। यह कब अनिवार्य है-इसके लिए अभी भी कोई स्पष्ट मापदण्ड नहीं है। यद्यपि स्वैच्छिक रूप से नागरिकों के विरूद्ध सैनिक या पुलिस कार्यवाही, सरकार अथवा इसके एजेण्टों द्वारा आतंकवादी कार्यवाही तथा सामूहिक दण्ड आदि सदैव त्याज्य हैं। पर उन स्थितियों के लिए अभी भी अन्तर्राष्ट्रीय कानून की अपेक्षा है, जो सामूहिक यातना व जातीय घृणा को बढ़ाती हैं।

8.4 सामाजिक एवं राजनैतिक संघर्षों में मानवाधिकार की आवश्यकता-उपर्युक्त सभी विवशताएं एवं सीमाएं संघर्षों के दौरान राज्य पर लागू होती हैं, भले ही वे सामाजिक संघर्ष हों या नृवंशीय। लेकिन सामाजिक व राजनैतिक संघर्षों के समय कुछ अतिरिक्त बिन्दुओं पर ध्यान दिया जाना अपेक्षित है। जो समाधान मानवाधिकार कानून द्वारा सुझाये गये हैं उनकी पालना आवश्यक है। सामाजिक संघर्षों में अन्तर्राष्ट्रीय, सामाजिक और आर्थिक अधिकारों के अनुसार. पर्याप्त जीवनस्तर जिसमें भोजन व आवास सम्मिलित हैं, कार्य का अधिकार, शिक्षा व स्वास्थ्य सेवाओं का अधिकार आदि संरक्षित रहने चाहिए। संघर्ष के परिणामस्वरूप प्रभुत्व वाला समूह यदि दूसरे समूह का शोषण करता है तथा उनके सामाजिक अधिकार छीने जाते हैं तो मानवाधिकार कानून को चाहिए वह ऐसी परिस्थितियों को सुधारें।

राजनैतिक संघर्षों के समय भी यदि प्रभुत्व वाला समूह दूसरे समूह के लोगों को राज्य के राजनैतिक अंग के रूप में प्रवेश से इन्कार करता है तो ऐसी स्थितियों को भी ठीक करना मानवाधिकार कानून का कार्य है। यूनिवर्सल डिक्लेरेशन की धारा 21 के अनुसार प्रत्येक व्यक्ति को अपने राष्ट्र की सरकार में प्रत्यक्ष रूप से अथवा उनके द्वारा चयनित प्रतिनिधियों के रूप में हिस्सा लेने का अधिकार है तथा प्रत्येक व्यक्ति को अपने राष्ट्र की सार्वजनिक सेवाओं में प्रवेश का अधिकार है। यही धारा यह भी स्पष्ट करती है कि लोगों की ईच्छा ही सत्ता का आधार होगी।

8.5 वंशीय व जातीय संघर्षों में मानवाधिकार कानून का महत्त्व-संघर्षों के दौरान मूलभूत मानव अधिकार निरन्तर लागू रहने के प्रावधान हैं किन्तु वंशीय व जातीय संघर्षों के सम्बन्ध में कुछ अन्य मुद्दे व समस्याएं उभरकर सामने आती रही हैं। अन्तर्राष्ट्रीय मानवाधिकार कानून में भेद-भाव को पूर्णत: समाप्त किये जाने का प्रावधान है, किन्तु वंशीय व जातीय भेदभाव पर आधारित संघर्ष पूर्णरूपेण समाप्त हो; मानवाधिकार कानून द्वारा यह सुनिश्चित किया जाना आवश्यक है। मानवाधिकार कानून के

अन्तर्गत लोगों को आत्मनिर्णय का अधिकार है। इस अधिकार को इण्टरनेशनल कोवीनेंट ऑन इकोनोमिक, सोसियल एण्ड कल्चरल राइट्स तथा इण्टरनेशनल कन्वेंशन ऑन सिविल एण्ड पोलिटिकल राइट्स, जिन्हें संयुक्त राष्ट्र द्वारा 1966 में स्वीकृति प्रदान की गई हैं; को स्वीकार करते हैं। इस अधिकार के संदर्भ में दो मुद्दे उभरकर सामने आते रहे हैं-1. कौन-कौन व्यक्ति आत्मनिर्णय के अधिकार के अधिकारी हैं तथा 2. इस अधिकार की विषयवस्तु क्या है?

पहले मुद्दे के सम्बन्ध में धारा एक के अनुसार सभी लोगों को यह अधिकार प्राप्त है पर एक अन्तर अवश्य है कि कुछ राष्ट्रों के लोग इस अधिकार का उपयोग पहले से कर रहे हैं जबकि कुछ राष्ट्रों के लोगों को यह अधिकार अभी भी मिलना है। बहुराष्ट्रीय राज्य में एक देश आत्मनिर्णय का अधिकार रखता है बशर्ते वह उस राज्य में एक अलग राष्ट्र के रूप में संवैधानिक पहचान रखता हो। वे लोग जिन्होंने एक स्वतंत्र राज्य की स्थापना की हो या जिनकी स्वतंत्र राजनैतिक अस्मिता हो, लेकिन उन्हें बिना उनकी स्वतंत्र सहमति के किसी अन्य राज्य में समाहित कर दिया गया हो तो उनका आत्मनिर्णय काअधिकार अवरूद्ध हो जाता है। इस तरह की सीमाओं पर अन्तर्राष्ट्रीय कानून का ध्यान आकर्षित कर सहमति प्राप्त करना आवश्यक है।

आत्मनिर्णय से सम्बन्धित दूसरा मुद्दा अधिकारों की विषयवस्तु है। यह अब सुस्पष्ट रूप से स्थापित हो चुका है कि इस अधिकार के दो पक्ष हैं-बाह्य व आन्तरिक। बाह्य आत्मनिर्णय बाह्य (विदेशी) नियंत्रण (जैसे उपनिवेश, जातिवाद) से मुक्ति का अधिकार है जबकि आन्तरिक आत्मनिर्णय इससे भिन्न है। यह राज्य की सामाजिक, राजनैतिक व आर्थिक नीतियों के निर्धारण या परिवर्तन के लिए सरकार के स्वतंत्र गठन एवं परिवर्तन से सम्बन्धित अधिकार है जो सभी लोगों को प्राप्त है। धारा-1 के अनुसार लोग अपनी राजनैतिक व्यवस्था निर्धारण करने के लिए स्वतंत्र है, अतएव आन्तरिक आत्मनिर्णय के लिए स्वतंत्र, खुले व स्वच्छ प्रजातंत्र की आवश्यकता है।

अल्पसंख्यकों के अधिकार अन्तर्राष्ट्रीय मानवाधिकार कानून का शायद सबसे कमजोर पक्ष है। संयुक्त राष्ट्र गतिविधियों का प्रारम्भ से ही यह लक्ष्य रहा है कि अल्पसंख्यकों के संरक्षण के लिए नियम बनाये जायें। इस संदर्भ में इण्टरनेशनल कोवीनेंट ऑन सिविल एण्ड पोलिटिकल राइट की धारा-27 तक ही हम सीमित रहें हैं, जिसमें यह कहा गया है कि "जिन राज्यों में वंश, धर्म और भाषाई अल्पसंख्यक रहते हैं उन्हें अपनी संस्कृति, अपने धर्म और अपनी भाषा के प्रयोग से रोका नहीं जाएगा। धारा 27 की कई प्रकार की व्याख्याएं की जाती रही हैं। कुछ विद्वान् संस्कृति के सिद्धान्त में भौतिक के साथ-साथ आध्यात्मिक पक्ष का समावेश किये जाने के लिए तर्क प्रस्तुत करते हैं। उनका कहना है कि संस्कृति को बनाये रखने के लिए उन प्राकृतिक व अन्य संसाधनों पर नियंत्रण की अपेक्षा है जिनके आधार पर संस्कृति का निर्माण हुआ है। वे लोग जो जंगलों में रहते हैं, जिन्होंने अपने जीवन और शिकार के लिए जंगल के उपयोग पर आधारित संस्कृति का विकास किया है, उन्हें अपनी कला, नृत्य एवं रीति-रिवाजों को बनाये रखने का अधिकार है। वे वन और वनीय संसाधनों के नियंत्रण के अधिकारी भी निरन्तर बने रहने चाहिए, अन्यथा उनकी संस्कृति नष्ट हो जाएगी। कुछ विद्वानों का यह मानना है कि धारा 27 संस्कृति के केवल अभौतिक पक्ष की ही सुरक्षा करती है।

वंश और जाति संहार की घटनाएं भी व्यापक हैं। वंश संहार के परिणामस्वरूप एक नृवंश को उनकी अपनी भाषा बोलने से या उनके बच्चों को उस भाषा में शिक्षा ग्रहण करने से रोका जाता है। उन्हें लिखने के अधिकार तथा अपनी संस्कृति को बनाए रखने वाली आवश्यक भौतिक स्थितियों से वंचित किया जाता है। जाति संहार में एक देश, एक वंश, एक जाति या एक धार्मिक समुदाय का

पूर्णत: या आंशिक संहार के लिए कार्य किया जाता है। जाति संहार को यद्यपि अन्तर्राष्ट्रीय कानून के अन्तर्गत अपराध माना गया है पर अभी भी इस पर प्रभावशाली नियंत्रण स्थापित नहीं हो पाया है।

अत: मानवाधिकार कानून संघर्षों के निराकरण के लिए महत्त्वपूर्ण आधार प्रस्तुत करता है, विशेषकर सामाजिक और राजनैतिक संघर्षों के निराकरण के लिए। लेकिन मानवाधिकार की व्यवस्थाएं जातीय संघर्षों के लिए अभी भी कम सहायक हो पा रही हैं।

9. मानवीय गरिमा का आदर

'गरिमा' शब्द का प्रयोग विश्व भर के विभिन्न संविधानों, मानवाधिकारों से संबंधित अन्तर्राष्ट्रीय दस्तावेजों और यहां तक कि भारतीय संविधान में भी किया गया है। यदि आप 'मानवाधिकार संरक्षण कानून 1993' (The Protection of Human Rights Act, 1993) में 'मानवाधिकार' शब्द की परिभाषा पढ़ें, तो आपको पता चलेगा कि यह 'व्यक्ति की गरिमा' का वर्णन करता है। पर इनमें से कोई भी दस्तावेज 'गरिमा' शब्द को परिभाषित नहीं करता है। वैब्सटर बीसवीं सदी शब्दकोष (1959) में इस शब्द के अनेक अर्थ दिये गये हैं, जैसे 'योग्यता' (Worthiness), 'श्रेष्ठता' (Nobility), 'सम्मान' (Honour) 'योग्यता का अंश' (thedegree of worth) और 'आत्म-सम्मान'। इस शब्द का मूल (Root) इसके अर्थ पर कुछ प्रकाश डाल सकता है। यह शब्द 'Dignity' लैटिन भाषा के शब्द 'Dignitas' से निकला है, जिसका अर्थ है 'योग्यता' (Worth), 'Dignity' शब्द का एक अर्थ है आन्तरिक योग्यता (Intrinsic Worth)। इस प्रकार जब संयुक्त राष्ट्र का घोषणा-पत्र व्यक्ति की 'Dignity and Worth' का वर्णन करता है, तो वह एक ही विचार के लिये दो समानार्थक शब्दों का प्रयोग करता है। दूसरे दस्तावेज 'प्राकृतिक गरिमा' (Inherent Dignity) की बात करते हैं, जिसका अर्थ लगभग 'आन्तरिक योग्यता' (Intrinsic Worth) होता है।

किसी व्यक्ति के प्रति 'आदर', 'आन्तरिक योग्यता' (Intrinsic Worth), अथवा 'प्राकृतिक गरिमा' से क्या तात्पर्य है? 'आदर' (Respect) शब्द के कई अर्थ हैं : 'esteem', 'deference', 'aproper regard for', 'recognition of' इन सब शब्दों का एक सापेक्ष पक्ष है (जैसे, कोई व्यक्ति किसी दूसरे व्यक्ति के बारे में कैसे अनुभव करता है, अथवा सोचता है) और एक निरपेक्ष पक्ष है (जैसे, कोई व्यक्ति किसी दूसरे व्यक्ति के साथ कैसा व्यवहार करता है।) ये दोनों मानवाधिकारों के सन्दर्भ में सार्थक हैं।

'मानव प्राणी की गरिमा' और 'मानवीय गरिमा' ऐसे शब्द-समूह हैं, जिन्हें सब लोगों के द्वारा व्यापक अर्थ में स्वीकृत आधारभूत मूल्य की अभिव्यक्ति के रूप में प्रयोग किया गया है।

'मानवाधिकार' और 'प्राकृतिक गरिमा' शब्दों का प्रयोग प्राय: समानार्थक शब्दों के रूप में प्रयोग किया जाता है। प्राकृतिक नियम के कारण एक व्यक्ति की प्राकृतिक (स्वाभाविक) गरिमा होती है। अधिकार मानवीय गरिमा की मूल परिकल्पना से निकलते हैं। समाजशास्त्र के दृष्टिकोण से यह एक ऐसा विचार (concept) है, जिसको हमने अपने आपको अन्य जीवित प्रजातियों से अलग रखने के लिए स्वीकार करने का निर्णय किया है और जिसको हम उन प्राणियों पर लागू करना चाहते हैं, जिन्हें हम 'मानव' (Human) समझते हैं।

निम्नलिखित सूची में उस आचरण के कुछ उदाहरण दिये गये हैं, जो किसी व्यक्ति की गरिमा को ठेस पहुंचाते हैं अथवा तुच्छ बनाते हैं।

- वे कथन, जो व्यक्तियों अथवा समूह को उनकी उत्पत्ति, स्तर (status) अथवा मान्यताओं के कारण नीचा दिखाते हैं अथवा अपमानित करते हैं।
- किसी व्यक्ति को मूल अधिकारों पर दृढ़तापूर्वक दावों की क्षमता से वंचित करना।
- हिरासत में रखे गये किसी व्यक्ति को ऐसे मनोवैज्ञानिक अथवा शारीरिक तरीकों से, जिनका तात्पर्य उसकी मान्यताओं, उत्पत्ति अथवा जीवन जीने के तरीके को अपमानित करते हों, अथवा हंसी उड़ाते हों, से दण्ड देना।
- अप्रत्यक्ष रूप से ऐसा संकेत देना कि किसी विशेष समूह के सदस्य निम्न कोटि (Inferior) के हैं।
- पारिवारिक जीवन को बनाये रखने के लिए अवसरों और साधनों पर प्रतिबंध।
- किसी व्यक्ति अथवा व्यक्तियों के समूह को शैक्षिक अथवा रोजगार के अवसरों से वंचित करना।
- रहन-सहन की दशाओं को नीचा गिराना और मूल आवश्यकताओं से वंचित करना।
- अधिकारियों द्वारा दुरुपयोग, विशेषकर किसी विशेष प्रकार की दुर्बलताओं से पीड़ित व्यक्तियों का।
- चिकित्सकीय इलाज अथवा अस्पताल की देखभाल में संवेदनशून्यता।

मानवीय गरिमा और मानवाधिकारों का संबंध हमारे लिये विशेष रुचि का विषय है। ऐसा कहा जाता है कि सारे मानवाधिकार और मूल स्वतन्त्रताएँ 'मानव प्राणी की नैसर्गिक गरिमा से निकलते हैं।' इसमें यह संकेत निहित है कि 'अधिकार' किसी देश अथवा किसी अन्य बाहरी शक्ति से नहीं निकलते, वे तो मनुष्य में प्राकृतिक रूप से (Inherent) हैं। दो परस्पर संबंधित विचार (कथन) हैं कि ये अधिकार किसी अधिकारी के द्वारा किसी को दिये नहीं जाते, और इसलिये वे ऐसे किसी अधिकारी से वापस नहीं लिये जा सकते और यह कि ये अधिकार प्रत्येक व्यक्ति के, उसके मानव होने के कारण, होते हैं।

हमारे संविधन निर्माताओं के दिमाग में व्यक्ति की गरिमा सर्वोच्च महत्त्व की थी। उनका उद्देश्य कुछ 'मूल अधिकारों' की गारण्टी देकर और राज्य (State) को अपनी नीतियां समस्त नागरिकों की गरिमा को सुनिश्चित करने की ओर उन्मुख करने के लिये, नीति-निर्देशक तत्त्वों के रूप में दिशा-निर्देश जारी करके व्यक्ति के जीवन की गुणवत्ता को सुधारना था।मानव-गरिमा को मानवाधिकारों के 'स्रोत' के रूप में स्वीकृति नये अधिकारों का सृजन करके मानवाधिकारों का विस्तार कर सकती है और उन्हें मजबूत बना सकती है। नियम के तौर पर गरिमा के उल्लंघन से भी कानूनी कार्यवाही और अधिकारों पर जोर देकर निबटने की आवश्यकता है। गरिमा के प्रति आदर अधिकार के दावों पर जोर देकर अथवा सामाजिक प्रक्रिया, जैसे कि शिक्षा, भौतिक मान्यता और राजनैतिक नेतृत्व और इसी प्रकार की अन्य बातों के माध्यम से जागृत किया जा सकता है।

लोकतांत्रिक दर्शन अनेकान्तवादी है और वह प्रत्येक व्यक्ति को बेजोड़ मानता है। लोकतंत्र का विश्वास है कि प्रत्येक व्यक्ति विलक्षण है। व्यक्तित्व का समादर तथा उसका विकास न केवल उन्नति के लिए आवश्यक है, अपितु समाज के लिए भी आवश्यक है। व्यक्ति अपने अद्वितीय व्यक्तित्व द्वारा समाज को अनुपम योगदान कर सकता है। समाज व राष्ट्र में अनेक ऐसे व्यक्ति होते रहे हैं, जिन्होंने अपने व्यक्तित्व से न केवल समाज को, न केवल राष्ट्र को बल्कि विश्व को प्रभावित किया है। गांधी, मार्टिन लूथर किंग आदि व्यक्तियों ने पूरे समाज व राष्ट्र की दिशा को ही बदला है। इसी प्रकार से अनेक ऐसे व्यक्ति इतिहास में हो गये हैं जिनके अनुपम योगदान को आज भी यह विश्व याद करता

है। लोकतंत्र की यह मान्यता है कि ऐसे व्यक्तित्व का विकास हर व्यक्ति कर सकता है, उसे इसकी पूर्ण स्वतंत्रता है, इसलिए हमें मानवीय गरिमा का आदर करना ही चाहिए।

9.1 राज्य व्यवस्था में प्रत्येक व्यक्ति की भागीदारी–लोकतंत्र का यह भी विश्वास है कि प्रत्येक व्यक्ति उच्चतम पद पर पहुंचने का अधिकारी है तथा राज्य शासन में प्रत्येक व्यक्ति का हिस्सा है। इस दृष्टि से भी मानवीय गरिमा व व्यक्तित्व का आदर अपेक्षित है। प्रत्येक व्यक्ति क्षमता के आधर पर समान है, पर उन क्षमताओं के विकास का तारतम्य हर व्यक्ति में अलग-अलग होता है। इस दृष्टि से देखा जाए तो लोकतंत्र का उपरोक्त विश्वास और भी अधिक पुष्ट होता है। प्रत्येक व्यक्ति में यह सामर्थ्य है कि वह राष्ट्र के उच्चतम पद पर पहुंच सकता है, अपेक्षा है अपने सामर्थ्य को निरावरण करने की। व्यक्ति की गरिमा को स्वीकार करने से ही राष्ट्र के शासन में उसकी भागीदारिता को भी स्वीकार किया जा सकता है अन्यथा विश्व में आज भी अनेक राष्ट्र हैं जहां मानवीय गरिमा का खुलकर विरोध होता है तथा जहां मानवता सिसकती है और राष्ट्र शासन में हिस्सा लेना तो उन लोगों के लिए एक स्वप्न ही होता है। इसलिए विश्वशांति व स्वस्थ लोकतंत्र के लिए भी हमें मानवीय गरिमा व व्यक्तित्व को आदर देना होगा।

9.2 व्यक्ति का विकास स्वयं के पुरुषार्थ से–लोकतंत्र में व्यक्ति जो कुछ है, अपने स्वयं के कारण है, न कि वंश परम्परा, जाति, धर्म अथवा अन्य किसी बाह्य कारण के फलस्वरूप। व्यक्ति जो कुछ बनना चाहता है, अपने प्रयत्न तथा पुरुषार्थ से बन सकता है, अत: इनकी शिक्षा में भी अध्यवसाय, स्वावलम्बन, धैर्य, आत्म-विश्वास आदि गुणों के विकास पर जोर दिया जाता है। आर्थिक गुणों की दृष्टि से श्रम-निष्ठा, आलस्य के प्रति घृणा आदि भावों को विकसित किया जाता है। राजनैतिक दृष्टि से लोकतंत्र के आदर्शों के प्रति निष्ठा, कर्त्तव्य तथा अधिकारों के प्रति समर्पण आदि भावों को जागृत किया जाता है। इन गुणों के विकास के लिए सार्वभौम शिक्षा की व्यवस्था की जाती है, जिससे कि प्रत्येक बालक की विकास-संबंधी संभावनाओं का पता लगाया जा सके। इन संभावनाओं के आधार पर ही व्यक्ति अपना निर्माण स्वयं करता है। इसलिए भी व्यक्ति की गरिमा का आदर अपेक्षित है।

9.3 मानवीय गरिमा से संबंधित कांट के विचार–जर्मन दार्शनिक कांट ने मनुष्य के व्यक्तित्व की स्वतंत्रता और उसके सम्मान से संबंधित एक महत्त्वपूर्ण सूत्र दिया है। उनका यह सूत्र लोकतंत्र का प्राण है-''व्यक्ति को सदा ही साध्य समझा जाना चाहिए, किसी साध्य का साधन नहीं।'' उन्होंने स्पष्ट रूप से कहा है-''इस प्रकार कार्य करो कि स्वयं तुम में तथा दूसरों में निहित मनुष्यता साधन मात्र न रहकर सदैव अपने आप में साध्य बनी रहे।'' कांट का यह नियम बतलाता है कि हमें स्वयं अपनी तथा दूसरों की स्वतंत्रता एवं प्रतिष्ठा का पूर्ण सम्मान करना चाहिए। इसके अनुसार हमें अपने आपको केवल इच्छाओं की तृप्ति का तथा अन्य व्यक्तियों को केवल अपनी इच्छा तृप्ति का साधन मात्र कदापि नहीं मानना चाहिए।

बौद्धिक प्राणी होने के नाते प्रत्येक मनुष्य का अपना स्वतंत्र व्यक्तित्व तथा गरिमा होती है। इसे अपनी इच्छाओं की तृप्ति के लिए कुचलने का किसी को अधिकार नहीं है। इसके अतिरिक्त किसी व्यक्ति को यह अधिकार भी नहीं होना चाहिए कि वह दूसरों की इच्छाओं को तृप्त करने के लिए स्वयं अपने आपको साधन बनाकर अपने गौरव एवं स्वतंत्र व्यक्तित्व को नष्ट कर दे। इस प्रकार कांट का यह दर्शन हमें अपनी तथा अन्य सभी व्यक्तियों की मनुष्यता का सम्मान करने के लिए प्रेरित करता है।

9.4 बर्टेण्ड रसल व मानवीय गरिमा–बर्टेण्ड रसल ने कहा था–चूंकि मानव–प्रगति के मार्ग में एकतंत्रीय सत्ता विविध रूपों में सदैव बाधक रही है इसलिए मानव जाति के लिए उसकी वैयक्तिक स्वतंत्रता व गरिमा के आदर की सर्वाधिक आवश्यकता रही है। साम्यवाद व फासीवाद इसलिए उपेक्षणीय है क्योंकि वे वैयक्तिक स्वतंत्रता और व्यक्ति की गरिमा को महत्त्व नहीं देते। रसल ने यह भी कहा कि हम तब तक सत्य पर नहीं पहुंच सकते जब तक कि मानवीय गरिमा व व्यक्तित्व को समुचित आदर नहीं दें। क्योंकि इसके अभाव में हमें स्वतंत्र विचार एवं तर्क प्राप्त हो ही नहीं सकते। मानवीय गरिमा व व्यक्तित्व को समुचित सम्मान देने का अर्थ है–व्यक्ति की रचनात्मक कार्य शक्ति को प्रेरित करना। रसल ने कहा–जहां एक व्यक्ति दूसरे का शोषण करता हो, एक का पेट भरा अन्यों का खाली हो तो ऐसी स्थितियों में मानवीय स्वतंत्रता का कोई औचित्य नहीं है।

9.5 विश्वशांति और मानवीय गरिमा–कांट और रसल के विचारों के संदर्भ में यदि वर्तमान परिस्थितियों पर चिंतन करें तो हमें यह ज्ञात होगा कि विश्व की अशांति का मूल कारण मनुष्यता को साधन मान लेना है। अनेक विकसित राष्ट्रों ने अपनी आवश्यकताओं व इच्छाओं की पूर्ति के लिए मानवीय गरिमा का तिरस्कार किया है तथा अनेक ऐसे भूखे–नंगे लोग हैं जिन्होंने अपनी क्षुधा तृप्ति के लिए अपने मानवीय गौरव और व्यक्तित्व को इन तथाकथित विकसित राष्ट्रों के हवाले कर दिया है। दक्षिणी अफ्रीका, लेटिन अमेरिका के देश एवं अनेक इस्लामी राष्ट्र इसके सशक्त उदाहरण हैं। मानवीय गरिमा को छीनने या उसे सौंप देने के कारण विश्व में कुविकास व नव्य उपनिवेशवादी धारणाओं को बल मिला है।

मानवता के प्रति गरिमा कभी भी दूसरों की इच्छाओं की पूर्ति के साधन बनने की मनाही नहीं करती यदि वह कार्य कर्त्तव्य चेतना से प्रेरित होकर किया जाए। पर जब मनुष्य विवशतावश अपने आपको अथवा दूसरों को साधन मात्र मान लेता है और स्वयं विवश होकर दूसरों की इच्छाओं की पूर्ति करता है अथवा अपनी इच्छाओं की पूर्ति के लिए अन्य व्यक्तियों को विवश करता है तब मानवीय गरिमा खतरे में पड़ जाती है। इसी आधार पर दासता, शोषण, धोखा, बलात्कार, हत्या आदि अनैतिक बनते हैं। क्योंकि इन सबमें मानवीय गरिमा का स्पष्टत: अनादर होता है तथा दुष्कर्म करने वाला व्यक्ति या राष्ट्र दूसरों को अपनी इच्छाओं की तृप्ति का साधन मात्र मान लेता है।

9.6 मानवीय गरिमा बनाम आत्म–तुला–मनुष्य जाति एक है–यही मानवीय गरिमा का आधार हो सकता है। इस सिद्धान्त की स्वीकृति के पश्चात् किसी के अधिकारों का हनन, किसी को मारना, कष्ट पहुंचाना, शोषण करना, तिरस्कार करना क्या स्वयं को मारने, सताने या कष्ट पहुंचाने का प्रयत्न नहीं है। जैन आगमों ने स्पष्ट घोषणा की है–पुरुष! जिसे तू हनन योग्य मानता है, जिसे तू परिताप योग्य मानता है, वह तू ही है। इस आत्मतुला की भूमिका पर ही मानवीय गरिमा का आदर पुरस्कृत हो सकता है। जाति, धर्म, वर्ग, वर्ण, प्रांत, राष्ट्र, सत्ता आदि भेदों को यथार्थ व मुख्य मानकर पारस्परिक प्रेम, सद्भाव, विश्वास और न्याय की हत्या मानवीय मूल्यों की हत्या है, मानवीय गरिमा का अपमान है। इन आरोपित भेदों को वास्तविक मानकर किसी को हीन या शोषण योग्य या साधन मानना स्वयं की ही हीनता है। ये भेद प्रकृतिगत नहीं हैं बल्कि मनुष्य द्वारा ही निर्मित हैं। अत: यदि हम हर मनुष्य/हर प्राणी को आत्मवत् समझें तो मानवीय गरिमा व व्यक्तित्व के प्रति आदर सहज ही घटित होगा।

9.7 भारतीय और पाश्चात्य चिन्तन में मानवीय गरिमा–गीता, जैन, बौद्ध आदि भारतीय चिन्तन तथा यूनानी व पाश्चात्य चिन्तन में मानवीय गरिमा के प्रति आदर की बात को स्वीकारा गया है। यूनानी

दार्शनिक प्रोटोगोरस ने कहा है-मनुष्य सभी चीजों का मापदण्ड है। बाईबिल में भी मानवीय गरिमा को इस रूप में बतलाया गया है-विश्राम के दिन मनुष्य के लिए बने हैं न कि मनुष्य विश्राम के दिनों के लिए। गांधीजी ने मानवीय गरिमा को स्वीकार करते हुए कहा है-सभी मनुष्यों का समान आदर हो, इससे ही शोषण, अस्पृश्यता जैसी महामारियों का शमन हो सकेगा। कांट और रसल के विचारों को तो हम देख ही चुके हैं। गीता, जैन आदि वैदिक व श्रमण धाराएं मनुष्य की गरिमा को स्वीकार करती हैं और कहती है-सभी मनुष्य अपना स्वतंत्र विकास कर सर्वोच्च शिखर पर पहुंच सकते हैं।

अत: मानवीय गरिमा व व्यक्तित्व का सम्मान केवल लोकतांत्रिक मान्यताओं के लिए ही सार्थक नहीं है बल्कि विश्व में अशांति का कारण असमानता को दूर करने के लिए भी आवश्यक है। मानवीय गरिमा की पुन: प्रतिष्ठा के लिए ही संयुक्त राष्ट्र ने मानवाधिकार आयोग की स्थापना की है। यह सही है कि मानवता के प्रति आदर न होने से तथा मनुष्य को अपनी स्वार्थ पूर्ति का साधन समझ लेने से ही आज विकसित व विकासशील व अविकसित राष्ट्रों के बीच की खाइयां चौड़ी हुई हैं। विश्वशांति के लिए अपेक्षा है कि हमारी शिक्षा ऐसी हो जो मानवीय गरिमा के प्रति आदर सिखलाए तथा व्यक्तित्व की स्वतंत्रता में विश्वास करे।

10. विश्व समाज और विश्व नागरिकता

पिछले दो विश्व युद्धों ने मानवता के संहार का जो भयावह रूप प्रस्तुत किया है, उससे यह अनायास ही सोचना पड़ता है कि मानवता को यदि सुरक्षित रखना है तो उसे अनिवार्य रूप से युद्ध के संकट से बचाना होगा। विश्व को सुन्दर व सुखमय जीवन जीने के योग्य बनाना है तो इसे युद्ध की संभावनाओं से बचाना होगा। सम्पूर्ण विश्व एक बंधुत्व के सूत्र में बंधे और प्रत्येक व्यक्ति भौगोलिक, देशीय, जातीय, धार्मिक आदि संकीर्ण मान्यताओं से ऊपर उठकर सम्पूर्ण मानव जाति के प्रति सद्भाव रखे, तब ही विश्व शांति स्थापित हो सकती है। विश्व शांति व विश्व नागरिकता की आवश्यकता इसलिए भी है कि आज का विश्व अत्यधिक सीमित होता जा रहा है। आवागमन के साधन, संचार की सुविधा, आर्थिक अन्ताश्रितता, तकनीकी आदान-प्रदान आदि विश्व नागरिकों तथा राष्ट्रों को एक-दूसरे के निकट ला रहे हैं, इसलिए आचार्य विनोबा भावे ने आज के युग को 'संश्लेषण युग' कहा है।

भारतीय चिन्तन ने सदैव सम्पूर्ण चर-अचर को एक सूत्र में बांधने का प्रयास किया है। सम्पूर्ण विश्व को एक परिवार के रूप में देखने और विश्व बंधुत्व की मान्यता को आगे बढ़ाने का ध्येय सदा से ही भारतीय संस्कृति का आधार रहा है। इस मान्यता के पीछे सम्पूर्ण जीवों में आत्मा की उभयनिष्ठता प्रधान रही है। इस अर्थ में सभी मानव चाहे वे किसी देश के हों, जाति के हों, धर्म के हों, उनमें मतभेद नहीं बल्कि उनके सह-अस्तित्व को स्वीकार किया गया है। परन्तु आज विश्व समाजों में जो कठोर व संकीर्ण राष्ट्रीयता की भावना ने जन्म ले लिया है, वह समाजों और व्यक्तियों को अलग-अलग सीमाओं में बांट देता है। संकीर्ण राष्ट्रीयता की अनिवार्य परिणति युद्ध है, अत: विश्व नागरिकता और एक शांतिपूर्ण विश्व का विकास होना ही चाहिए। रोम्या रोला के शब्दों में-''भयंकर विनाशकारी दो युद्धों ने कम से कम इस तथ्य को स्थापित कर ही दिया है कि प्रचण्ड आक्रमणकारी राष्ट्रीयता को समाप्त कर देना चाहिए और दीवार रहित व वर्ग-विहीन मानवता का संघ बनाना चाहिए ताकि, प्रेम, दया और सहानुभूति की भूमि पर मानवीय संबंधों का विकास किया जा सके।''

10.1 विश्व नागरिकता और नई विश्व व्यवस्था की संकल्पना का विकास-इस संकल्पना का विकास सर्वप्रथम जरमी बेन्थम ने किया। उन्होंने राष्ट्रों के सार्वभौमिक रूप में मतभेदों व झगड़ों को सुलझाने हेतु विश्व न्यायालय की संकल्पना प्रस्तुत की। कोमेनियस दूसरा विचारक था, जिसने सम्पूर्ण

विश्व में न्याय और शांति की स्थापना के लिए शिक्षा तथा विश्व सरकार की बात रखी। कांट ने विश्व शांति के लिए सभी देशों के एक संघ की आवाज उठाई। कोपरनिक्स, गैलीलियो, केपलर, न्यूटन आदि वैज्ञानिकों की खोजों ने राष्ट्रीयता की सीमाएं लांघ ली। इससे देश, जाति, धर्म आदि सीमाओं का अतिक्रमण हुआ और मानवता को एक सूत्र में बांधने का क्रम शुरू हुआ। इनके पश्चात् डार्विन ने यह सिद्ध कर दिया कि सभी मनुष्य चाहे काले हों या गोरे सभी का उद्गम एप्स जाति का बंदर है। इस आधार पर उन्होंने सभी मनुष्यों में एकसी क्षमता और संभावनाओं को स्वीकार किया। मार्क्स का वर्गविहीन समाज का नारा विश्व नागरिकता और नई विश्व व्यवस्था की भावना को आगे बढ़ाने में मील का पत्थर साबित हुआ और वर्तमान में परमाणु अस्त्र-शस्त्रों के कारण हिंसा की समग्रता ने विश्वनागरिकता और शांतिपूर्ण विश्व के विचार को आवश्यक बना दिया है।

भारत में विश्व नागरिकता की संकल्पना बहुत पहले से रही है। ''वसुधैव कुटुम्बकम्''-सारा विश्व परिवार है, ''सर्वे भवन्तु सुखिन:''- सारा विश्व सुखमय हो आदि सूत्र भारतीय दृष्टिकोण व चिन्तन को स्पष्ट करते हैं।विश्व नागरिकता और नई विश्व व्यवस्था के लिए इन मान्यताओं का होना ही पर्याप्त नहीं है। आवश्यकता इस बात की है कि व्यक्तियों में उदारता, संवेदनशीलता, सहयोग आदि की भावना विकसित हो।

यह संकल्पना विश्व मैत्री और बंधुत्व पर आधारित है। द्वितीय विश्व युद्ध के बाद यह भावना बनी कि विश्व शांति के लिए राष्ट्रों व उनके प्रतिनिधियों के मध्य समझ और सौहार्दता ही पर्याप्त नहीं है बल्कि देशों के निवासियों में भी परस्पर समझ और सौहार्दता होना अत्यन्त जरूरी है। गोल्ड स्मिथ ने कहा है-''अन्तर्राष्ट्रीयता एक भावना है जो व्यक्ति को यह बताती है कि वह अपने राज्य का ही सदस्य नहीं बल्कि विश्व का नागरिक भी है।'' अब विश्व समाज द्वारा जो युद्ध छेड़ना है, वह होगा-अज्ञानता के विरुद्ध, गरीबी के विरुद्ध, अन्याय और अत्याचार के विरुद्ध, भूखमरी के विरुद्ध, बीमारी के विरुद्ध, दमनात्मक क्रिया-कलापों के विरुद्ध जो मानवता को संकीर्ण घेरे में बांधती है। अन्तर्राष्ट्रीय सद्भाव हेतु दो आवश्यक शर्तें होंगी-

- सभी व्यक्तियों में यह इच्छा और अभिलाषा उत्पन्न करना कि वे विश्व समाज में साथ-साथ रहेंगे। जहां सभी को समान न्याय बिना किसी जाति, जन्म, राष्ट्रीयता, वर्ग, धर्म और रंग की मान्यताओं के आधार पर प्राप्त होगा।
- सामान्य हितों और आपसी समझ द्वारा स्थापित लक्ष्यों की प्राप्ति हेतु सम्मिलित प्रयासों की ओर प्रत्येक को तत्पर और प्रेरित होना होगा।

10.2 शिक्षा की आवश्यकता-संकुचित राष्ट्रीयता ने दो विश्व युद्ध देखे हैं। सरकार की आर्थिक और राजनैतिक धारणाओं पर आधारित शांति दीर्घकालिक व सर्वमान्य नहीं होती। यदि विश्व शांति और सह-अस्तित्व के प्रयासों को स्थायी बनाना है तो इसे मानव की बौद्धिकता और नैतिक सुदृढ़ता पर आधारित करना होगा। यूनेस्को के प्रियेम्बल में यह स्वीकृत है कि युद्ध मनुष्यों के मस्तिष्क में उपजता है तो निश्चित ही शांति भी उसी मस्तिष्क की उपज होगी। अज्ञानता और गलतफहमियां व्यक्तियों व राष्ट्रों में डर और भ्रम पैदा करती हैं, अत: अज्ञानता को दूर कर और परस्पर समझ को विकसित कर अन्तर्राष्ट्रीय शांति का वातावरण बनाया जा सकता है। यह भार निर्विवाद रूप से शिक्षा पर है।

विश्व नागरिकता और नई विश्व व्यवस्था के विकास के लिए शिक्षा के निम्नलिखित लक्ष्य निर्धारित किये जा सकते हैं-

- निस्वार्थता का विकास-शिक्षा द्वारा छात्रों में निजी हितों को सामान्य हितों के लिए त्याग की भावना जागृत करनी चाहिए।
- छात्रों में आलोचनात्मक दृष्टिकोण का विकास हो जिससे वे पूर्व धारणाओं या अभिमतों के शिकार न हों तथा दूसरे मतों व दृष्टिकोणों के प्रति उदार व सहिष्णु हों।
- छात्रों में संकीर्ण राष्ट्रीयता की भावना न भरी जाए। उन्हें यह बोध देना आवश्यक है कि वर्तमान समय में अपने देश का संसार से अलग होकर अस्तित्व संभव नहीं है।
- मनुष्यों के अन्योन्याश्रित संबंध को स्पष्ट करना चाहिए। संसार के प्रत्येक प्राणी एक दूसरे पर आश्रित हैं। परस्परोपग्रहो जीवानाम्-सभी प्राणी एक-दूसरे को उपकृत करते हैं।
- मानवता में विश्वास उत्पन्न किया जाए, जिससे व्यक्ति एक-दूसरे को छोटा-बड़ा नहीं समझेगा तथा सामूहिक उत्तरदायित्व की भावना विकसित होगी।
- अन्य राष्ट्रों की संस्कृति का ज्ञान एवं उनका आदर करें।

10.3 पाठ्यक्रम-हमारे पाठ्यक्रम में कुछ विषय ऐसे होते हैं जो स्वभावत: ही अन्तर्राष्ट्रीय सद्भाव के विकास व शिक्षण के लिए प्रचुर सामग्री व संभावनाएं रखते हैं, जैसे-इतिहास, भूगोल, राजनीति शास्त्र, अर्थशास्त्र, साहित्य, समाज-शास्त्र आदि। इन विषयों की विषय-वस्तु ऐसी है जो हमें मानव समाज में अपनी स्थिति को समय और परिस्थितियों के परिप्रेक्ष्य में सोचने-समझने की पर्याप्त सामग्री प्रदान करती है। इन विषयों में अन्तर्राष्ट्रीय प्रस्तुतीकरण के साथ पाठ्यक्रम में निम्नलिखित बिन्दुओं पर भी ध्यान देना अपेक्षित है-

- सम्पूर्ण पृथ्वी का ज्ञान।
- सभी नागरिकों के रहन-सहन का ज्ञान।
- विश्व संस्कृतियों का ज्ञान।
- जीवन शैली का परिचय।
- विश्व के प्रमुख धर्मों की जानकारी।
- विश्व के बिखरे सौन्दर्य का ज्ञान।
- मानव के शांति स्थापित करने के अब तक के प्रयास आदि।

10.4 पाठ्येतर कार्यक्रम-विश्व नागरिकता और नई विश्व व्यवस्था के विकास की संभावनाएं पाठ्येतर क्रियाओं में अधिक होती हैं। क्योंकि इन क्रियाकलापों में छात्रों की सहभागिता स्वेच्छा पर निर्भर होती है। प्रार्थना, भ्रमण, पर्यटन, प्रदर्शन, संस्कृति व साहित्यिक प्रतिस्पर्धाएं उन्हें एक-दूसरे के निकट लाती है, तथा एक-दूसरे की अच्छाइयों को जानने व अपनाने का अवसर भी मिलता है।

संयुक्त राष्ट्र दिवस, मानवाधिकार दिवस, साक्षरता दिवस आदि अनेक अन्तर्राष्ट्रीय महत्त्व के समारोहों का आयोजन विश्व नागरिकता के विकास के लिए अत्यन्त आवश्यक है। अन्तर्राष्ट्रीय ज्वलन्त समस्याओं जैसे-रंग-भेद की नीति, जनसंख्या वृद्धि नि:शस्त्रीकरण पर्यावरणीय प्रदूषण आदि को लेकर वाद-विवाद, नाट्य रचना आदि द्वारा इन समस्याओं से परिचित कराया जा सकता है। उन्हें इससे निष्पक्ष मत बनाने में सुविधा मिलती है तथा नई विश्व व्यवस्था के निर्माण में भी सहयोग मिलता है। प्राकृतिक प्रकोपों के समय कार्य, विकलांगों आदि की सहायता से परस्पर उदारता, सहिष्णुता, प्रेम, दया, सहानुभूति आदि मूल्यों के विकास से भी विश्व-शांति के विचारों को बल मिलता है।

10.5 विश्व नागरिकता के लिए यूनेस्को के प्रयास-संयुक्त राष्ट्र संघ ने यूनेस्को की स्थापना कर विश्व नागरिकता और नये विश्व के निर्माण का दृष्टिकोण विकसित किया है। यूनेस्को ने इस दृष्टि से तीन उद्देश्यों को पूर्ण करने का प्रयत्न किया है-

- विश्व राष्ट्रों में पारस्परिक ज्ञान तथा अवबोध उत्पन्न करना।
- संस्कृति तथा शिक्षा का प्रसार करना।
- ज्ञान की सुरक्षा, वृद्धि और प्रसार करना।

मनुष्य दो विश्वयुद्ध के परिणामों को भोगने के बाद तीसरे विश्व युद्ध को नहीं चाहता। वह शांति चाहता है। शांतिकाल में ही उच्च कोटि की कला व संस्कृति का निर्माण होता है। युद्ध तो कला व संस्कृति का संहारक है। अब युद्ध का खतरा मोल लेना मानवता के विनाश का खतरा मोल लेना है। मानवता का कल्याण विश्वशांति में ही है। हिंसा की समग्रता ने तथा आर्थिक, वैज्ञानिक व तकनीकी, राजनैतिक व सामाजिक घटकों ने विश्व को करीब लाने और सहयोग व सद्भाव को विकसित करने में अहम भूमिका निभाई है। अब वह शिक्षा ही है जो विश्व नागरिकता व नई विश्व व्यवस्था को साकार कर सकती है।

11. जीवन के प्रति सम्मान

अल्बर्ट स्वेजर एक ऐसे जर्मन दार्शनिक हैं जिन्होंने पाश्चात्य दर्शन में नैतिकता के क्षेत्र में एक क्रान्तिकारी विचार प्रस्तुत किया। स्वेजर से पूर्व दार्शनिकों की यह मान्यता थी कि नैतिकता का क्षेत्र केवल मानव है। इसलिए व्यवहारों के औचित्य और अनौचित्य का प्रश्न केवल मानव जगत् से ही उठता है। मानवेतर प्राणियों के प्रति व्यवहार का नैतिकता से कोई सम्बन्ध नहीं है। अल्बर्ट स्वेजर ने भारतीय दर्शन और विशेषकर जैन दर्शन से प्रभावित होकर नैतिकता का विस्तार सम्पूर्ण प्राणियों के लिए किया। दूसरे शब्दों में यह कहा जा सकता है कि नैतिक और अनैतिक व्यवहार का प्रश्न केवल मानव जगत् तक ही सीमित नहीं है बल्कि इसका सम्बन्ध अन्य प्राणियों के प्रति मानव द्वारा किये गये व्यवहारों से भी है। स्वेजर ने नैतिकता के क्षेत्र में जिस सिद्धान्त का प्रतिपादन किया, उसे हम जीवन के प्रति सम्मान (Reverence for life) के नाम से जानते हैं।अल्बर्ट स्वेजर ने डेकार्ट के इस सिद्धान्त का खण्डन किया- ''मैं सोचता हूं इसलिए मैं हूं''। स्वेजर ने कहा-''मैं जीवन हूं, जिसे मैं उन प्राणियों के मध्य रहकर जीना चाहता हूं जो जीना चाहते हैं।'' अर्थात् मनुष्य जीना चाहता है और वह अकेले नहीं जीना चाहता बल्कि उन सभी जीवों के बीच जीना चाहता है जो मनुष्य की भांति ही जीना चाहते हैं। ''मैं जीना चाहता हूं'' कथन से अल्बर्ट स्वेजर का यह अभिप्राय है कि मनुष्य में रहस्यात्मक उन्नति की चाहत है, जिसे हम एक शब्द में सुख (Pleasure) कहते हैं।

भगवान् महावीर ने कहा-कोई भी मनुष्य दु:ख नहीं चाहता। जिस प्रकार तुम सुख की चाहत रखते हो, उसी प्रकार अन्य जीव भी सुख की चाहत रखते हैं दु:ख की नहीं। स्वेजर के अनुसार वही मनुष्य नैतिक है, जो सभी जीवों की हर प्रकार से सहायता करने का दायित्व बोध अपने ऊपर लेता है। जहां तक उसमें क्षमता हो, वह दूसरे प्राणियों की सहायता करे तथा किसी भी प्राणी को कष्ट न पहुंचाये। दूसरे शब्दों में उनका कहना है कि जीव चाहे छोटा हो या बड़ा सबका जीवन पवित्र है (Life is sacred)। इससे स्पष्ट है कि अल्बर्ट स्वेजर निषेधात्मक और भावात्मक दोनों रूप से अहिंसा का प्रतिपादन करते हैं। निषेधात्मक रूप से अहिंसा के अन्तर्गत सभी प्राणियों की हिंसा (हत्या एवं दु:ख देना) का निषेध करते हैं और भावात्मक रूप से सभी प्राणियों के उन्नत जीवन जीने में सहायता करने

का समर्थन करते हैं।प्रश्न है कि अल्बर्ट स्वेजर व्यक्तिगत जीवन से सार्वभौम जीवन की सुरक्षा का सिद्धान्त क्यों प्रस्तुत करते हैं। वस्तुत: तो वे सभी जीवन की अखण्डता में विश्वास करते हैं। वे मानते हैं कि सभी प्राणी एक-दूसरे के लिए उपयोगी हैं, इसलिए उनके प्रति प्रेम और उनके जीवन का सम्मान हमारा धर्म हो जाता है। केवल मनुष्य ही एक-दूसरे के लिए मूल्यवान नहीं है, पशु-पक्षी, छोटे जीव भी मनुष्य के लिए मूल्यवान हैं। उदाहरणार्थ हम मानव कल्याण के लिए कुछ जीवों पर प्रयोगशाला में प्रयोग करते हैं, उनको यातना देते हैं, उनकी हत्या कर उनकी चीरफाड़ करते हैं और उसके आधार पर मानव के लिए हितकर सिद्धान्त की स्थापना करते हैं अथवा अमूल्य औषधि का निर्माण करते हैं। इससे यह सिद्ध होता है कि हर जीव मनुष्य के लिए उपयोगी है। उन्हें उपयोगी जानकर हमें उनकी सुरक्षा करनी चाहिए। उन्हें कष्ट नहीं देना चाहिए। जानबूझकर उनका शोषण नहीं करना चाहिए और यदि अपरिहार्य कारणवश हम उनकी हिंसा करते हैं तो इसके लिए पश्चाताप तो करना ही चाहिये, साथ ही साथ इस कर्म को दूर करने के लिए भावात्मक रूप से भी कदम उठाना चाहिये।

अलबर्ट स्वेजर के अनुसार अहिंसा की नीति का आधार बाहरी जीव नहीं बल्कि अन्तरात्मा है। इसलिए उनकी दृष्टि में दया जो विशेष रूप से दूसरों के प्रति की जाती है, नैतिकता की दृष्टि से बहुत ही संकीर्ण है। नैतिकता के अंतर्गत अपनी हर परिस्थितियों में सुखमय जीवन की आकांक्षा रहती है तथा दूसरों के सुखमय जीवन में सहायक बनकर अपनी आत्मा को पूर्ण करने की चेतना होती है।

अहिंसा सभी प्राणियों के प्रति प्रेम है। प्रेम का अर्थ सुख-दु:ख एवं प्रत्येक प्रयत्नों में सभी के प्रति भाईचारेपन का अनुभव करना है। हर जीवन के प्रति सम्मान हमारे जीवन की मूल प्रेरणा है, दिशा निर्देशक शक्ति है तथा सहानुभूति, प्रेम तथा अन्य सभी मूल्यवान उत्साहों का आधार है। परन्तु दु:ख की बात है कि यह संसार एक ऐसा दु:खान्त नाटक है कि जिसमें हर व्यक्ति जीवन के विरुद्ध ही जीना चाहता है, एक-दूसरे को नष्ट कर अपना अस्तित्व कायम रखना चाहता है। तभी जीवन के प्रति सम्मान का सिद्धान्त इससे भिन्न परिदृश्य की कल्पना करता है। इस व्यवस्था में अपनी जिजीविषा के अन्तर्गत दूसरे की जिजीविषा का ज्ञान भी सम्मिलित है। इसमें सम्पूर्ण जीवन को सर्वभौम बनाने की दृष्टि से एकता स्थापित करने की आकांक्षा रहती है। इसलिए जीवों के प्रति सम्मान के नीतिशास्त्र का अर्थ है- अपने जीवन का सम्मान करना और अपने जीवन से इतर जीवन का सम्मान करना।अल्बर्ट स्वेजर कहते हैं कि वही व्यक्ति अपनी आंतरिक स्वतंत्रता का अनुभव करता है जो दूसरे के जीवन की स्वतंत्रता के संरक्षण में सहायक है। यहां स्वेजर की स्थिति जैन दर्शन की उन भावनाओं से है, जहां कहा गया है-अन्त:करण की विशुद्धता और बाह्य रूप से अन्य प्राणियों के प्रति दया दोनों अहिंसा व्रत के पालन के लिए आवश्यक है।

सामान्यत: हम क्षमा और सहिष्णुता को भी अहिंसा के अन्तर्गत लेते हैं, परन्तु प्रश्न है कि हमें क्षमा क्यों करनी चाहिये? स्वेजर का मानना है कि हम दूसरों को क्षमा नहीं करते, अपने आपको क्षमा करते हैं। उनका कहना है अच्छाइयां और बुराइयां सब में हैं। सामान्यत: कोई हम पर गुस्सा करता है, गाली देता है, मारता है या अन्य प्रकार से अहित करता है, तो हम इसका बदला लेना चाहते हैं। स्वेजर कहते हैं कि उससे बदला लेने से पूर्व मुझे सोचना होगा कि मैं किसी को मारता हूं या नहीं। और यदि मुझमें किसी न किसी परिमाण में ये दोष है तो इसका अर्थ है-दूसरे के द्वारा किये अहितकर व्यवहार को क्षमा करना, अपने आपके द्वारा किये गये अहितकर व्यवहार को क्षमा करना है। नीतिशास्त्र में दो प्रकार की युक्तियां काम में लाई जाती हैं-पर-समर्थक और स्व-समर्थक। अल्बर्ट स्वेजर

स्व-समर्थक युक्ति पर विश्वास करते हैं और इस प्रकार की युक्ति श्रेष्ठ मानी जाती है। उनका कहना है-किसी भी व्यवहार पर दूसरों के आधार पर निर्णय नहीं किया जा सकता है।वे कहते हैं-दूसरे के प्रति दया करके मैं भद्र, शांत और क्षमाशील नहीं हूं बल्कि उस व्यवहार के कारण हूं, जिसके द्वारा मैं गहरी आत्मानुभूति की सत्यता को प्रमाणित करता हूं। अल्बर्ट स्वेजर नैतिकता के संबंध में और विशेषकर जीवन के प्रति सम्मान के सिद्धान्त में सापेक्ष नैतिकता को नहीं मानते, उनके अनुसार शुभकर्म हर अवस्था में दूसरे के जीवन की प्रगति को देखता है। किसी भी परिस्थिति में अन्य प्राणी को कष्ट देना या हत्या करना उनकी दृष्टि में पाप है। यह ठीक है कि अपने अस्तित्व की रक्षा करने के लिए अनिवार्यतावश व्यक्ति को दूसरे जीवों की हत्या करनी पड़ती है, परन्तु यह उसकी अनिवार्यता है, नैतिकता नहीं। नैतिकता का तकाजा है-सोच समझकर किसी जीव की हत्या न करें या दु:ख न पहुंचायें। जिस प्रकार जैन दर्शन में प्रमाद को हिंसा का मूल कारण माना गया है, अल्बर्ट स्वेजर भी असावधानी (प्रमाद) को ही हिंसा का मूल कारण मानते हैं। इसलिए वे दूसरे जीवों के प्रति संवेदनशील होने की शिक्षा देते हैं और यथासंभव उनके कल्याण का दायित्व व्यक्ति के स्वयं के निर्णय पर छोड़ देते हैं। इसी दायित्व बोध में अहिंसा का निवास है।अतएव अल्बर्ट स्वेजर के दर्शन में अहिंसा का आधार सभी जीवों की समता है, जीवन की अखण्डता है, जीवों की परस्पर पूरकता है और अहिंसा का सार संयम में निहित है।

प्रश्नोत्तर

निबंधात्मक प्रश्न

1. मानवाधिकारों से संबंधित विभिन्न घोषणा पत्रों की विवेचना कीजिए।

लघुत्तरात्मक प्रश्न

1. मानवाधिकारों के विभिन्न प्रकारों का वर्णन कीजिए।
2. मानवीय गरिमा के आदर की अवधारणा को स्पष्ट कीजिए।

वस्तुनिष्ठ प्रश्न

1. मानवाधिकारों के आधुनिक सिद्धान्तों के जन्मदाता कौन थे-
   अ. एच.जी. वैल्स ब. फेनबर्स
   स. क्रेन्सटन द. राजा जॉन
2. प्राकृतिक अधिकारों को कानूनी स्तर पर मान्यता कब दी गयी-
   अ. 1940 ब. 1945
   स. 1946 द. 1942
3. निम्न में से कानूनी अधिकार का एक प्रकार है-
   अ. राजनैतिक अधिकार ब. नागरिक अधिकार
   स. सांस्कृतिक अधिकार द. उपरोक्त सभी
4. ''बिल ऑफ राइट'' के किस सिद्धान्त के विरोध में आया-
   अ. प्राकृतिक सिद्धान्त ब. उपयोगितावादी सिद्धान्त
   स. उपयोगिता विरोधी सिद्धान्त द. मार्क्सवादी सिद्धान्त
5. बाल विवाह निषेध कानून कब पारित हुआ-
   अ. 1920 ब. 1929
   स. 1930 द. 1910

6. भारतीय संविधान के किस अनुच्छेद में नागरिक को सर्वोच्च न्यायालय तक जाने का अधिकार है-

अ. अनु. 20-22 ब. अनु. 28-31

स. अनु. 30-32 द. अनु. 32-35

7. प्रत्येक ..... का उसी के समान ..... होता है।
8. ..... में प्रयुक्त शब्द सर्वश्रेष्ठ शब्दों में से है।
9. ..... संविधान का संचलानात्मक भाग निर्मित करते हैं।
10. प्रत्येक ..... को जीवन का आदर करना चाहिए।

इकाई–5

अहिंसा प्रशिक्षण–आवश्यकता, स्वरूप, अहिंसा प्रशिक्षण के घटक, हृदय परिवर्तन, दृष्टिकोण परिवर्तन, जीवन शैली परिवर्तन, व्यवस्था परिवर्तन

उद्देश्य

1. अहिंसा प्रशिक्षण के सैद्धान्तिक व प्रायोगिक पक्ष को जानना।
2. अहिंसा प्रशिक्षण के विभिन्न आयामों को समझना।

संरचना

1. मानवीय संवेग हिंसा के लिए उत्तरादायी
    - 1.1 लोभ (Greed)
    - 1.2 क्रूरता (Cruelty)
    - 1.3 मिथ्याभिमान (Vanity)
    - 1.4 असहिष्णुता (Intolerance)
    - 1.5 क्रोध (Anger)
2. अहिंसा का आधार
    - 2.1 निष्क्रिय और सक्रिय अहिंसा
3. अहिंसा के पक्ष
    - 3.1 अहिंसा का सैद्धान्तिक स्वरूप
        - 3.1.1 आत्मा का अस्तित्व
        - 3.1.2 आत्मा की स्वतंत्रता
        - 3.1.3 आत्मा की समानता
        - 3.1.4 जीवन की सापेक्षता
        - 3.1.5 सह–अस्तित्व
    - 3.2 अहिंसा प्रशिक्षण का स्वरूप
    - 3.3 हिंसा की जड़
    - 3.4 हिंसा का निवारण
4. अहिंसा–प्रशिक्षण के आयाम
    - 4.1. हृदय–परिवर्तन
        - 4.1.1 हृदय परिवर्तन की आवश्यकता
        - 4.1.2 परिवर्तन का साधन : अनुप्रेक्षा व भावनाएं
            - 4.1.2.1 अनासक्ति
            - 4.1.2.2 अभय
                - 4.1.2.2.1 भय–अभय का वैज्ञानिक आधार
                - 4.1.2.2.2 अभय कैसे बनें
            - 4.1.2.3 मृदुता
            - 4.1.2.4 मैत्री
            - 4.1.2.5 करुणा

4.1.2.6 विधायक चिंतन
4.1.3 हृदय परिवर्तन का आधार
4.2. दृष्टिकोण परिवर्तन
4.3 जीवन शैली परिवर्तन
4.3.1. व्यवहारिक अहिंसा या हिंसा निषेध
4.3.2. अनाक्रमण
4.3.3. विध्वंसात्मक प्रवृत्तियों में भाग न लेना
4.3.4. मानवीय एकता में विश्वास
4.3.5. सर्वधर्म सहिष्णुता
4.3.6. व्यवहार व व्यापार में प्रामाणिकता
4.3.7. आत्मसंयम का विकास
4.3.8. चुनावों में शुद्धता
4.3.9. सामाजिक कुरुढ़ियों को प्रश्रय न देना
4.3.10. मादक पदार्थों के सेवन का निषेध या व्यसन मुक्त जीवन
4.3.11. पर्यावरणीय चेतना का विकास
4.4 व्यवस्था परिवर्तन
5. आर्थिक समस्याओं का समाधान : विसर्जन
5.1 विसर्जन : अर्थ और दृष्टिकोण
5.1.1. अर्जन के गलत तरीकों को छोड़ना
5.1.2. संग्रह के साथ विसर्जन
5.1.3. व्यक्तिगत उपभोग का सीमांकन
5.2 दान और विसर्जन
5.3 क्या विसर्जन के साथ अर्जन उचित है?
5.4 विसर्जन और वितरण

1.मानवीय संवेग हिंसा के लिए उत्तरादायी

संवेग प्राणी की उत्तेजित अवस्था है। ऐसी उत्तेजनाएं प्राय: आकस्मिक और तीव्र होती हैं। संवेगात्मक उत्तेजना की तीव्रता इतनी अधिक होती है कि इस उत्तेजना के बने रहने तक प्राणी के अन्य सभी व्यवहार अस्त-व्यस्त हो जाते हैं। संवेग की इसी विशेषता के कारण मनोवैज्ञानिकों ने इसे एक विध्वंसात्मक शक्ति के रूप में स्वीकार किया है। हर प्रेरणा के साथ किसी न किसी संवेग का संबंध जुड़ा रहता है। जैसे आक्रामकता एवं कलहप्रियता के साथ क्रोध का, पलायन के साथ भय का संवेग में प्राणी के पास अतिरिक्त शक्ति होती है जिसे वह प्रेरणा की तृप्ति हेतु व्यय कर सकता है। संवेगात्मक स्थिति में हमारे अन्दर एक प्रकार की हलचल मच जाती है तथा साथ ही हमारी शारीरिक क्रियाओं में भी परिवर्तन होता है। भय के समय हम घबरा जाते हैं तथा घबराहट के कारण हमारी मुखाकृति पीली हो जाती है, शरीर कांपने लगता है। इसी प्रकार क्रोध की स्थिति में हमारी मुखाकृति लाल हो जाती है तथा श्वास की गति तीव्र हो जाती है।

संवेग दो प्रकार के हैं-सुखद एवं दुखद। सुखद संवेदनों से सृजनात्मक प्रवृत्ति बढ़ती है जबकि दुखद संवेदनों से विध्वंसात्मक प्रवृत्ति। लोभ, भय, शत्रुता आदि दुखद संवेदन हैं जो विध्वंसात्मक हैं तथा ये हिंसा एवं युद्ध के लिए भी जिम्मेदार हैं।

युद्ध हिंसा सार्वभौमिक है, यह सदैव होती रही है। अनेक देशों के पुराण व इतिहास इसके प्रमाण हैं। ये युद्ध, धर्म, प्रतिरोध, अस्तित्व, स्वतंत्रता, भोजन, भूमि, स्त्री, गौरव, लिप्सा आदि के लिए लड़े गए हैं। एलिक्स स्ट्रेची ने कहा है-''इन सबको देखते हुए व इस प्रकार से देखने पर लगता है कि युद्ध करने की आवश्यकता मनुष्य के लिए कोई स्वदेशी वस्तु है। वह एक ऐसी चीज है जो अन-उन्मूलीय है मानव मस्तिष्क में इसकी जड़ें गहरी हैं इसलिए युद्ध को समाप्त करने के प्रयास निरर्थक हैं।'' मूलत: यदि देखा जाए तो हिंसा या युद्ध का मुख्य कारण मानव स्वभाव की इच्छाएं और वासनाएं हैं। चूंकि मानवीय इच्छाओं और वासनाओं को नियंत्रित/संयमित किया जा सकता है, इसलिए निश्चित ही शांति के प्रयास सार्थक हैं।

युद्ध या हिंसा के तीन कारण बतलाए गये हैं-

- प्राप्ति की इच्छा (Desire for gain)
- क्षति का भय (Fear of injury)
- बहादुरी से प्रेम (Love of glory)

उपर्युक्त तीनों कारण संवेगों पर आधारित हैं। कुछ प्राप्ति की इच्छा लोभ का संवेग है। क्षति या चोट की शंका भय का संवेग है। बहादुरी की प्रशंसा मिथ्याभिमान का संवेग है। ये तीनों ही हिंसा या युद्ध के समन्वित कारण हैं। हिंसा का पहला प्रयोग स्वयं को दूसरे व्यक्तियों या पशुओं आदि का स्वामी बनाने के लिए होता है। हिंसा का दूसरा प्रयोग स्वामित्व को सुरक्षित रखने के लिए होता है और हिंसा का तीसरा प्रयोग उन्हें यह अनुभव देने में होता है कि उन्हें कम आंका जा रहा है।

1.1 लोभ (Greed)

सुकरात ने कहा था-''लोग सरल जीवन पद्धति में संतुष्ट नहीं होते। वे सोफा, मेज तथा अन्य उपस्कर (फर्नीचर) इकट्ठा करते रहेंगे। हमें आवास, वस्त्र तथा भोजन जैसी आवश्यकताओं से आगे बढ़ जाना चाहिए, उसके पश्चात् हमें अपनी सीमाओं को बढ़ाना चाहिए क्योंकि मूल स्थिति अधिक समय तक नहीं रहती ..... और जो प्रदेश अपने निवासियों का भरण-पोषण करने में काफी था, वह अब उसके लिए छोटा हो जाएगा, काफी नहीं रहेगा ..... तब हम पड़ोसियों की जमीन का टुकड़ा हथियाना चाहेंगे। यदि हमारी तरह उनकी भी आवश्यकताएं सीमा को पार कर जायें और वे स्वयं धन के असीमित संचय के लिए लग जाएं तो परिणाम होगा-युद्ध।''

जब व्यक्ति अपनी अनिवार्यताओं/आवश्यकताओं से विलासिताओं की ओर बढ़ने लगता है तो परिणाम संघर्ष के अलावा और हो भी क्या सकता है। आवश्यकता ने हमें अस्त्र दिये, प्रतिस्पर्धा उनमेंविविधता लाई तथा सर्वाधिक बलशाली बनने के विचार ने उनके किनारों को और ज्यादा नुकीला किया।

आर्य लोग लालचवश ही भारत आये। अंग्रेजी शासन को रोडेशिया एवं ट्रांसवल की स्वर्ण-खाने, भारत का जूट तथा बर्मा का रबड़ खींच लाया। न जाने लालच के वशीभूत हो कितनी हिंसा हुई है? इसी संवेग ने व्यक्ति की दृष्टि में अन्य सब प्राणियों को उसका भोग्य बना दिया।

1.2 क्रूरता (Cruelty)

मेक्डूगल के अनुसार मूल प्रवृत्तियां मानवीय स्वभाव पर शासन करती हैं। यदि शक्तिशाली लोगों में लड़ने की प्रवृत्ति है तो शांति कभी भी सम्भव नहीं। विलियम जेम्स के अनुसार-युयुत्सा (युद्ध की

इच्छा) व्यक्ति को उत्तराधिकार में प्राप्त होती है। अस्तित्व के संघर्ष में केवल वही जातियां जीवित रहीं जो युद्धप्रिय थी।

रोटी और रोजगार ने व्यक्ति को इतना क्रूर बना दिया कि वे किलिंग प्रोफेसन की ओर जाने को बाध्य हो गये। बर्नाडशा लिखते हैं-प्रारंभ में कोई भी इज्जतदार औरत ऐसे किसी व्यक्ति से शादी नहीं करती थी जो कुछ लोगों या पशुओं को मौत के घाट नहीं उतार देता था।

वर्तमान में नागरिक स्वयं ही सेना गठन करते हैं, उनके लिए पैसा चुकाते हैं तथा उन सैनिकों की जानें उनके लिए बंधक होती हैं। हम यह नहीं सोचते कि वे भी हमारे ही भाई हैं। उनकी प्रवृत्ति भी क्रूर नहीं थी, मारने की नहीं थी। पर धीरे-धीरे हमने उन्हें प्रशिक्षण दिया और क्रूर बना दिया। आज के युद्ध साधनों ने उनकी चेतना को लुप्त कर दिया है। कुत्ते-बिल्ली से घबराने वाला मनुष्य इतना क्रूर बन जाता है।

आज तो क्रूरता मनोरंजन बनती जा रही है। स्वयंसेवी नागरिक युद्ध को मनोरंजन हेतु देखना चाहते हैं ताकि उन्हें समाजसेवा का मौका मिले। प्राचीन समय में और आज भी अरब राष्ट्रों में पशुओं को आपस में लड़ाकर क्रूरतापूर्ण मनोरंजन किया जाता है। क्रूरता की हद तब हो जाती है जब अबोध शिशुओं को पशुओं की पीठ पर बांधकर पशुओं को उकसाने का कार्य उनसे लिया जाता है तथा स्वयं की विलासिताओं व प्रसाधनों के नाम पर अबोध व करुण पशुओं की जानें ले ली जाती हैं।

आर्थिक जगत् में शोषण भी क्रूरता का उदाहरण है। बिना क्रूरता के शोषण संभव नहीं हो सकता, रिश्वत लेना संभव नहीं हो सकता। सामाजिक व्यवहारों में यह क्रूरता मालिक-नौकर के संबंधों के बीच, सास-बहू के रिश्ते के बीच देखी जा सकती है। दहेज के नाम पर बहुओं को जलाने की घटनाएं क्रूरता का उत्कर्ष है।

1.3 मिथ्याभिमान (Vanity)

जिन व्यक्तियों में यह सोचने की अतिरंजित प्रवृत्ति होती है कि उनका अपना समूह अथवा जाति अन्य समूहों या जातियों से अत्यन्त श्रेष्ठ है, उन लोगों का सामान्य दृष्टिकोण रूढ़िवादी होता है। वे शक्ति की प्रशंसा व पराजितों से घृणा करते हैं। अर्थात् जो व्यक्ति स्वयं को उच्च मानते हैं वे युद्ध प्रिय होते हैं तथा हिंसा में उनका विश्वास होता है। राजनीतिज्ञों का यह मानना है कि चीन का भारत पर आक्रमण इसलिए नहीं हुआ था कि वे भूमि हड़पना चाहते थे, बल्कि चीन भारत को अपनी श्रेष्ठता सिद्ध करना चाहता था।

इतिहासकार यहां तक कहते हैं कि योद्धाओं और विजेताओं के गुणगान ने ही सशस्त्र व प्रशिक्षित अपराधियों को पैदा किया है। कार्लिल व नीत्शे के हीरो-वरशिप के विचार ने न जाने कितने मिथ्याभिमान को जन्म दिया है। हिटलर अपनी सर्वशक्तिमान सेना के बावजूद भी पौलेण्ड व बेल्जियम में हार गया लेकिन उसके मिथ्याभिमान ने न जाने कितनों का खून बहाया।

कई व्यक्तियों व राष्ट्रों में वरिष्ठता की भावना भी होती है जिससे वे सोचते हैं-सम्पूर्ण सृष्टि उनके भोग के लिए है। उनके इस वरिष्ठता के विचार ने विश्व में जातिभेद, रंगभेद, उच्च-निम्न वर्ग आदि की दीवारें खड़ी की हैं। ब्रिटिश लोग यह कहा करते थे-हम एक महान् शक्ति रखते हैं, जहां सूर्य कभी अस्त नहीं होता, तब कमजोर राष्ट्र उनका आदर क्यों नहीं करे। उन राष्ट्रों को तो हमारा शुक्रिया अदा करना चाहिए कि हम उन्हें अच्छी सरकार देते हैं। नेपोलियन भी विश्व-व्यवस्था को अच्छा करने के मिथ्याभिमान के कारण ही विश्व पर चढ़ाई करता था। फिख्ते लिखते हैं-जर्मन विशिष्ट हैं

क्योंकि उन्हीं के पास शुद्ध भाषा है और भाषा चरित्र के तुल्य है। इसलिए ऐसे व्यक्तियों को दूसरों पर शासन करना ही चाहिए। अत: स्पष्ट है कि किस तरह यह महद्भाव ग्रंथि तथा मिथ्याभिमान का संवेग मनुष्य को हिंसा और युद्ध की ओर धकेलता है।

1.4 असहिष्णुता (Intolerance)

एक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति को सहन नहीं करना चाहता। एक धर्म दूसरे धर्म को सहन करना नहीं चाहता। एक राष्ट्र दूसरे राष्ट्र को सहन नहीं करना चाहता। परिणाम होता है संघर्ष-हिंसा-युद्ध। व्यक्ति-व्यक्ति के बीच असहिष्णुता है जिससे पारिवारिक व सामाजिक कलह देखने को मिलती है। एक धर्म दूसरे धर्म के प्रति असहिष्णु है, परिणाम है साम्प्रदायिक हिंसा। साम्प्रदायिक कट्टरपन के कारण न जाने कितने युद्ध लड़े गये हैं, कितना खून बहा है। ईराक-ईरान का युद्ध धार्मिक असहिष्णुता का ही परिणाम था। भारत में वर्तमान साम्प्रदायिक अभिनिवेश भी असहिष्णुता का ही परिणाम है।

राष्ट्रों की असहिष्णुता तो जगजाहिर है। पूंजीवादी राष्ट्र समाजवादी राष्ट्रों को नहीं चाहता। एकतंत्र शासन पद्धति के लोग लोकतंत्र को नहीं चाहते। राष्ट्रों की इस असहिष्णुता ने द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद एक लम्बे शीतयुद्ध को जन्म दिया था तथा इसी असहिष्णुता ने नाटो, सीटो व वार्सा जैसे सैनिक संगठनों को जन्म दिया था।

1.5 क्रोध (Anger)

व्यक्ति क्रोध के संवेग के कारण आक्रामक प्रवृत्ति को अपनाता है। क्रोध विवेकहीनता का कारण है। जिससे व्यक्ति हेय-उपादेय की दृष्टि को खो देता है तथा आक्रमण करना चाहता है। गीता में कहा गया है-क्रोध में व्यक्ति की बुद्धि भ्रष्ट हो जाती है। उसे उचित-अनुचित का ध्यान नहीं रहता है। वस्तुत: मनुष्य में उच्च गुण हैं किंतु क्रोध में व्यक्ति पाशविक वृत्ति को अपना लेता है। इस पाशविक वृत्ति के कारण व्यक्ति दूसरों को तो नुकसान पहुंचाता ही है, वह स्वयं को भी नुकसान पहुंचाता है। यह क्रोध का ही परिणाम है कि व्यक्ति आत्महत्या तक पहुंच जाता है।

इस प्रकार व्यक्ति के स्वयं के संवेग भय, लोभ, सत्ता व धन का मद आदि बातों पर युद्ध को पसन्द करने वाला स्वभाव निर्भर करता है। स्वार्थवृत्ति, आकांक्षाएं, घृणा, द्वेष आदि मानव स्वभाव में पशुता की जड़ें हैं। पर जीवन मात्र संघर्ष नहीं है, जीवन सहयोग है। 19वीं तथा 20वीं शदी अस्तित्व के लिए संघर्ष, प्रतिस्पर्धा, वर्ग-संघर्ष, विरोध आदि शब्दों में ही गुजर गई। इस शदी में सैनिक दिमाग वाले व्यक्तियों का प्रभुत्व रहा, जिन्होंने घृणा का, क्रूरता का सिद्धान्त दिया। पर 21वीं शदी अस्तित्व के लिए संघर्ष पसन्द नहीं करेगी, उसका विश्वास मानवीय सहयोग में होगा, जो दु:खद संवेदनों पर नियंत्रण से ही संभव हो पायेगा।

2. अहिंसा का आधार

सभी प्रकार के जीवों के प्रति संयमपूर्वक जीवन-व्यवहार ही अहिंसा है। मन, वचन और काय-इनमें से किसी एक के द्वारा किसी प्रकार के जीवों की हिंसा न हो, ऐसा व्यवहार ही संयमी जीवन है। ऐसे जीवन का निरन्तर धारण ही अहिंसा है। कुछ दार्शनिक संयमपूर्वक जीवन-व्यवहार से तात्पर्य सभी प्रकार के जीवों के प्रति करुणाभाव से लेते हैं। गांधीजी ने भी अहिंसा का यही अर्थ लिया है। इनके अनुसार सर्व-जीवों के प्रति सद्भावना ही अहिंसा है या समस्त जीवों के प्रति दुर्भावना का पूर्ण तिरोभाव ही अहिंसा है।

2.1 निष्क्रिय और सक्रिय अहिंसा

अहिंसा का शाब्दिक अर्थ है-हिंसा न करना। अहिंसा के पारिभाषिक अर्थ निषेधात्मक एवं विधेयात्मक दोनों हैं। राग-द्वेषात्मक प्रवृत्ति न करना, प्राण-वध न करना या प्रवृत्ति मात्र का निषेध करना निषेधात्मक अहिंसा है। जबकि सत्-प्रवृत्ति और विधेयात्मक अहिंसा से हिंसा का निषेध भी होता है। हिंसा न करने वाला यदि आन्तरिक प्रवृत्तियों को शुद्ध न करे तो वह अहिंसा नहीं होगी। इसलिए निषेधात्मक अहिंसा में सत्यप्रवृत्ति की अपेक्षा रहती है और विधेयात्मक अहिंसा में हिंसा का निषेध भी रहता है। व्यवहार में निषेधात्मक अहिंसा को निष्क्रिय अहिंसा और विधेयात्मक अहिंसा को सक्रिय अहिंसा कहा जाता है।

3.अहिंसा के पक्ष

- अहिंसा का सैद्धान्तिक पक्ष और
- अहिंसा का व्यावहारिक पक्ष।

अहिंसा के सैद्धान्तिक पक्ष में अहिंसा के दार्शनिक सत्यों का अवबोध कराया जाता है जबकि अहिंसा के व्यावहारिक पक्ष में उपयोगिता प्रेरित या स्वार्थप्रेरित अहिंसा का समावेश होता है। यहां हमारा विवेच्य विषय है-अहिंसा का सैद्धान्तिक पक्ष क्यों? जब तक अहिंसा का सैद्धान्तिक पक्ष मजबूत नहीं होता, व्यवहार डगमगा जाता है।

3.1 अहिंसा का सैद्धान्तिक स्वरूप

अहिंसा-प्रशिक्षण के स्वरूप का निर्धारण किया जाए तो उसके दो रूप हो सकते हैं-सैद्धान्तिक और प्रायोगिक। सैद्धान्तिक प्रशिक्षण में दार्शनिक सत्यों का अवबोध कराया जाता है। अहिंसा के दार्शनिक पहलू अनेक हैं। यहां कुछ ऐसे दार्शनिक बिन्दुओं का उल्लेख किया जा रहा है, जिनको समझे बिना अहिंसा के प्रशिक्षण का कोई आधार नहीं बनता। दार्शनिक पृष्ठभूमि पर अहिंसा की मूल्यवत्ता प्रमाणित करने वाले पांच बिन्दु हैं-

- आत्मा का अस्तित्व।
- आत्मा की स्वतंत्रता।
- आत्मा की समानता।
- जीवन की सापेक्षता।
- सह-अस्तित्व।

3.1.1. आत्मा का अस्तित्व

आत्मा के अस्तित्व को स्वीकृत किये बिना अहिंसा का कोई आधार नहीं बनता। इसलिए ''आत्मा है'' इसकी स्वीकृति आवश्यक है। भौतिक अस्तित्व की प्रतिक्रिया ने मनुष्य को आत्मिक अस्तित्व की ओर गतिमान किया। उसे इस सत्य की प्राप्ति हुई कि चेतन का अस्तित्व अचेतन से स्वतंत्र है। इस विचार ने सामाजिक विकास के सामने आत्मिक विकास और राजतंत्र के सामने आत्म-तंत्र का प्रथम सूत्रपात किया। इस सूत्रपात ने अहिंसा का मूल्य परिवर्तन कर डाला। सामाजिक क्षेत्र में अहिंसा का अर्थ था-मनुष्यों तथा मनुष्योपयोगी पशु-पक्षियों को न मारना अर्थात् आंशिक अहिंसा थी। और न मारने का लक्ष्य था-सामाजिक सुव्यवस्था का निर्माण तथा स्थायित्व। जबकि आत्मिक क्षेत्र में अहिंसा का अर्थ हुआ-हिंसा का पूर्ण निषेध-किसी प्राणी को न मारना, न मरवाना और मारने वाले

का अनुमोदन भी नहीं करना। अर्थात् जैसे-जैसे आत्मा, आत्मोदय और मुक्ति का दर्शन विकसित हुआ वैसे-वैसे अहिंसा व्यापक होती चली गई।

3.1.2. आत्मा की स्वतंत्रता

प्रत्येक आत्मा का सुख-दु:ख अपना-अपना है। इस दृष्टि से आत्मा स्वतंत्र है। सभी आत्माएं स्वतंत्र हैं, इसलिए किसी भी प्राणी के हनन का अधिकार किसी को भी नहीं है। सभी प्राणी जीना चाहते हैं, मरना कोई भी नहीं चाहता। इसलिए किसी भी प्राणी को कष्ट देने का अधिकार हमें नहीं है। जिस तरह से हमारा अस्तित्व स्वतंत्र है, उसी तरह से क्षुद्र से क्षुद्र प्राणी का अस्तित्व भी स्वतंत्र है। अस्तित्व की दृष्टि से सभी स्वतंत्र हैं। इसलिए किसी की भी स्वतंत्रता का हनन करना हिंसा है। आत्मा की स्वतंत्रता को स्वीकार कर लेने से अहिंसा को व्यापकता मिलती है।

3.1.3 आत्मा की समानता

यद्यपि आत्मा अनन्त हैं, उनकी कर्मकृत अवस्थाएं भिन्न- भिन्न हैं किंतु स्वरूप की अपेक्षा से सब आत्माएं समान हैं। समानता का यह सिद्धान्त मनुष्य तक ही सीमित नहीं है। संसार में जितने प्राणी हैं, उन सबकी आत्मा समान है। सुख-दु:ख, प्रिय-अप्रिय की वृत्ति प्राणी मात्र में समान होती है। अहिंसा की भावना को समझने और बलवान बनाने के लिए आत्मा की समानता का सिद्धान्त अत्यन्त उपयोगी है। भगवान् महावीर ने कहा-प्राणी मात्र को आत्म तुल्य समझो। ''हे पुरुष! जिसे तू मारने की इच्छा करता है, जिस पर शासन करने की इच्छा करता है, जिसे अपने वश में करने का विचार करता है-वह तेरे जैसा ही प्राणी है।'' आचारांग में कहा गया है-''जैसे मुझे कोई बेंत, हड्डी, कंकर आदि से मारे, पीटे, ताड़ित करे, दु:ख दे, व्याकुल और भयभीत करे, प्राणहरण करे तो मुझे दु:ख होता है, ठीक उसी तरह सभी प्राणियों को भी होता है-यह सोचकर किसी भी प्राणी को नहीं मारना चाहिए, उन पर हुकूमत नहीं करनी चाहिए।'' गांधी जी के अनुसार- जैसी अपेक्षा दूसरों से अपने लिए करते हो, वैसा की बर्ताव उनके प्रति तुम करो। आत्मौपम्य की यही सार्थकता है।

अस्तित्व, ज्ञान और वीर्य की सामर्थ्य की दृष्टि से सभी आत्माएं समान हैं। यदि इस समानता के सिद्धान्त को समझ लें तो-

छोटे जीवों की बलि के द्वारा बड़े जीवों को बचाने की बात अहिंसा को मान्य नही हो सकती।

मनुष्य को बचाने हेतु दूसरे जीवों की हिंसा अहिंसा को मान्य नहीं हो सकती।

रंग, लिंग, जाति आदि के आधार पर अत्याचार अहिंसा के दृष्टि से मान्य नहीं हो सकते।

3.1.4. जीवन की सापेक्षता

कोई भी व्यक्ति या प्राणी निरपेक्ष रहकर अपने अस्तित्व की रक्षा नहीं कर सकता। इसी कारण जीवन को सापेक्ष माना गया है। सापेक्षता का यह सिद्धान्त प्रकृति के कण-कण में लागू होता है। कोई भी प्राणी तथा वस्तु एवं वस्तु व्यवस्था सापेक्षता की मर्यादा से बाहर नहीं है। शांति के पांच रूप-विश्वशांति, व्यक्ति की शांति, समाज की शांति, प्रकृति की शांति और संस्कृति की शांति-ये सभी परस्पर सापेक्ष हैं। एक की अशांति दूसरे की अशांति का कारण बन जाती है। इसलिए अहिंसा की अवधारणा को व्यापकता प्रदान करने की दृष्टि से जीवन की सापेक्षता को स्वीकार करना ही पड़ेगा। निरपेक्ष को स्वीकार करने का अर्थ है-क्रूरता को, हिंसा को स्वीकार करना, इसलिए सभी प्राणियों की

अपेक्षा करो। सापेक्षता से स्नेह बढ़ता है, निरपेक्षता खिंचाव लाती है। सापेक्षता है तो शोषण नहीं होगा, अपराध नहीं होगा, युद्ध और हिंसा नहीं होगी।

वर्तमान में जब हिंसा समग्र होती जा रही है, तब जीवन की सापेक्षता का मूल्य भी समझ में आ रहा है। प्रत्येक राष्ट्र को अपना अस्तित्व बनाये रखने के लिए दूसरे राष्ट्रों के अस्तित्व की भी अपेक्षा है। यही कारण है कि आज विकसित व समृद्ध राष्ट्र अविकसित व जरूरतमंद राष्ट्रों को सहयोग करने के लिए तत्पर हो रहे हैं। जीवन की सापेक्षता को स्वीकार कर लिया जाए तो बहुसंख्यकों के लिए अल्पसंख्यकों तथा बड़ों के लिए छोटों का बलिदान उचित नहीं ठहराया जा सकता।

3.1.5. सह-अस्तित्व

मैं रहूंगा या वह रहेगा, अहिंसा की परिधि में इस चिंतन को स्थान नहीं मिल सकता। मैं भी रहूंगा, वह भी रहेगा-इस प्रकार सह-अस्तित्व की भाषा में सोचना अहिंसा का दर्शन है। ''सब जीव समान हैं और मनुष्य जाति एक है''-सह-अस्तित्व को व्यापक रूप देने के लिए इस धारणा की व्यापक प्रतिष्ठा आवश्यक है।

आचार्य उमास्वामी का एक प्रसिद्ध सूक्त है-''परस्परोपग्रहो जीवानाम्।'' परस्परता की अनुभूति सह-अस्तित्व के संबंध में एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण सूत्र है। प्रत्येक प्राणी में कुछ साम्य है और कुछ वैषम्य भी। केवल वैषम्य को प्रधान मान लेने से दूसरे को मिटाने की बात आएगी और केवल साम्य को प्रधान मान लेने से एकांतिक आग्रह जन्म लेगा। दोनों का परिणाम होगा-कलह। महावीर ने कहा-नित्य-अनित्य, सामान्य-असामान्य, वाच्य-अवाच्य, सत्-असत् जैसे विरोधी युगल का सह-अस्तित्व संभव है। यदि सह-अस्तित्व का विचार पुष्ट होता है तो दूसरे के स्वत्व का अपहरण मान्य नहीं हो सकता, वर्ग-विग्रह, अन्तर्राष्ट्रीय विग्रह को मान्यता नहीं मिल सकती।

अहिंसा के उपर्युक्त सैद्धान्तिक पक्ष को समझ लिया जाए तो अहिंसा को व्यापकता मिल सकती है और सैद्धान्तिक पक्ष को समझकर ही प्रायोगिक पृष्ठभूमि मजबूत की जा सकती है।

3.2 अहिंसा प्रशिक्षण का स्वरूप

अहिंसा प्रशिक्षण का आधार है-हिंसा के बीजों को प्रसुप्त बनाकर अहिंसा के बीजों को अंकुरित करना। इसके लिए प्रशिक्षण आवश्यक है। अहिंसा प्रशिक्षण की प्रक्रिया के दो चरण हैं-

- सैद्धान्तिक बोध
- प्रायोगिक अभ्यास

अहिंसा के सैद्धान्तिक बोध के अंतर्गत हिंसा के कारण, परिणाम एवं उपाय का प्रशिक्षण समाविष्ट है जिससे व्यक्ति की अवधारणाओं में परिष्कार का अवसर मिले और उसके साथ-साथ प्रायोगिक प्रशिक्षण भी चले।

3.3 हिंसा की जड़

हिंसा के कारण बाहर परिवेश में भी हैं और अन्दर हमारी वृत्तियों में भी। कुछ कारण व्यक्ति में हैं, कुछ समाज में हैं। हिंसा का मूल कारण, उपादान व्यक्ति में है। उसको उद्दीप्त करने वाले निमित्त कारण परिवेश में, समाज में हैं।

आर्थिक, सामाजिक और राजनैतिक कारण हिंसा को प्रोत्साहन देते हैं। विषमता, बेरोजगारी, शोषण, दरिद्रता, अतिभाव, विलासिता आदि ऐसे आर्थिक कारण हैं, निमित्त हैं, जिनसे व्यक्ति में निहित उपादान को उत्तेजना मिलती है। जो हिंसा भड़काने में निमित्त बनते हैं।

हिंसा को भड़काने में सामाजिक विकृतियां, वर्णभेद, अस्पृश्यता, विषम परिस्थितियां, कुरूढ़ियां, दासता आदि का भी बहुत बड़ा हाथ रहता है।

राजनीति में सैद्धान्तिक आतंकवाद तथा व्यावसायिक आतंकवाद हिंसा की आग में घी डालने का काम करते हैं। साम्प्रदायिक कट्टरता भी हिंसा भड़काती है। ये बाह्य कारण व्यक्ति के आन्तरिक कारणों को जगाते हैं। व्यक्ति के भीतर हिंसा के अनेक कारण हैं। उसमें मुख्य हैं-व्यक्ति की वृत्तियां। निषेधात्मक भाव, क्रूरता, भय, ईर्ष्या, क्रोध, अहंकार, लोभ आदि वृत्तियां हिंसा को जन्म देती हैं।

व्यक्ति में हिंसा का दूसरा कारण है-अपने मत का दुराग्रह एवं स्वयं को ही सही समझने की दृष्टि। अपने से भिन्न मत वाले को गलत समझने का दृष्टिकोण अन्ततः हिंसा को प्रोत्साहित करता है, हिंसा को पोषण देता है।

व्यक्ति की जीवन शैली का भी हिंसा से बहुत गहरा संबंध है। सुविधावादी, असंयमित, भोगप्रधान जीवन शैली हिंसा को उत्तेजित करती है।

3.4 हिंसा का निवारण

हिंसा और अहिंसा दोनों के बीज मनुष्य के भीतर हैं। ऐसी स्थिति में वातावरण पर ध्यान देना बहुत जरूरी है। क्योंकि वही सबसे पहले हमारे सामने आता है। भगवान् महावीर ने कहा-निमित्त और उपादान, परिस्थिति और अन्तर्जगत्, दोनों को तोड़कर मत देखो। कुछ लोग सारा भार परिस्थिति पर ही डाल देते हैं। परिस्थिति नहीं बदलेगी तो समस्या का समाधान नहीं होगा। दूसरी ओर जोअध्यात्मवादी लोग हैं, उनका मत है-अन्तर्जगत् में सुधार नहीं होगा, उपादान नहीं बदलेगा तो समस्या का समाधान नहीं होगा। ये दोनों ही एकांगी दृष्टिकोण हैं। निमित्त और उपादान-दोनों जुड़े हुए हैं। उपादान शक्तिशाली और निमित्त प्रतिकूल है तो उपादान कुछ नहीं कर पाएगा। जो घटित होता है इन दोनों के योग से होता है। समग्र परिवर्तन के लिए दोनों पर ध्यान देना अपेक्षित है।

4.अहिंसा-प्रशिक्षण के आयाम

जहां कुछ विद्वान् मानस-परिवर्तन, संरचनात्मक परिवर्तन, व्यक्तिवादी प्रशिक्षण एवं सामूहिक प्रशिक्षण को एकल रूप में रेखांकित करते हैं, वहीं कुछ महापुरुषों की अवधारणा एक समेकित प्रारूप के प्रस्तुतीकरण पर बल देती है। उनके द्वारा विकसित अहिंसा प्रशिक्षण की चतुरायामी अवधारणा मात्र व्यक्ति या मात्र समाज तक नहीं पहुंचती है पर दोनों को एक साथ समाहित करती है। समग्रता के इन चार आयामों में हृदय-परिवर्तन, दृष्टिकोण परिवर्तन, जीवनशैली परिवर्तन एवं तद्नुरूप संरचनात्मक परिवर्तन (व्यवस्था परिवर्तन) सम्मिलित हैं।

4.1. हृदय-परिवर्तन

अहिंसा प्रशिक्षण का प्रथम आयाम है-हृदय-परिवर्तन। हृदय-परिवर्तन का अर्थ है भाव-परिवर्तन। भावों का उद्गम स्थल है-मस्तिष्क का एक भाग, लिम्बिक संस्थान। अतः इसे मस्तिष्कीय प्रशिक्षण कहा गया है। हृदय परिवर्तन का पहला सूत्र है-निषेधात्मक भावों के परिवर्तन का प्रशिक्षण। निषेधात्मक भावों का उद्दीपन हमारे शारीरिक अस्वास्थ्य के कारण भी होता है। अतः हृदय-परिवर्तन का दूसरा सूत्र है-शारीरिक स्वास्थ्य में

मिताहार का प्रशिक्षण। निषेधात्मक भावों (संवेगों) के परिवर्तन के लिए निम्ननिर्दिष्टि सिद्धान्त- सूत्रों का प्रशिक्षण आवश्यक है-

हिंसा के हेतु	**परिणाम**
लोभ	अधिकार की मनोवृत्ति
भय	शस्त्र निर्माण और शस्त्र प्रयोग
वैर	विरोध प्रतिरोध की मनोवृत्ति
क्रोध	कलहपूर्ण सामुदायिक जीवन
अहंकार	घृणा, जातिभेद के कारण छूआछूत
क्रूरता	शोषण, हत्या
असहिष्णुता	साम्प्रदायिक झगड़ा

ये संवेग (निषेधात्मक भाव) व्यक्ति को हिंसक बनाते हैं। हृदय-परिवर्तन का तात्पर्य है संवेगों का परिष्कार करना, इनके स्थान पर नए संस्कार-बीजों का वपन करना।

4.1.1 हृदय परिवर्तन की आवश्यकता

आज विज्ञान और मनोविज्ञान द्वारा यह सिद्ध हो चुका है कि मानवीय संवेग हिंसा या युद्ध के लिए जिम्मेदार है। इन संवेगों के कारण प्राणी के अन्य सभी व्यवहार अस्त-व्यस्त हो जाते हैं। संवेगों की इस विशेषता के कारण मनोवैज्ञानिक संवेगों को एक विध्वंसात्मक शक्ति के रूप में भी स्वीकार करते हैं। व्यक्ति पदार्थ की आसक्ति के कारण अपनी आवश्यकताओं से विलासिताओं की ओर बढ़ने लगता है तो हिंसा अवश्यंभावी हो जाती है। भय का संवेग व्यक्ति में असुरक्षा की भावना पैदा करता है और इस असुरक्षा की भावना के कारण वह आक्रामक हो जाता है, अस्त्र-शस्त्र जुटाता है। क्रूरता का संवेग व्यक्ति को पेशेवर हत्यारे के रूप में बदल देता है। शत्रुता का भाव व्यक्ति में अविश्वास पैदा करता है, जिससे वह स्वयं को सदैव असुरक्षित पाता है। अत: स्पष्टत: मानव मस्तिष्क के ये संवेग हिंसा या युद्धों के जिम्मेदार हैं। जब तक मनुष्य के इन संवेगों को नियंत्रित नहीं किया जाता, इन निषेधात्मक भावों की जगह विधेयात्मक भावों को स्थापित नहीं किया जाता, तब तक अहिंसा या शांति की बात फलित नहीं हो सकती। इसलिए मानव मस्तिष्क के परिवर्तन की आवश्यकता है।

4.1.2 परिवर्तन का साधन : अनुप्रेक्षा व भावनाएं

मन की मूर्च्छा तोड़ने वाले विषयों का अनुचिंतन करना अनुप्रेक्षा है। जिस विषय का अनुचिंतन बार-बार किया जाता है या जिस प्रवृत्ति का अभ्यास बार-बार किया जाता है, उससे मन प्रभावित होता है, इसलिए उस अनुचिन्तन या अभ्यास को भावना कहते हैं। मनुष्य जिसके लिए भावना करता है, जिस अभ्यास को दोहराता है उसी रूप में उसका संस्कार निर्मित हो जाता है। प्राचीन आगमों में ''भावितात्मा'' शब्द का प्रयोग हुआ है। भावितात्मा होने के पश्चात् व्यक्ति जो होना चाहता है, वह होकर रहता है। यह सारा एकाग्रता का चमत्कार है। हम जो होना चाहते हैं, हो जाते हैं। अर्थात् जिस रूप में मन को बदलना चाहते हैं, बदल लेते हैं। स्वसम्मोहन का प्रयोग, ऑटोसजेशन का प्रयोग-ये सब भावना के द्वारा सम्मोहित होने के ही प्रयोग हैं। पहले शरीर को देखना फिर संकल्प और भावना के

प्रयोग द्वारा बदलने की भावना को अवचेतन तक पहुंचा देना-यही है रूपान्तरण की प्रक्रिया, मस्तिष्क को बदलने की प्रक्रिया।

भावना का आज की भाषा में अर्थ है-ब्रेनवाशिंग अर्थात् पुराने विचारों की जगह नये विचारों को जन्म देना। ब्रेनवाशिंग हेतु स्वत:सूचन (Auto Suggestion) की पद्धति बहुत ही महत्त्वपूर्ण है। सुझाव के द्वारा हमारी चेतना बदलना शुरू कर देती है तथा चेतना में परिवर्तन होने से आदतें बदली जा सकती हैं, संवेग बदले जा सकते हैं। एक ही बात को जब हम बार-बार दोहराते हैं, उस भावना की बार-बार आवृत्तियां करने से तरंगें पैदा होती हैं जो पुराने संस्कारों को उखाड़ देती हैं तथा नये संस्कारों का सृजन हो जाता है।

भावना का अर्थ मात्र सोचना नहीं है। इसका अर्थ है हमारे ज्ञानतंतुओं को, हमारी कोशिकाओं को अपने वशवर्ती कर लेना, उन पर अपनी भावनाओं को अंकित कर देना। हमारे मस्तिष्क में खरबों न्युट्रान हैं। ये न्यूट्रान ही नियामक हैं। भावना के द्वारा जो संकल्प न्यूट्रान तक पहुंच जाता है वह संकल्प सफल हो जाता है। मन की शक्ति के जागरण में इन ज्ञानतंतुओं का महत्त्वपूर्ण स्थान है।

मस्तिष्क परिवर्तन के लिए अनासक्ति, अभय, मैत्री, क्षमा, मृदुता और करुणा की भावनाएं महत्त्वपूर्ण हैं। पदार्थों के प्रति आसक्ति व्यक्ति को लालची बनाती है तथा व्यक्ति के प्रति आसक्ति राग-द्वेष का कारण बनती है-ये दोनों ही हिंसा के कारण हैं इसलिए अनासक्ति की भावना महत्त्वपूर्ण है। भय के संवेग को दूर करने के लिए अभय की भावना, आक्रामक व्यवहार को खत्म करने के लिए मृदुता की भावना एवं क्रूरता के संवेग को मिटाने के लिए करुणा की भावना महत्त्वपूर्ण है।

4.1.2.1 अनासक्ति

इन्द्रियों के विषय क्षणिक सुख देने वाले हैं, पर इनके भोग का परिणाम अन्तत: दु:खद होता है। व्यक्ति परिणाम को जानते हुए भी इन्द्रियों के विषयों के प्रति आसक्त रहता है। महाभारत में कहा गया है-व्यक्ति धर्म को जानते हैं फिर भी उसमें प्रवृत्ति नहीं करते, अधर्म को भी जानते हैं लेकिन वह छोड़ा नहीं जाता। क्यों? क्योंकि व्यक्ति मोहग्रस्त है, आसक्त है।

आवश्यकता पूर्ति हेतु पदार्थों के प्रति आकर्षण सहज है पर पदार्थों के प्रति आसक्ति असहज है। आसक्ति आवश्यकता नहीं है, व्यामोह है। शांति का अनुभव कर चुका व्यक्ति कभी भी आसक्त नहीं होगा। स्थूलिभद्र वेश्या के घर पर रहते हुए भी अनासक्त रहे, पथभ्रष्ट नहीं हुए जबकि विश्वामित्र, पराशर आदि ऋषि पत्ते खाते हुए जंगल में रहे लेकिन वे पथच्युत हो आसक्त हो गये।

प्रत्येक मनुष्य के जीवन में दु:ख आता है, आपदाएं आती हैं, प्रकोप आते हैं, कोई उन्हें रोक नहीं पाता। लेकिन इनसे होने वाले दु:खद संवेदनों से स्वयं को बचाया जा सकता है। घटनाएं घटेंगी पर व्यक्ति इनके साथ नहीं जुड़ेगा। घटना का ज्ञान व्यक्ति को होगा वह अवचेतन तक नहीं पहुंचेगी। व्यक्ति यह सोचेगा कि मैं दु:ख भोगने के लिए नहीं जन्मा हूं, इस चिंतन से पदार्थों से होने वाले संवेदन स्वत: ही समाप्त हो जायेंगे। यही है-अनासक्त योग। अनासक्ति का अर्थ है-पदार्थ के साथ जुड़ी चेतना का छूट जाना।

सामान्यत: हर व्यक्ति प्रिय-अप्रिय संवेदनों में जीता है। जब तक प्रियता-अप्रियता, राग-द्वेष या आसक्ति का आवरण नहीं हटेगा दर्शन संभव नहीं होगा। इसलिए अनासक्ति भाव से देखें, तटस्थता से देखें। गीता में श्रीकृष्ण ने कहा है-मैं उदासीन की भांति आसीन हूं, कर्मों में अनासक्त हूं। इसलिए वे

मुझे नहीं बांधते। अत: संवेदना व्यक्ति का मूल स्वभाव नहीं है, ज्ञाता-द्रष्टा भाव का विकास ही उसका लक्ष्य है।

4.1.2.2 अभय

भय की भावना को निरस्त करने के लिए अभय की भावना का विकास आवश्यक है। आज प्राय: हर व्यक्ति भयाक्रान्त है। क्योंकि सर्वत्र प्रमाद है, असत्य है, विस्मृतियां हैं। भगवान् महावीर ने कहा है-प्रमादी को सब तरफ से भय होता है, अप्रमादी भयमुक्त है। प्रमाद इसलिए है क्योंकि केवल बुद्धि का जागरण है, प्रज्ञा सोई हुई है। बुद्धि भय को मिटा नहीं सकती बल्कि भय को और अधिक सूक्ष्मता से पकड़ लेती है। इसलिए प्रज्ञाविहीन व्यक्ति में बुद्धि जितनी प्रखर होगी उतना ही अधिक भय होगा। उदाहरणत: सामान्य व्यक्ति कम भयभीत है पर एक पढ़े-लिखे व्यक्ति एवं वैज्ञानिक आदि के सामने अनेकों संकट हैं। उनके सामने उर्जा का संकट है, आबादी का संकट है, पर्यावरण का संकट है, परमाणु अस्त्रों का संकट है, जबकि सामान्य व्यक्ति इन भयों से परे है। भयभीत व्यक्ति सुरक्षा की कोशिशें करता है। विकसित राष्ट्र भयभीत है कि एक दिन उनका विकास ही उन्हें न लील जाये। अविकसित राष्ट्र इसलिए भयभीत हैं कि उनकी गरीबी उन्हें युद्धों की ओर धकेल रही है। समृद्ध को धनरक्षा का भय है, गरीब पेट की आग से भयभीत है।

4.1.2.2.1 भय-अभय का वैज्ञानिक आधार

भय के कारण अनुकम्पी नाड़ी तंत्र प्रभावित होता है, जिसका परिणाम है उत्तेजना। जबकि अभय से परानुकम्पी नाड़ी तंत्र सक्रिय होता है जिसका परिणाम है शांति, सुख का अनुभव। व्यक्ति के जैसे भाव होते हैं उसकी मुद्रा भी उसी तरह की हो जाती है। भय से व्यक्ति की एड्रिनल ग्रंथि सक्रिय होती है और उसके स्राव व्यक्ति को आक्रामक बना देते हैं।

4.1.2.2.2 अभय कैसे बनें

अभय बनने के लिए अभय की भावधारा विकसित करनी होगी जिसका सशक्त साधन है-अभय की अनुप्रेक्षा। अभय की अनुप्रेक्षा द्वारा अभय की तरंगें उत्पन्न होती हैं जो भय की तरंगों को निरस्त करती है। गेल्वेनोमीटर द्वारा व्यक्ति के असत्य को भय की तरंगों द्वारा ही पकड़ा जाता है।

अभय के लिए सर्वप्रथम शरीर के भय से मुक्ति आवश्यक है। शरीर के प्रति ममत्व भय का प्रमुख कारण है। शरीर के प्रति ममत्व का विसर्जन अभय का द्वार है। जितनी सहिष्णुता सधती है उतना ही अभय का विकास होता चला जाता है।

कायर व्यक्ति कभी भी अहिंसक नहीं बन सकता। कायरता व्यक्ति की मानसिक कमजोरी है जो हिंसा को बढ़ावा देती है। निर्भयता अहिंसा का प्राण है। अभय व्यक्ति ही अहिंसा का पालन कर सकता है।

4.1.2.3 मृदुता

मान के संवेग को नष्ट करने के लिए मृदुता का अभ्यास जरूरी है। मृदुता (कोमलता) सामूहिक जीवन की सफलता का सूत्र है। मृदु स्वभाव में लोच होती है जिससे इस स्वभाव का व्यक्ति किसी भी वातावरण को अपने अनुकूल बना लेता है। वह न केवल अपने जीवन को बल्कि आसपास के वातावरण को भी सरस बना देता है। जो कार्य कठोर अनुशासन से नहीं होते, मृदुता से सहज ही हो जाते हैं।

मनुष्य की तीन बड़ी दुर्बलताएं हैं-क्रूरता, विषमता एवं स्वयं को हानि पहुंचाने की वृत्ति। इनमें क्रूरता का पहला स्थान है। क्रूरता के कारण ही शोषण, मिलावट, पशुवध, वनों की कटाई, दहेज हत्याएं, आदि अनेक आर्थिक, सामाजिक व राजनैतिक अपराध होते हैं। वर्तमान की अधिकांश समस्याएं व विरोधाभास क्रूरता के कारण हैं। व्यवहार परिवर्तन या परिष्कार का अर्थ है-व्यवहार में क्रूरता की जगह कोमलता मृदुता का विकास। यही प्रशस्त जीवन है।

4.1.2.4 मैत्री

विश्वबंधुत्व का पहला सूत्र है मैत्री। ईसा ने कहा-शत्रु के साथ भी मैत्री करो। महावीर ने कहा-किसी को शत्रु मानो ही मत। यद्यपि व्यक्ति-व्यक्ति में भेद है। उनमें रूचि, चिन्तन, व्यवहार, व्यवस्था, रहन-सहन, खान-पान आदि में भेद है, लेकिन इन भेदों के कारण शत्रुता पनपे, यह अवांछनीय है। भगवान् महावीर ने कहा-दूसरों के साथ बुरा व्यवहार करने से स्वयं तुम्हारा ही अनिष्ट होता है। मैत्री की भावना से कभी कोई किसी का अनिष्ट नहीं करता। मैत्री भाव का साधक स्वयं को कष्ट में डाल देगा पर दूसरों को कष्ट नहीं दे सकता।मानवीय संबंधों की पहली कठिनाई-शत्रुता है। शत्रुता का कारण दोषारोपण है। हम दूसरों से द्वेष ही नहीं रखते अपितु स्वयं के कर्त्तव्य को भुलाकर दूसरों में दोष देखते हैं। व्यक्ति दूसरों के भय के कारण उनसे शत्रुता रखता है जबकि अभय से मैत्री फलित होती है। ''मेरा सबके साथ मैत्री भाव है, कोई मेरा शत्रु नहीं है''- जैसे-जैसे यह भाव विकसित होता है सर्वत्र प्रसन्नता व्याप्त हो जाती है। मैत्री का सम्पूर्ण अर्थ केवल प्रेम ही नहीं है, अपितु सबके अस्तित्व को स्वीकार करना है। जो है, जैसा है, उसे वैसे ही स्वीकार करना, सत्यान्वेषी बनना है। मैत्री का विराट् रूप जब सामने आता है तो द्वेष रहता ही नहीं है। सभी प्राणियों को अपने समान समझने का भाव जागृत हो जाता है।

मानवीय संबंधों की दूसरी कठिनाई कठोरता है। हमें छोटों के साथ कठोर व्यवहार करना चाहिए-इस धारणा ने सामाजिक संपर्क व संबंधों में दरार पैदा कर दी है। हम यह भूल गए हैं कि मैत्री भाव के द्वारा आदमी को जितना प्रेरित किया जा सकता है उतना कठोरता से नहीं किया जा सकता। सद्भावना से तो पेड़-पौधे भी जल्दी विकसित होते हैं। इसलिए जीवन को सफल बनाने के लिए उसमें सौरभ व सरसता भरनी चाहिए।

4.1.2.5 करुणा

दूसरों के दु:खों को दूर करने की इच्छा करुणा है। मानव स्वभाव की ऐसी इच्छाओं को हटाना आवश्यक है जो दूसरों के लिए तथा अपनी खुशी के लिए हानिकारक हैं। करुणा इस चिन्तन का परिणाम है कि प्राणी कैसे दुखी है। दु:खी, पीड़ित और त्रस्त व्यक्ति को देखकर जो करुणा का भाव जाग्रत होता है, वह यह सूचना देता है कि आपका चित्त कोमलता, मृदुता और प्रेम से शून्य नहीं है।

करुणा का संबंध संवेदनशीलता से है। व्यक्ति में जितनी संवेदनशीलता है उतना ही करुणा का विकास होगा। व्यक्ति में जितनी असंवेदनशीलता होगी, उतना ही वह क्रूर होगा। क्रूरता का कारण है-लोभ, संग्रहवृत्ति, अमानवीय दृष्टिकोण आदि। क्रूरता का निदान है-मानवीय दृष्टिकोण का निर्माण, आत्मौपम्य दृष्टि तथा प्रत्येक प्राणी को अपने समान समझने का दृष्टिकोण।

आजकल क्रूर व्यवहार को बड़प्पन समझा जाने लगा है। सत्ता और शक्ति के मद में व्यक्ति छोटों के साथ क्रूर व्यवहार कर बड़प्पन समझता है। इसी कारण रिश्वत व भ्रष्टाचार जैसी क्रूरताएं पनपती हैं। जब सत्ता और शक्ति का दुरूपयोग बन्द हो जाए, तब यह समझना चाहिए कि मानवीय

दृष्टिकोण का विकास हुआ है और मानवीय दृष्टिकोण के निर्माण से ही छोटों के प्रति क्रूरता खत्म हो सकेगी। जब करुणा की ज्योति जलती है तब अन्याय मिट जाते हैं। इसलिए सामाजिक और आर्थिक स्वास्थ्य का मूल सूत्र है-करुणा।

करुणा का यह सिद्धान्त शासकों के प्रति भी इसी तरह लागू होता है। यदि शासक दयालु और कृपालु नहीं है तो यह नैतिकता के प्रति हिंसा है। यह एक सामाजिक सच्चाई है कि जो सौभाग्यशाली हैं, समृद्ध हैं, शिक्षित हैं, वे असहायों के प्रति करुणा रखें। कल्याणकारी राज्य का सिद्धान्त भी इसी परोपकारिता के दर्शन पर अवलंबित है। बुद्ध का जब निर्वाण हुआ तो वे निर्वाण के द्वार पर रूक गये और कहा-''जब तक सब प्राणियों का दुःख दूर नहीं होगा, तब तक मैं कैसे भीतर जाऊं,'' यह है जागतिक करुणा का प्रयोग। जिसका सम्पूर्ण जगत् मित्र है, उसकी करुणा भी जागतिक हो जाती है। बुद्ध के अनुसार विद्या और आचरण के मेल से ही बोधि प्राप्त होती है। मस्तिष्कीय गुणों का विकास विद्या है यह व्यक्ति का बौद्धिक पक्ष है जबकि करुणा आचरण है जो व्यक्ति का भावात्मक पक्ष है, जिसका संबंध व्यक्ति के हृदय से है। जिस व्यक्ति के हृदय में अत्यधिक क्रूरता है, करुणा भावना का प्रयोग उसकी अभिवृत्ति को बदल सकता है।

4.1.2.6 विधायक चिंतन

विधायक चिंतन के बिना व्यक्ति सच्चाई के पास नहीं पहुंच सकता। निषेधात्मक दृष्टिकोण का व्यक्ति हर सच्चाई को नकारता जाता है जिसका परिणाम होता है-निराशा, अनुत्साह, आवेग, कार्य से निवृत्ति व हिंसा। विधायक चिंतन वाला व्यक्ति सच्चाई के पास पहुंच जाता है जिसका परिणाम होता है-जीवन में सफलता व शांति।

व्यक्ति के चिंतन के दो पक्ष होते हैं-1. समग्रता की दृष्टि और 2. व्यग्रता की दृष्टि। व्यग्रता का दृष्टिकोण एकाकी आग्रह है। व्यक्ति अपने ही आग्रह पर अड़ा रहता है। उसे अपने सिवाय हर व्यक्ति के विचार मिथ्या लगते हैं। इसलिए समग्रता के दृष्टिकोण के बिना उस व्यक्ति का हर निर्णय अपूर्ण होगा, आग्रही होगा। आग्रह विवादों को जन्म देता है। समग्र दृष्टिकोण में विवाद की संभावना नहीं होगी क्योंकि उसके पास अनेकांतिक दृष्टि है जिससे वह दूसरों के विचारों की सच्चाई को भी समझ सकता है।

विधायक चिंतन का दूसरा कोण है अनावेश। आवेश की स्थिति निषेधात्मक चिंतन की स्थिति है जिससे व्यक्ति को कई सामाजिक, आर्थिक समस्याओं का सामना करना पड़ता है। जबकि अनावेश की स्थिति स्वस्थ और तथ्यों पर आधारित होती है। प्रश्न है-हम क्रोध व अहंकार पर नियंत्रण कैसे करें? जब तक व्यक्ति में संबंध और विसंबंध की चेतना जागृत नहीं होगी तब तक अनावेश की स्थिति घटित नहीं होगी। विधायक चिंतन का तीसरा कोण है-असंशय। संशयशील चिंतन संभावनाओं को नकारता है, जिससे उसका दृष्टिकोण आग्रही व रूढ़िवादी बन जाता है, वह सच्चाई को नहीं जान पाता। असंशय की स्थिति का अर्थ है संभावनाओं का स्वीकार। अपने पुरुषार्थ, अपनी क्षमताओं व अपने कृतित्व पर विश्वास। इससे व्यक्ति सच्चाई के रास्ते सदैव खुले रखता है और कहीं भी संघर्ष की संभावना नहीं रहती। विधायक चिंतन का चौथा कोण है-विरोधाभासों में संगति ढूंढना। एकाकी दृष्टिकोण का व्यक्ति हर विचार में विरोध ही देखता है जिससे कलह या हिंसा की संभावना सदैव रहती है। जबकिविरोधाभासों में संगति का पता लगाना विधायक चिंतन का परिणाम है। परस्पर विरोधी विचार व्यवहार में सर्वथा विरोधी नहीं होता, इस कारण उनमें समन्वय के सूत्रों को खोजा जा सकता है। विधायक चिंतन के लिए चित्त की एकाग्रता भी आवश्यक है। उच्छृंखल चित्त अनेक समस्याएं पैदा

करता है। विधायक चिंतन चित्त की एकाग्रता को फलित करता है।विधायक चिंतन आसापास के परिवेश को अपने अनुकूल बना लेता है। वह हर विपरीत परिस्थिति या प्रतिकूल परिस्थिति में कोई न कोई ऐसे सूत्र ढूंढ़ लेता है जिससे विरोधी परिस्थिति या प्रतिकूल परिस्थिति में भी शांति से जीने का आधार मिल जाता है।

प्रियता-अप्रियता के विचार विकृत विचार हैं जो हीनता व अहंकार के कारण होते हैं जिससे व्यक्ति सत्य को नहीं पकड़ पाता। विधायक चिंतन समतापूर्ण विचारों पर आधारित रहता है जिससे वह सत्य को समग्रता से जान सकता है। समतापूर्ण व्यवहार वाला व्यक्ति अभय के वातावरण में चिंतन करता है जिससे उसका चिंतन स्वस्थ रहता है। जबकि प्रियता-अप्रियता से ग्रसित व्यक्ति भय के वातावरण में रहता है और उसका चिंतन भी कुंठित हो जाता है, जो कई समस्याएं पैदा करता है।अत: विधायक चिंतन विकास व शांति का मार्ग है। हृदय परिवर्तन के सूत्रों में इसका महत्त्वपूर्ण स्थान है। अभय, मैत्री, करुणा, क्षमा, मृदुता आदि सभी विधायक भाव हैं जो व्यक्ति के निषेधात्मक भावों को बदलकर उसे अहिंसक बनाने में सक्षम होते हैं।

4.1.3 हृदय परिवर्तन का आधार

समस्त प्राणियों के स्वभाव के अध्ययन से हम सहज ही यह निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि मानवीय स्वभाव विशिष्ट है। मानवीय स्वभाव का अध्ययन-''मनुष्य क्या करता है'' प्राय: इसी से किया जाता है पर यदि हम मानवीय स्वभाव का वास्तविक अंकन करना चाहते हैं तो हमें इस बात पर ध्यान देना होगा कि ''मनुष्य क्या कर सकता है''। मनुष्य क्या करता है, इसका संबंध मानवीय व्यवहार से है न कि स्वभाव से। प्राय: हम ऐसा देखते हैं कि मनुष्य अपने स्वभाव के विपरीत व्यवहार करता है। इसलिए हमें इस ओर अपना ध्यान आकृष्ट करना होगा कि ''वह क्या कर सकता है'', इस प्रश्न का सीधा संबंध मनुष्य की योग्यता और शक्ति से है जो अन्तत: उसके स्वभाव से जुड़ता है।

सामान्यत: ऐसी धारणा है कि हम साधारणत: जो करते हैं वह हमारा स्वभाव है तथा जिसे हम स्वयं से अलग नहीं कर सकते। यदि हमारा यह व्यवहार बुरा और अपराधपूर्ण है तो हम क्रूर व हिंसक पशुओं के व्यवहार से कैसे स्वयं को अलग मान सकते हैं। सामान्यत: और सामान्य परिस्थितियों में कोई व्यक्ति क्रूरता, झगड़ा, हत्या आदि नहीं करता क्योंकि उसका स्वभाव ऐसा नहीं है। यदि मनुष्य को केवल बुरा मान लिया जाए तो शिक्षा और प्रशिक्षण, कॉलेज और विश्वविद्यालय सभी अर्थहीन हो जायेंगे। सभी धर्म, नैतिकता, अध्यात्म आदि व्यर्थ हो जायेंगे जिनका चरम उत्कर्ष मनुष्यता के उस स्तर की प्राप्ति है जहां पहुंच कर कुछ भी प्राप्त करने को शेष नहीं रह जाता, सारी इच्छाएं, कामनाएं शांत हो जाती हैं। इसलिए किसी भी सामाजिक परिवर्तन के लिए मनुष्य में आस्था और उसकी पवित्रता में विश्वास अपेक्षित है। किसी भी विचार और नैतिक आन्दोलन को पुनरुज्जीवित करना है तो उसका आधार मानवीय नैतिकता में अविश्वास करके हम किसी भी नैतिक विचार क्रांति को सफल नहीं बना सकते। प्रो. ए. शिशकिन ने कहा है-''मार्क्सवाद यद्यपि पूंजीपतियों, लालच, महत्त्वकांक्षा, क्रूरता व अन्य सामाजिक बुराइयों को दूर करना चाहता है लेकिन वह मानवीय पवित्रता में विश्वास करता है। भले ही उसका विश्वास ईश्वर में न हो''।

यद्यपि प्रारंभिक अस्त-व्यस्त मनोविज्ञान मनुष्य की लड़ाकू वृत्ति की ओर संकेत करता है पर इसका कोई वैज्ञानिक साक्ष्य उपलब्ध नहीं है। डार्विन जिसे विकासवाद का जनक कहा जाता है, बड़ा आश्चर्य है कि वह भी शारीरिक शक्ति से नैतिक और आध्यात्मिक शक्ति को बड़ा मानता है। ग्रेट

आइसलैंड, जोर्डन, मोहनजोदड़ो आदि पूर्व सभ्यताओं की खोजों में किसी भी प्रकार के विध्वंसक अस्त्रों के प्रमाण न मिलना इस तथ्य की और अधिक पुष्टि करते हैं कि मनुष्य स्वभावत: बुरा नहीं है। यूनेस्को के प्रो. मोन्टेग (Montague) ने अपनी शोध के आधार पर यह निष्कर्ष निकाला है कि मनुष्य जन्म से आक्रामक प्रवृत्ति का नहीं रहा है, यह उसकी उपार्जित आदतों का परिणाम है। सेवाइल घोषणा पत्र में विश्व भर के विभिन्न क्षेत्रों के 20 विद्वानों ने यह घोषणा की है कि ''यह कहना वैज्ञानिक दृष्टि से पूर्णत: गलत और भ्रामक है कि युद्ध करने की प्रवृत्ति हमें हमारे पशु-पूर्वजों से मिली है..... कि युद्ध या अन्य हिंसक व्यवहार मनुष्य की वंशानुगत प्रवृत्ति है..... कि मानव विकास की प्रक्रिया में हिंसात्मक व्यवहार को अन्य प्रकार के व्यवहारों की तुलना में प्रधानता दी गई है..... कि मानव मस्तिष्क हिंसक होता है..... कि हिंसा का कारण हमारी उस ओर मूल प्रवृत्ति का होना है या कोई एकल अभिप्रेरणा है।''

अत: जब हमें मानवीय पवित्रता में विश्वास हो जाता है या जब हम यह स्वीकार कर लेते हैं कि जो बुराइयां मनुष्य में हैं वे सब आगन्तुक हैं, अर्जित हैं तब परिवर्तन का एक आधार तैयार हो जाता है। व्यक्ति के जो विभाव हैं, जिनकी आत्माएं रुग्ण हैं, जो आसक्ति के व्यामोह में फंसे हैं उन्हें परिवर्तन के प्रयासों से परिवर्तित किया जा सकता है। कोई भी व्यक्ति मनुष्य के परिवर्तन और उसके स्वभाव की लोचशीलता में संदेह नहीं कर सकता।

परिवर्तन के कई पहलू हैं पर अहिंसात्मक प्रयोगों के अन्तर्गत ''हृदय परिवर्तन'' परिवर्तन का सशक्त माध्यम है। यह पद सामान्यत: व्यक्तित्व में सम्पूर्ण, सम्यक् और स्थाई परिवर्तन के लिए प्रयुक्त है। जैसे ही किसी व्यक्ति का वास्तविक हृदय परिवर्तन होता है प्राय: संपूर्ण व्यक्तित्व का पुनर्जन्म हो जाता है। उसके व्यक्तित्व में यह परिवर्तन शारीरिक शक्ति या दबाव से नहीं लाया जा सकता है। विनोबा भावे ने एक पत्र में लिखा है कि ''जो यह सोचते हैं कि मानवीय व्यवहार और मस्तिष्क में परिवर्तन नहीं लाया जा सकता, वे मानवीय मनोविज्ञान से अनभिज्ञ हैं तथा मानवीय स्वभाव को जड़ समझते हैं।'' एक बार जब व्यक्ति की अनुभूतियां बदल जाती हैं तो वह इन परिवर्तित अनुभूतियों जैसा ही व्यवहार करने के लिए बाध्य हो जाता है।

जी. डब्ल्यू. आलपोर्ट (G. W. Allport) ने अपनी पुस्तक ''Personality'' में एक ऐसे लड़के के बारे में लिखा है जिसके व्यवहार और अध्ययन की आदतों में अध्यापक द्वारा उसकी बुद्धि पर टिप्पणी किये जाने के बाद अचानक आशा के विपरीत परिवर्तन आया था। प्रो. बेगबी और प्रेट (Prof. Bagbie and J.B. Pratt) ने ऐसे बहुत से पियक्कड़ों के उदाहरण दिये हैं जो वर्षों से पीते थे पर एक ही आघात ने उन्हें पीने की लत छुड़ा दी। इतिहास भी ऐसे हृदय परिवर्तन का साक्षी रहा है-जैसे सम्राट् अशोक, वाल्मीकि, अंगुलीमाल, चंबल के अपराधी आदि-आदि। यह बदलाव कोई जादू नहीं है पर प्रयोग पर आधारित प्रक्रिया है जो सुझाव, भाव, व्यवहार, अनुकरण आदि मनोवैज्ञानिक सिद्धान्तों पर आधारित है। कोई भी विचार सर्वप्रथम सामान्य तरीके से व्यक्ति में आते हैं फिर वे अवचेतन में उतर कर धीरे-धीरे व्यक्ति के भाव और कार्यों में उतर जाते हैं तथा अन्तत: व्यक्ति की रूचि बन जाते हैं। जिस व्यक्ति से वह घृणा करता था उससे प्यार करने लगता है तथा जिन बुराइयों को उसने अपना रखा था उनसे उसे घृणा हो जाती है। यह आघात जहां एक ओर हृदय को स्पर्श करता है वहीं दूसरी ओर मस्तिष्क को भी मनवाता है।

यद्यपि यह सही है कि मर्मस्पर्शी आघात मात्र से व्यक्ति का रूपान्तरण घटित हो जाता है, किंतु कुछ विद्वानों का यह भी मत है कि इस प्रकार के रूपान्तरण को स्थायी बनाने के लिए व्यक्ति के

परिवेश को भी बदलना आवश्यक है। परिस्थितियों को बदले बिना रूपान्तरण स्थायी नहीं बना रह सकता। एक बार जब विनोबा से पूछा गया कि क्या आपके उपदेशों, आपकी प्रेरणाओं से सार्वभौमिक हृदय परिवर्तन आ जाएगा? विनोबा का उत्तर था–''केवल मेरे शब्दों से नहीं बल्कि परिस्थितियों में परिवर्तन से हृदय परिवर्तन आएगा।'' हम समाज की पृष्ठभूमि को नकार नहीं सकते। समय के बहाव व इतिहास को नकार नहीं सकते। हम शून्य में नहीं सोच सकते। हमारी सोच में हमारा व्यवहार, हमारी मान्यताएं और सामाजिक, सांस्कृतिक व्यवहार भी प्रभाव डालते हैं।

जैनदर्शन ने हृदय परिवर्तन की दृष्टि को एक नया आयाम दिया है। जैनदर्शन ने मानवीय पवित्रता में विश्वास के आधार को अपने अस्तित्ववादी चिंतन से और अधिक सूक्ष्मता प्रदान की है। जैनदर्शन का मानना है कि हृदय परिवर्तन के लिए सर्वप्रथम हमें व्यक्ति स्वातन्त्र्य को स्वीकार करना ही होगा। इससे भी आगे बढ़ते हुए जैनदर्शन कहता है–हम केवल व्यक्ति स्वातंत्र्य को ही महत्त्व न दें बल्कि हमें प्राणी स्वातंत्र्य की सोच तक आगे बढ़ना है। स्वतंत्रता को केवल मनुष्यों तक ही सीमित रखा गया तो आज विश्व में जो कुछ भी घटित हो रहा है वह होना ही है क्योंकि व्यक्ति स्वातंत्र्य ने इस सोच को विकसित किया है कि मनुष्य भोक्ता है और अन्य सभी उसके लिए भोग्य सामग्री है। इसी चिंतन ने आज पर्यावरण की समस्या से विश्व को आक्रांत बनाया है। मनुष्य आये दिन प्राकृतिक संसाधनों का दोहन करता जा रहा है और परिणाम सामने है अकाल, भूखमरी, कहीं अतिवर्षा तो कहीं वर्षा का अभाव, विकलांगता आदि–आदि।

अत: हमें इस चिंतन को आगे बढ़ाना होगा कि अस्तित्व की दृष्टि से सभी प्राणी समान हैं तथा सभी का स्वतंत्र अस्तित्व है। इसलिए मनुष्य के लिए अन्य सभी प्राणी भोग्य नहीं हो सकते। जिस दिन यह चिंतन मनुष्य के स्वभाव में प्रवेश पा लेगा उसी दिन गरीबी, असंतुलित विकास, लिप्सा, पर्यावरण संकट आदि गंभीर समस्याओं से वह उबर जाएगा। यह चिंतन हृदय परिवर्तन का सशक्त आधार भी बन सकेगा। आवश्यकता है सापेक्ष चिंतन और सापेक्ष व्यवहार की। अकेला मनुष्य अब और अधिक नहीं भाग सकेगा, परिस्थिति उसके कदमों में बेड़ियां डाल देंगी। समता पर आधारित व्यवस्था व परस्परता ही अब उसे गति प्रदान कर सकती है और यह तब ही संभव है जब हम अस्तित्ववादी चिंतन को आगे बढ़ायें और उसे स्वभावगत करें।

4.2. दृष्टिकोण परिवर्तन

अहिंसा प्रशिक्षण का द्वितीय आयाम है–दृष्टिकोण परिवर्तन। गलत दृष्टिकोण के कारण मिथ्या धारणाएं, निरपेक्ष चिंतन और एकांगी आग्रह पनपते हैं। मिथ्या धारणाएं, निरपेक्ष चिंतन और एकांगी आग्रह हिंसा के मुख्य कारणों में हैं। जबकि सापेक्ष चिंतन सामाजिक संबंधों की भूमिका में एक महत्त्वपूर्ण तत्त्व है। सापेक्ष चिंतन होता है तो फिर स्वार्थ की सीमा निश्चित हो जाती है। यह नहीं हो सकता कि समाज के बीस प्रतिशत व्यक्ति अतिभाव में जीएं और अस्सी प्रतिशत व्यक्ति भूखे मरते रहें। मानवीय संबंधों में जो कटुता दिखाई दे रही है उसका हेतु निरपेक्ष दृष्टिकोण है। संकीर्ण राष्ट्रवाद और युद्ध भी निरपेक्ष दृष्टिकोण के परिणाम हैं। सापेक्षता के आधार पर संबंधों को व्यापक आयाम दिया जा सकता है। मनुष्य, पदार्थ, वृत्ति, विचार और शरीर के साथ संबंध का विवेक करना अहिंसा के विकास के लिए बहुत आवश्यक है। मनुष्यों के प्रति क्रूरतापूर्ण, पदार्थ के प्रति आसक्तिपूर्ण, विचारों के प्रति आग्रहपूर्ण, वृत्तियों के साथ असंयत, शरीर के साथ मूर्च्छापूर्ण संबंध हैं तो हिंसा अवश्यंभावी है।

अनेकान्त का प्रशिक्षण मिथ्याधारणा, निरपेक्ष चिंतन और आग्रह से मुक्त होने का प्रयोग है। परिवर्तन केवल जानने से नहीं होता। इसके लिए दीर्घकालिक अभ्यास आपेक्षित है। सर्वांगीण दृष्टिकोण

को विकसित करने के लिए निम्न निर्दिष्ट अनेकान्त के सिद्धान्त और प्रायोगिक अभ्यास-अनुप्रेक्षाओं का प्रशिक्षण आवश्यक है-

सिद्धान्त **प्रयोग**

- सप्रतिपक्ष सामंजस्य की अनुप्रेक्षा
- सह-अस्तित्व सह-अस्तित्व की अनुप्रेक्षा
- स्वतंत्रता स्वतंत्रता की अनुप्रेक्षा
- सापेक्षता सापेक्ष की अनुप्रेक्षा
- समन्वय समन्वय की अनुप्रेक्षा

4.3 जीवन शैली परिवर्तन

जीवन जीना एक बात है। कैसा जीवन जीना, यह सर्वथा भिन्न बात है। बहुत लोग ऐसे होते हैं जो जीते हैं पर क्यों जीते हैं, कैसे जीते हैं, आदि प्रश्नों पर कभी विचार ही नहीं करते। कुछ लोग ऐसे होते हैं जो निश्चित उद्देश्य के साथ जीते हैं और विशिष्ट शैली से जीते हैं। ऐसे व्यक्तियों का युग आने वाली सदियों का मानदण्ड बन जाता है। वे केवल समय को नहीं जीते, उनके जीवन में संस्कृति होती है, सभ्यता होती है और एक परम्परा होती है जो पीढ़ी दर पीढ़ी संक्रान्त होती है और अपने युग की स्थायी पहचान बन जाती है।

अहिंसा प्रशिक्षण का तीसरा आयाम है-जीवन शैली का परिवर्तन। जीवन शैली परिवर्तन का एक महत्त्वपूर्ण सूत्र है-सुविधावादी जीवन शैली में परिवर्तन। हम प्रदुषण से चिंतित हैं, त्रस्त हैं। सुविधावादी जीवन शैली प्रदूषण पैदा कर रही है। उस पर हमारा ध्यान ही नहीं जा रहा है। समाज सुविधा छोड़ नहीं सकता किंतु वह असीम न हो-यह विवेक आवश्यक है। यदि सुविधाओं का विस्तार निरन्तर जारी रहे, आडम्बर और विलासपूर्ण जीवन चलता रहे तो अहिंसा का स्वप्न यथार्थ में परिणत नहीं होगा। इच्छाओं की वृद्धि से हिंसा को पल्लवन मिला है। जब तक इच्छा का संयम नहीं होगा, जीवन शैली में संयम को प्रतिष्ठा नहीं मिलेगी, तब तक अहिंसा का सार्थक परिणाम नहीं आ सकेगा। जीवन शैली परिवर्तन के लिए संयम, श्रम, स्ववालम्बन और व्यसन-मुक्त जीवन का सैद्धान्तिक और प्रायोगिक प्रशिक्षण अपेक्षित है।

वर्तमान युग हिंसा की बहुलता का युग है क्योंकि विश्व में हिंसा के क्रमबद्ध प्रशिक्षण की समुचित व्यवस्था है। अहिंसा के विकास के लिए भी इसी प्रकार के क्रमबद्ध व वैज्ञानिक आधार पर प्रशिक्षण की अपेक्षा है। वर्तमान में अहिंसक-समाज-रचना की दृष्टि से अनेक व्यवहारिक प्रयोग किये जा रहे हैं। इसी क्रम में जीवन शैली में परिवर्तन द्वारा अहिंसा के प्रशिक्षण की पद्धति भी है। अहिंसा पर आधारित जीवन शैली के ग्यारह सूत्र हैं जिनका विस्तृत विवेचन इस प्रकार है-

4.3.1. व्यवहारिक अहिंसा या हिंसा निषेध

आधुनिक विचारधारा जीवन के लिए संघर्ष को आधार मानती है तथा दूसरी तरफ विकास के लिए इच्छा के आधिक्य को आवश्यक समझती है। अर्थात् संघर्ष और इच्छा विस्तार आधुनिक जीवन शैली के विशिष्ट अंग हैं। प्राचीन परम्परा भी हिंसा और परिग्रह को जीवन का आधार मानती रही है।

अहिंसक जीवनशैली जीवन का आधार संघर्ष को नहीं अपितु अहिंसा, प्रेम, करुणा और मैत्री को मानती है। यद्यपि जीवन के लिए हिंसा अनिवार्य है पर हिंसा की स्वीकृति में अंतर है। हिंसा जीवन

की अनिवार्यता हो सकती है, पर जीवन का आधार हिंसा नहीं हो सकती। शारीरिक स्तर पर हिंसा अनिवार्य है पर मानसिक स्तर पर हिंसा का समर्थन नहीं किया जा सकता।

हिंसा के चार प्रकार जैनागमों में स्वीकृत किये गये हैं-आरम्भजा, विरोधजा, संकल्पजा और उद्योगी। कृषिकार्य आदि से सम्बंधित हिंसा को आरम्भजा हिंसा कहते हैं। जीवन यापन की दृष्टि से यह हिंसा अनिवार्य है। अस्तित्व सुरक्षा के लिए, आक्रमण से सुरक्षा के लिए की गई हिंसा विरोधजा हिंसा है। इसे भी कुछ सीमा तक स्वीकृत किया जा सकता है। आक्रामक मनोभाव या बिना प्रयोजन की गई हिंसा संकल्पजा हिंसा है, इसे कभी भी स्वीकृत नहीं किया जा सकता। व्यापार आदि से संबंधित हिंसा उद्योगी हिंसा है।

अहिंसक जीवन शैली हिंसा के अल्पीकरण का सूत्र देती है जो सामाजिक शांति, जीवन विकास व अस्तित्व की स्थिरता के लिए आवश्यक है। हिंसा की उन्मुक्तता महाहिंसा की ओर प्रयाण है और इससे संस्कृति को खतरे पैदा होते रहे हैं। संस्कृति के विकास एवं संगठित हिंसा के प्रतिरोध के रूप में ही हिंसा के अल्पीकरण का स्वरूप मुखर हुआ है। कुछ राजनीतिक पद्धतियां, धार्मिक मंच आदि विचारों के स्तर पर हिंसा की अनिवार्यता को मानते हैं तथा उनके अनुसार अपना विचार या धर्म बलात् किसी पर थोपा जा सकता है। जैन जीवनशैली स्वस्थ समाज रचना के लिए इसे अनावश्यक व अवांछनीय मानता है। इसलिए जैन जीवनशैली मूलतः हिंसा के अल्पीकरण का सिद्धान्त देती है जो साधन शुद्धि के सिद्धान्त का ही विकास है।

4.3.2. अनाक्रमण

आक्रमण करना एक मनोवृत्ति है। इस मनोवृत्ति का उद्‌भव भय के कारण होता है तथा क्रोध, लोभ, क्षोभ आदि आक्रमण के हेतु बनते हैं। सुख-सुविधाओं का विस्तार, भविष्य की असुरक्षा, लिप्सा आदि व्यक्ति को आक्रामक बना देते हैं।

व्यक्ति के आक्रान्ता बनने के चार कारण स्थानांग सूत्र में दिये गये हैं-

- अनर्जित सुखों के अर्जन के लिए।
- अर्जित सुखों के संरक्षण के लिए।
- अनर्जित भोगों के अर्जन के लिए।
- अर्जित भोगों के संरक्षण के लिए।

इनमें जो व्यक्ति सहायक बनते हैं वे आत्मीय बन जाते हैं और दूसरे विरोधी। स्वत्व और परत्व की यह मनोवृत्ति ही व्यक्ति को आक्रान्ता बनाती है।

प्रत्याक्रमण न करना आदर्श है, पर व्यवहार में यह भी ठीक है कि व्यक्ति या राष्ट्र यह संकल्प करे कि मैं किसी पर आक्रमण नहीं करूंगा और न आक्रामक नीति का समर्थन ही करूंगा। ऐसी नीति असमानता व घृणा की जगह समानता, सहयोग व शांति को बढ़ाती है।

4.3.3. विध्वंसात्मक प्रवृत्तियों में भाग न लेना

तोड़-फोड़ व आतंकवाद वर्तमान समय की ज्वलंत समस्या है। व्यक्ति अल्पकालीन लाभ के लिए, अपनी बातों को मनवाने के लिए, सरकार पर दबाव डालने के लिए विध्वंसात्मक प्रवृत्तियों में संलग्न हो जाता है, जिससे राष्ट्रीय सम्पत्ति की हानि होती है, संसाधनों का सही उपयोग नहीं हो पाता

तथा राष्ट्रीय विकास अवरुद्ध हो जाता है। आज हिंसक आन्दोलनों से कई राष्ट्र समस्या ग्रस्त हैं। ऐसी प्रवृत्तियों में भाग लेना समाज या राष्ट्र के लिए तो घातक है ही, व्यक्ति स्वयं के लिए भी घातक है।

4.3.4. मानवीय एकता में विश्वास

मानवीय एकता में विश्वास का अर्थ है मानवीय अस्तित्व की समानता का विश्वास। अस्तित्व की अपेक्षा से समूचा विश्व एक है और व्यक्ति की अपेक्षा से प्रत्येक पदार्थ स्वतंत्र। अनेकता में एकता का चिंतन ही मानवीय एकता में विश्वास है। आज विडम्बना है कि मानव को धर्म, वर्ण, जाति, राष्ट्र आदि के आधार पर बांटा जा रहा है। जहां बंटवारा है वहां एकता खण्डित हो जाती है और स्वार्थ प्रमुख हो जाते हैं तथा अनेक समस्याएं पैदा हो जाती हैं। न केवल राष्ट्रीय स्तर पर बल्कि अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर भी इसलिए केवल मनुष्य को ही नहीं अपितु सभी प्राणियों को समान समझना आचार शास्त्र का नियम है। सापेक्ष दृष्टि से देखा जाए तो-

- प्रत्येक मनुष्य अस्तित्व की दृष्टि से समान है।
- प्रत्येक मनुष्य सामर्थ्य की दृष्टि से समान है।
- जैव विज्ञान के आधार पर मनुष्य समान है।

मनुष्य जाति एक है, इस सिद्धान्त की स्वीकृति के पश्चात् क्या किसी को तिरस्कृत करना, मारना, सताना स्वयं को ही तिरस्कृत करने, मारने, सताने का प्रयत्न नहीं है? जैन आगमों में कहा गया है-

- पुरुष! जिसे तू मारने योग्य मानता है, वह तू ही है
- जिसे तू परिताप देने योग्य मानता है, वह तू ही है
- जिसे तू दास बनाने योग्य मानता है, वह तू ही है।

आत्मतुला की इस भूमिका पर विश्व के सब प्राणियों की एकता प्रतिपादित होती है। सब मुझमें हैं, मैं सबमें हूं-इस विराटता में ही मानवीय एकता प्रतिबिम्बित हो सकती है।

जाति, वर्ण, वर्ग, धर्म आदि कृत्रिम भेद हैं। इन्हें मुख्य मानकर प्रेम, सद्भाव, विश्वास व न्याय की हत्या मानवीय मूल्यों की हत्या है। भेद की कल्पना प्रकृतिगत नहीं, मानव द्वारा निर्मित है। इन आरोपित भेदों को मानकर किसी को हीन मानना स्वयं की हीनता है। केवल अपने ही दृष्टिकोण को महत्त्व देना, स्वार्थसिद्धि के लिए देश की भी परवाह न करना सत्य से मुंह मोड़ना है। अहिंसक जीवनशैली इन भेदों को दूरकर मानवीय एकता में विश्वास की बात करती है। जब एक व्यक्ति परिवार में भिन्न-भिन्न वर्ण, रूचि, स्वभाव वाले लोगों के साथ रह सकता है तो वह अन्य लोगों के साथ क्यों नहीं रह सकता।

4.3.5. सर्वधर्म सहिष्णुता

धर्म जीवन का शाश्वत मूल्य है। सत्य साक्षात्कार या आत्म साक्षात्कार की प्रक्रिया का नाम धर्म है। इस दृष्टि से धर्म एक अखण्ड चेतना है, इसे विभक्त करना कठिन है। सहिष्णुता का प्रश्न अनेकत्व के प्रश्न से ही उपस्थित होता है। यदि व्यवहारिक दृष्टि से देखें तो भी धर्म के अनेक भेद क्षमा, दया, प्रेम, करुणा, सत्य, तप आदि को ध्यान में रखकर धर्म के अनेक रूप सामने आयें तो भी उनमें मतभेद नहीं होगा। मतभेद है सम्प्रदायों में। धर्म ने अपने व्यापक अर्थ को खो दिया है, वह सम्प्रदाय के अर्थ में रूढ़ हो गया है। सम्प्रदाय का अस्तित्व विचारभेद की परिणति का ही परिणाम है।

किसी भी देश में अनेक विचार व मत होना कोई समस्या नहीं। समस्या है अपने को सर्वोच्च मानकर दूसरों को छोटा मानना। असद्भावों के बीजों का वपन यहीं से होता है।

हर धर्म सत्य की अभिव्यक्ति करता है। यदि सत्य के सापेक्ष दृष्टिकोण को मान लिया जाए तो सभी धर्म सत्य के एक अंश को प्रकट करते हैं। केवल उसी विशिष्ट दृष्टिकोण को ही सत्य मानकर दूसरे धर्मों के दृष्टिकोण को ठुकराया जाना धार्मिक संघर्षों का प्रमुख हेतु बनता है। अहिंसक जीवनशैली यह बतलाती है कि सापेक्ष दृष्टि से सभी धर्म सत्य हैं, इसलिए हमें सभी धर्मों के प्रति सहिष्णु बनना चाहिए। हर धर्म की अपनी विशिष्टता है-जैनों की अहिंसा, बौद्धों की करुणा, ईसाइयों की सेवा, वेदों का आचार अपने आप में विशिष्ट है। हमें सभी धर्मों के अच्छे तत्त्वों के प्रति उदार रहना ही चाहिए। सभी धर्मों के लक्ष्य श्रेयात्मक हैं, बाह्य स्वरूप में भिन्नता हो सकती है। इसलिए हर धर्म के प्रति आदर व सहिष्णु बनना हमारा कर्त्तव्य है।

4.3.6. व्यवहार व व्यापार में प्रामाणिकता

सत्य के दो रूप हैं-आध्यात्मिक और सामाजिक। आध्यात्मिक सत्य व्यक्तिगत होता है। कोई भी आत्मनिष्ठ व्यक्ति असत् आचरण नहीं करता। असत् आचरण का अभाव ही प्रामाणिकता है। जबकि सामाजिक सत्य कहता है-एक व्यक्ति का दूसरे व्यक्ति के साथ व्यवहार यथार्थ की स्वीकृति के आधार पर हो, यही व्यवहारिक प्रामाणिकता है। इसके तीन मापदण्ड हैं-

- व्यवहारिक प्रामाणिकता में प्रवंचना (कपट) नहीं होती।
- व्यवहारिक प्रामाणिकता में व्यवस्था का अतिक्रमण नहीं होता।
- व्यवहारिक प्रामाणिकता में अतिरिक्त लाभ पाने की इच्छा नहीं होती।

व्यक्ति इन मापदण्डों का पालन करता है तो इससे वह स्वयं तो लाभान्वित होता ही है, कुछ लाभ समाज व राष्ट्र को भी मिलता है। वर्तमान में प्राय: यह देखा जाता है कि व्यक्ति लोभ के कारण, क्षणिक लाभ के लिए अप्रामाणिक बन जाता है। इसी का परिणाम है कि व्यक्ति मिलावट, झूठा तौल-माप, चोर बाजारी, रिश्वत, राज्य निषिद्ध व्यापार जैसे कार्यों में लिप्त होता जा रहा है। जब तक व्यक्ति असीम इच्छाओं का अल्पीकरण न करे, लोभवृत्ति का शमन न करे, तब तक यह संभव नहीं कि व्यक्ति व्यापार और व्यवहार में प्रामाणिक बन सके। अप्रामाणिक व्यक्ति स्वयं अपना ही अहित नहीं करता, वरन् वह सामाजिक, राष्ट्रीय मूल्यों की हत्या भी करता है।

स्वयं की प्रामाणिकता व्यक्ति को तो आत्मतोष देती ही है, बल्कि उसे कई उलझनों से भी बचा लेती है तथा समाज के लिए भी वह शिष्टता व प्रगति का मापदण्ड बनता है। दीर्घकालीन सफलता भी उन्हीं को मिलती है तो प्रामाणिक रहते हैं।

4.3.7. आत्मसंयम का विकास

भोगवादी संस्कृति का मूल आधार असंयम है। असंयम के कारण ही विश्व में अनेकानेक समस्याएं बढ़ती जा रही हैं। असंयम ने मनुष्य को सुविधावादी बनाया है और सुविधावाद बनाये रखने के लिए वह दिनोंदिन सुविधाएं प्रदान करने वाली सामग्री का उत्पादन व उपभोग कर रहा है जिससे न केवल संसाधनों का असीमित दोहन हो रहा है बल्कि पर्यावरणी प्रदूषण के भी खतरे पैदा होते जा रहे हैं। असंयम की प्रवृत्ति ने ही मनुष्य को शस्त्रास्त्र के उत्पादन व परीक्षण को प्रोत्साहन दिया है। मनुष्य की अनन्त इच्छाओं को कहीं तो विराम देना ही होगा, नहीं तो यह विश्व एक दिन अपने ही विकास के नीचे दबकर खत्म हो जाएगा। यदि संयम व आत्मानुशासन के द्वारा व्यक्ति की विवेक चेतना को

जागृत नहीं किया गया तो व्यक्ति की इन्द्रियों की मांग बढ़ती ही चली जाएगी और फिर हर मांग को संतुष्ट कर पाना असंभव होगा। परिणाम होगा-संघर्ष, हिंसा।

गांधी जी का खादी व स्वदेशी वस्तुओं का प्रयोग आत्मसंयम की दिशा में एक प्रयास था। ब्रह्मचर्य की साधना भी संयम का ही एक प्रयास है जिससे जनसंख्या नियंत्रण संभव हो सकता है।

यह आवश्यक है कि वृत्तियों का संयम व विवेकपूर्वक शोधन किया जाए। वृत्तियों के दमन से इच्छाएं व वासनाएं समाप्त नहीं होती, वे अवचेतन में रहती हैं और अवसर पाकर फिर उभर सकती हैं। दमन में न वृत्तियों का शोधन है और न विवेक चेतना का जागरण। जबकि संयम वृत्तियों को दबाने की प्रक्रिया नहीं अपितु वृत्तियों के शोधन की प्रक्रिया है। इसलिए गीता में भी आत्मसंयम पर बल दिया गया है। फ्रायड वृत्तियों के दमन की बात कहता है। वृत्तियों को बदलने के लिए उनका उदात्तीकरण आवश्यक है, जो संयम द्वारा ही संभव है।

4.3.8. चुनावों में शुद्धता

लिंकन के शब्दों में लोकतंत्र का अर्थ है-जनता के लिए, जनता के द्वारा, जनता का शासन। लोकतंत्र में मतदान का विशेष महत्त्व है। मतदान के व्यापक अधिकार से कुछ कठिनाइयां भी पैदा होती हैं और उन देशों में यह कठिनाइयां अधिक हैं जहां की जनता शिक्षित नहीं है, जहां गरीबी अधिक है तथा जहां लोगों के विचार विकसित नहीं हैं। शिक्षित देशों में मतदान में कोई गड़बड़ी नहीं होती यह तो नहीं कहा जा सकता, पर वहां अज्ञान-जन्य कठिनाइयों से बचाव हो जाता है।

मतदान की पद्धति के साथ ही प्रलोभन की कड़ी जुड़ी हुई है। मतदान की स्वस्थ परम्परा में सबसे बड़ी बाधा प्रलोभन की ही है और इसी का यह परिणाम है कि चुनावों में अनैतिक साधनों का उपयोग बढ़ रहा है, लोगों को उनके मतों के अधिकार से जबरन वंचित रखकर लोकतंत्र की हत्या की जा रही है। चुनावों में बढ़ती हिंसा, मतदान केन्द्रों पर कब्जा आज चुनावों में आम घटनाएं बन गई हैं। चुनाव में येन-केन-प्रकारेण सफलता प्राप्त करना ही उम्मीदवारों का लक्ष्य बन जाता है भले ही इसके लिए राष्ट्र को कितनी ही बड़ी कीमत क्यों न चुकानी पड़े।

अहिंसक जीवनशैली का मानना है कि मतदान की स्वस्थ परम्परा में विजय-पराजय की बात गौण है। मुख्य बात है व्यक्ति की योग्यता और विशेषता का अंकन कर उसे निर्वाचित करना। मतदाता और प्रार्थी की कुछ दुर्बलताएं इस मार्ग की बाधाएं हैं। प्रार्थी (उम्मीदवार) को अपनी प्रतिष्ठा एवं अहं का मोह रहता है, इसी कारण प्रलोभन, भय और आतंक की परिस्थितियां पैदा हो जाती हैं तथा उनके आगे मतदाता घुटने टेक देते हैं। अतः हमें यह मानकर चलना चाहिए कि बुराई दोनों पक्षों की ओर से होती है। चुनाव परम्परा में विकृति नहीं हो तो योग्य व्यक्ति अनायास ही सामने आ जाएगा। जनतंत्रीय पद्धति स्वीकार करने के बाद प्रलोभन व अनैतिक तरीकों से चुनाव जीतना अनुचित है। जो ऐसा करते हैं वे वस्तुतः अपने विचारों व लोकतंत्र की हत्या करते हैं। वैचारिक मृत्यु व्यक्ति की सबसे बड़ी पराजय है। इसलिए लोकतंत्र की स्वस्थ प्रणाली में विजयी बनने के लिए प्रलोभन, भय या आतंक की स्थिति पैदा करने का प्रश्न ही नहीं उठना चाहिए। इस हेतु अग्रांकित बिंदु विचारणीय हैं-

- कोई भी मतदाता प्रलोभन एवं जाति, धर्म आदि के आधार पर मतदान न करे। उम्मीदवार के गुणों के आधार पर मतदान करे।
- उम्मीदवार के विरुद्ध गलत प्रचार, अशांति व उपद्रव न करे तथा अवैध मतदान न करे।
- कोई भी उम्मीदवार भय, प्रलोभन, जाति, धर्म आदि के आधार पर मत लेने का प्रयत्न न करे।

- प्रतिपक्षी के विरुद्ध अश्लील प्रचार, अशांति व उपद्रव न करे।
- दलगत राजनीति की जगह लोकतंत्र को प्राथमिकता मिले।
- लोकतंत्र के प्रति व्यापक शिक्षा दी जाये।
- चुनावों के दौरान साधनशुद्धि पर बल दिया जाये।
- चुनावों में शुद्धता के लिए राजनीतिज्ञों, मतदाताओं व पत्रकारों का क्रमबद्ध प्रशिक्षण हो।

4.3.9. सामाजिक कुरुढ़ियों को प्रश्रय न देना

जिस विचार, व्यवस्था की जब तक उपयोगिता है, तब तक उसका मूल्य और महत्त्व है। उपयोगिता समाप्त होने के साथ उसका मूल्य भी समाप्त हो जाता है, वह मूल्यहीन बन जाती है। मूल्य समाप्त होने के बाद भी उस परम्परा या व्यवस्था को चलाए रखने का प्रयत्न कुरूढ़ि है। परिवर्तन सृष्टि का शाश्वत तत्त्व है। हर परिवर्तन के मुख्य हेतु हैं-देशकाल का परिवर्तन, विचार परिवर्तन। विचार परिवर्तन के साथ विकास होता है। हर नया विकास अपने से पूर्व की स्थिति का मूल्य समाप्त कर देता है। कठिनाइयां तब उत्पन्न होती हैं जब हम इन परिवर्तनों को स्वीकार नहीं करते तथा परम्पराओं का निर्वहन ही अपना ध्येय मानते हैं, भले ही वे मूल्यहीन हो गई हों, ऐसी ही परम्पराओं को कुरूढ़ियां कहा जाता है।

समाज में आज भी कई कुरूढ़ियां विद्यमान हैं-जैसे दहेजप्रथा, पर्दाप्रथा, मृत्युभोज, बालविवाह, विधवाओं के साथ दुर्व्यवहार आदि-आदि। जो परम्पराएं किसी काल में किन्हीं कारणों से स्थापित की गई थीं, वे आज जड़ होकर रह गई हैं, उनके निर्वहन का आज क्या औचित्य हो सकता है?

दहेजप्रथा के कारण न जाने कितनी अबलाओं की बलि भारतवर्ष में दी जाती है। धन के लोभी इन अबलाओं को पाशवीय यातनाएं देने से नहीं चूकते। इसी तरह का व्यवहार विधवाओं और विशेषकर बाल विधवाओं के साथ देखा जाता है। पर्दाप्रथा स्त्री शक्ति को न उभरने देना है जबकि बाल-विवाह उस बच्चे के प्रति अपराध है जो अभी नासमझ है। व्यक्ति ऋण लेकर भी मृत्युभोज करने के लिए विवश होता है।

अहिसंक जीवनशैली का मंतव्य है-इन कुरूढ़ियों को अपने जीवन में प्रश्रय नहीं देना। इनसे व्यक्ति का अहित तो है ही, समाज का विकास भी अवरुद्ध हो जाता है। कुरूढ़ियों के विरुद्ध जनमत जाग्रत किया जाना अपेक्षित है, इस हेतु शिक्षा का प्रसार भी आवश्यक है।

4.3.10. मादक पदार्थों के सेवन का निषेध या व्यसन मुक्त जीवन

मादक पदार्थों के सेवन की समस्या आज अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर चिंता का विषय बन चुकी है। आधुनिक समाज में युवापीढ़ी जीवन की समस्याओं से घबराकर मादक पदार्थों की शरण में जा रही है। यह अत्यन्त चिन्तनीय है। अफीम, चरस, हेरोइन आदि अनेक ऐसे मादक पदार्थ हैं जो तस्करी के कारण सामान्य लोगों की पहुंच से परे नहीं रहे हैं। एक बार इनके सेवन के पश्चात् मनुष्य इनका गुलाम बनकर रह जाता है, फिर उसे इन पदार्थों की आपूर्ति करने वाले व्यक्ति की जायज-नाजायज हर बात माननी पड़ती है। व्यक्ति अपराधों की तरफ उन्मुख हो जाता है। इन मादक पदार्थों की भयावहता का अन्दाज इस तथ्य से हो सकता है कि जब व्यक्ति इनका बहुत

अधिक आदी बन जाता है तो ये मादक पदार्थ भी इन व्यक्तियों पर असर नहीं करते। ऐसे व्यक्तियों को जहरीले सांपों द्वारा नशे के लिए कटवाया जाता है।

नशे का सेवन व्यक्ति भौगोलिक परिस्थितियों के कारण भी करता है, जैसे ठण्डे देशों में मदिरापान आम बात है। कुछ विलासी मनोवृत्ति वाले लोग सोसाइटी के नाम पर मादक पदार्थों का सेवन प्रारंभ कर देते हैं। गलत सम्पर्क के कारण भी मादक पदार्थों की आदत बन जाती है और कभी-कभी व्यक्ति अज्ञान के कारण भी इनका शिकार बन जाता है। मादक पदार्थों के कुपरिणामों के कारण आज प्रतिवर्ष लाखों व्यक्ति विश्व में मर रहे हैं तथा मादक पदार्थों की तस्करी व व्यापार अन्तर्राष्ट्रीय जगत् की प्रमुख समस्या बन गया है। सरकारें भी आर्थिक लाभ के लिए इनकी रोकथाम के लिए कारगर उपाय नहीं कर पाती।

अहिंसक जीवनशैली का मानना है कि सरकार आर्थिक लाभ के लिए मादक पदार्थों के सेवन को प्रोत्साहन देती है जबकि सरकार का ध्यान आर्थिक लाभ की जगह देश की चारित्रिक गिरावट की ओर जाना चाहिए। यद्यपि मादक पदार्थों का सेवन व्यक्तिगत घटना है पर इससे पूरा समाज प्रभावित होता है। समाज में नैतिक मूल्यों के पतन के पीछे तथा बलात्कार आदि घटनाओं का एक प्रमुख कारण मादक पदार्थों का सेवन है क्योंकि इनके सेवन से, व्यक्ति की विवेक शक्ति खत्म हो जाने से वह पशुवत् हो जाता है। इसके दुष्परिणामों से बचने के लिए निम्न बिन्दु विचारणीय हैं-

- लोगों को इनके दुष्परिणामों की जानकारी दी जाए।
- मादक पदार्थों के विरोध में प्रबल जनमत जुटाया जाए।
- शिक्षा का व्यापक प्रसार हो विशेषकर स्वास्थ्य शिक्षा का।
- परिवार का मुखिया या परिवार का सदस्य एक दूसरे को इन पदार्थों के सेवन से बचने के लिए प्रेरित करे।
- कानून भी इनकी रोकथाम का एक सशक्त माध्यम बन सकता है। गांधीजी ने तो यहां तक कहा है कि मादक पदार्थों की बिक्री से यदि शिक्षा का प्रसार भी होता हो तो उससे अशिक्षा ज्यादा अच्छी है। इसलिए सरकारी प्रतिबंध तो आवश्यक ही है।
- हृदय परिवर्तन के लिए प्रयोग किया जाए।

4.3.11. पर्यावरणीय चेतना का विकास

सृष्टि का जीवन सापेक्ष है। इसमें जड़ और चेतन जितने पदार्थ हैं, वे एक दूसरे को प्रभावित करते हैं तथा एक दूसरे से प्रभावित होते भी हैं। धरती, हवा, पानी और वनस्पति सृष्टि-संतुलन के आधरभूत तत्त्व हैं, ये जैसे हैं, वैसे ही बने रहें तो सृष्टि का संतुलन बना रहता है। इनमें गड़बड़ी से यह संतुलन बिगड़ने का खतरा बना रहता है। खनिजों का अत्यधिक दोहन, कारखानों और चिमनियों से उठने वाला धुआं, प्राकृतिक व्यवस्था के साथ छेड़-छाड़, परमाणु-परीक्षण आदि पर्यावरण को प्रदूषित करते हैं तथा इस कारण विश्व में ओजोन परत को क्षति, भूमि के उपजाऊपन में कमी, नाभिकीय शीत, तापमान में वृद्धि, पशु-पक्षियों की कई प्रजातियों का लुप्त होना आदि समस्याएं पैदा हो रही हैं।

मानव सभ्यता की कहानी प्राकृतिक नियमों के उल्लंघन की कहानी है। जब से मनुष्य ने सुमेरिया, मिश्र और सिंधुघाटी की सभ्यता को जन्म दिया, तब से वह प्राकृतिक नियमों के विरुद्ध किसी न किसी संघर्ष में जुटा हुआ है। औद्योगिक क्रांति ने प्रकृति पर मानव जाति की विजय को भी साबित कर दिया है। पर्यावरण की जटिलताओं को समझे बिना उसने स्वार्थपूर्ति हेतु प्रकृति की व्यवस्था में व्यापक हस्तक्षेप शुरू कर दिया और इसी का दुष्परिणाम आज हमारे सामने है।

अहिंसक जीवनशैली का मानना है कि सृष्टि में संतुलन बिगड़ने का मूल कारण असंयम है। मनुष्य अपनी आकांक्षाओं का विस्तार करता गया और आकांक्षा पूर्ति के लिए पृथ्वी का बेहिसाब उत्खनन, जल का अधिक प्रयोग, औद्योगीकरण, वन कटाई, शिकार आदि करता गया और स्वयं अपने ही पैर में कुल्हाड़ी मारने लगा। पर्यावरणीय संतुलन के लिए संयम की साधना अपेक्षित है। संयम से ही पर्यावरण की सुरक्षा हो सकती है और पर्यावरण की सुरक्षा में ही मानव जाति व अन्य प्राणियों की सुरक्षा निहित है।

4.4 व्यवस्था परिवर्तन

अहिंसा प्रशिक्षण का चतुर्थ आयाम है-व्यवस्था परिवर्तन। व्यक्ति के आन्तरिक रूपान्तरण के साथ-साथ व्यवस्थागत परिवर्तन भी आवश्यक है। व्यवस्थाओं के मुख्य तीन पहलू हैं-आर्थिक व्यवस्था, सामाजिक व्यवस्था तथा राजनैतिक व्यवस्था।

आर्थिक व्यवस्था-अर्थ की प्रकृति में ही हिंसा है, अतः अर्थशास्त्र एवं आर्थिक व्यवस्था को पूर्णतः अहिंसक नहीं बनाया जा सकता; परन्तु इससे अपराध, क्रूरता, शोषण और विलासिता को अवश्य समाप्त किया जा सकता है।

विकास की मात्र भौतिक अवधारणा का विकल्प अहिंसक व्यवस्था से ही संभव है। अहिंसक व्यवस्था में साधन-शुद्धि, व्यक्तिगत स्वामित्व की सीमा, उपभोग की सीमा, अर्जन के साथ विसर्जन तथा विलासिता की सामग्री के उत्पादन और आयात पर रोक की व्यवस्था का ईमानदारी के साथ व्यक्ति तथा सरकार दोनों को पालन करना होगा। इसके साथ-साथ अहिंसक तकनीक की खोज, अहिसंक तरीकों से कलह शमन सहकार का अर्थशास्त्र तथा स्वदेशी को आवश्यक स्थान देना होगा।

सामाजिक व्यवस्था-अहिंसक आर्थिक व्यवस्था के अन्दर ही अहिंसक समाज-व्यवस्था का स्वरूप छिपा होता है। जिस समाज में आर्थिक शोषण होता है वह समाज अहिंसक नहीं है। अहिंसक समाज का आधार अशोषण है। अशोषण के लिए श्रम तथा स्ववलम्बन की चेतना और व्यवस्था का विकास, व्यवसाय में प्रामाणिकता तथा क्रूरता का वर्जन अनिवार्य है।

समाज में अनेक प्रकार की हिंसा होती है। अहिंसक समाज में कुछ विशेष प्रकार की हिंसा का सर्वथा वर्जन हो। उदाहरणार्थ- आक्रामक हिंसा, निरपराध व्यक्तियों की हत्या, भ्रूण हत्या, जातीय-घृणा, छुआछूत आदि का व्यवस्थागत निषेध हो। इनको महिमा मंडित करने वाले पत्र व मीडिया पर भी नियंत्रण हो। साम्प्रदायिक अभिनिवेश, मादक वस्तुओं का सेवन तथा प्रत्यक्ष हिंसा को जन्म देने वाली रूढ़ियों और कुरीतियों का वर्जन भी आवश्यक है। नई समाज व्यवस्था के अंतर्गत वैल्पिक चिकित्सा पद्धति का भी विकास करना चाहिए।

राजनैतिक व्यवस्था-अहिंसक राजनैतिक व्यवस्था का स्वरूप क्या हो? स्वच्छ राजनीति वह है जिसमें व्यक्ति की स्वतंत्रता का हनन नहीं होता। जहां व्यक्ति और राष्ट्र का संबंध मात्र यांत्रिक नहीं होता, व्यक्ति की स्वतंत्रता का मूल्यांकन किया जाता है। व्यक्ति की स्वतंत्रता आत्मानुशासित होती है। ऐसी स्वतंत्रता व्यक्तिगत विशेषताओं का संरक्षण है जो राष्ट्र की समृद्धि की आवश्यक शर्त है।

अहिंसक राजनीति की दूसरी विशेषता है, व्यक्ति निर्माण की दिशा में ठोस कार्यक्रम लागू करता है। केवल हिंसा की रोकथाम करना और विधि-व्यवस्था कायम रखना राजनीति का काम नहीं है। जीवन्त राजनीति का लक्ष्य है-व्यक्ति का हित और मानव कल्याण। विकेन्द्रित राजनैतिक व्यवस्था हो ताकि दलगत राजनीति को अवसर न मिले। वर्तमान राजनीति में राजनीतिज्ञों के प्रशिक्षण के लिए कोई

व्यवस्था नहीं है। परिणामस्वरूप गुणवत्ता के स्थान पर सिर्फ संख्या इसका आधार रह गया है। व्यवस्था परिवर्तन के लिए संगठनात्मक प्रशिक्षण की आवश्यकता है, जिसमें अनुसंधान, योजना, कार्य के लिए तैयार होना, प्रचार, कार्य का प्रारंभ, नेतृत्व आदि संगठन के विभिन्न पहलुओं के लिए प्रशिक्षण प्राप्त करना आवश्यक है।

5. आर्थिक समस्याओं का समाधान : विसर्जन

वर्तमान युग अर्थप्रधान युग है। अर्थ के बिना न जीवन चलता है, न समाज बनता है और न समाज चलता है। दुनिया में जो कुछ घटित हो रहा है और जो कुछ चल रहा है, वह अर्थ के सहारे चल रहा है। ''अर्थस्य पुरुषौ दास:'' यह उक्ति पूर्णतया चरितार्थ हो रही है।

हर प्राणी में कुछ मौलिक मनोवृत्तियां होती हैं। मनुष्य की मौलिक मनोवृत्तियों में से एक है-संग्रह की वृत्ति। अर्थात् जो कुछ उसे प्राप्त है उसका वह संग्रह करना चाहता है। यह संग्रह आवश्यकता पूर्ति के लिए ही होता तो शायद विसर्जन के विचार की अपेक्षा ही नहीं होती, मनुष्य में संग्रह की मनोवृत्ति इसलिए बनी क्योंकि उसे आश्वासन नहीं है अर्थात् उसे भविष्य की चिंता है। यदि उसे भविष्य का आश्वासन मिल जाए तो संभव है संग्रह का आधार टूट जाए। किंतु ऐसी कोई सुदृढ़ सामाजिक व्यवस्था नहीं है, जो व्यक्ति को भविष्य का आधार दे सके। वर्ग विभेद, असमानता और विषमता दूर करने के लिए तथा भविष्य की सुरक्षा की दृष्टि से साम्यवाद सामने आया। साम्यवादियों ने कहा-व्यक्तिगत स्वामित्व को समाप्त कर देना चाहिए। अर्थ किसी व्यक्ति का न होकर राष्ट्र का रहे। व्यक्तिगत स्वामित्व की समाप्ति ही हजारों वर्षों से चली आ रही विषमता एवं वर्ग भेद की समस्या का एकमात्र समाधान हो सकता है। पर इससे व्यक्ति की मनोवृत्ति को नहीं बदला जा सका। निजी स्वामित्व न होने के कारण कार्य की प्रेरणा नहीं रही। परिणामत: उत्पादन घट गया। आर्थिक स्थिति लड़खड़ाने से आज सोवियत रूस की स्थिति किसी से छिपी नहीं है।

धर्म के क्षेत्र से एक दूसरा विचार आया-अपरिग्रह का, असंग्रह का, जिसका संबंध भगवान् महावीर से है। उन्होंने यह सूत्र इस आधार पर नहीं दिया कि समाज की व्यवस्था, जो कि विषमतापूर्ण है, वह समाप्त हो जाए। उन्होंने इसका आधार यह बतलाया कि अर्थ का संग्रह करने वाला व्यक्ति अधिक स्वार्थी और क्रूर बन जाता है। और यह सच भी है कि मैत्री, अहिंसा, दया और करुणा का प्रवाह जिस व्यक्ति में होता है, वह बहुत बड़ा संग्रह नहीं कर सकता। वह दूसरों का दमन और शोषण नहीं कर सकता, अत: अहिंसक व्यक्ति बहुत बड़ा परिग्रही नहीं बन सकता। अहिंसा और असंग्रह दोनों साथ-साथ चलते हैं। जबकि हिंसा का संबंध संग्रह से है। इसलिए विसर्जन का संबंध जितना संग्रही व्यक्ति से है उतना अपरिग्रही व्यक्ति से नहीं।

5.1 विसर्जन : अर्थ और दृष्टिकोण

5.1.1. अर्जन के गलत तरीकों को छोड़ना

विसर्जन का अर्थ केवल छोड़ना नहीं है, संपत्ति का त्याग करना नहीं है बल्कि उससे भी अधिक सूक्ष्म है। किसी व्यक्ति ने यदि अर्जन के गलत तरीकों को छोड़ दिया तो क्या उस व्यक्ति ने विसर्जन नहीं किया है? उस व्यक्ति ने निश्चित ही बहुत बड़ा विसर्जन किया है। भगवान् महावीर ने कभी नहीं कहा कि अर्जन मत करो, व्यापार मत करो। क्योंकि यह अव्यवहारिक है। जहां समाज है वहां अर्जन करना ही पड़ेगा। पर भगवान् महावीर ने कहा-अर्जन में जो दोष है उनको छोड़ दो। उन्होंने कहा-किसी भी आजीविका का विच्छेद मत करो, दूसरों के अधिकारों का हनन मत करो, धोखा मत

दो। अर्थात् जितने व्यवसायिक दोष थे, उनका निषेध किया किंतु व्यापार का निषेध नहीं किया। इसलिए इस अर्जन के साथ विसर्जन का प्रयोग सन्निहित था।

5.1.2. संग्रह के साथ विसर्जन

संग्रह के साथ विसर्जन का तात्पर्य है-अपने व्यक्तिगत स्वामित्व को सीमित करना। जिस व्यक्ति ने वर्ष भर में एक लाख अर्जित किया और उसने पचास हजार का त्याग कर दिया, विसर्जन कर दिया अर्थात् अपने स्वामित्व को सीमित कर लिया। या किसी व्यक्ति के पास पहले से बहुत संपत्ति है और वह यह सोचकर अपनी संपत्ति का विसर्जन कर देता है कि मुझे इसका संग्रह नहीं करना चाहिए। यह भी व्यक्तिगत स्वामित्व को सीमित करना है।

5.1.3. व्यक्तिगत उपभोग का सीमांकन

व्यक्तिगत उपभोग का सीमांकन करना भी विसर्जन है। कोई व्यक्ति अपनी संपत्ति को छोड़ नहीं रहा है, लेकिन वह उस संपत्ति के उपभोग का सीमांकन कर लेता है कि इतनी संपत्ति से अधिक का उपयोग मैं नहीं करूंगा। उसने दिया कुछ नहीं, पर व्यक्तिगत भोग की सीमा निर्धारित कर दी। यह भी एक प्रकार का विसर्जन है क्योंकि धन के प्रति हमारा जो दृष्टिकोण है, वही समस्या है। यही दृष्टिकोण शोषण करता है, अपराध करता है, गलत साधनों से अर्जन करता है। यदि वस्तु के पीछे केवल जीवनयापन का दृष्टिकोण जुड़ जाए तो वह वास्तव में असंग्रह है, अपरिग्रह है। शुद्ध अर्थ में जिस व्यक्ति ने अर्थ से अपने ममत्व को हटा लिया, उसे मात्र वस्तु माना, जीवन यापन का साधन माना, उसके लिए वह मात्र वस्तु ही रह गई, अर्थ नहीं रहा, धन नहीं रहा। वस्तु अचेतन है, पुद्गल है। इसके संग्रह को परिग्रह नहीं कहा जा सकता। वस्तु परिग्रह तब बनती है जब हमारे हृदय में उस वस्तु के प्रति आसक्ति जन्म ले लेती है। यह आसक्ति परिग्रह है और यही आसक्ति क्रूरता को जन्म देती है।

5.2 दान और विसर्जन

दान वास्तव में उस समाज की व्यवस्था का अंग है जो बहुत त्रुटिपूर्ण समाज-रचना को लेकर चलता है। दान में हमेशा देने वाला और लेने वाला-दो पक्ष रहते हैं। जिसमें एक पक्ष के अहं का पोषण होता है और दूसरे पक्ष में हीन-भावना का पोषण। जहां समानता के अधिकार, कर्त्तव्य की बात है, वहां दान के लिए कोई स्थान नहीं हो सकता। अपने ही भाइयों को हीन भावना में रखकर उनकी हीनता को पोषण देना, क्या सभ्य समाज में मान्य हो सकता है?

विसर्जन दान नहीं है। विसर्जन है-अपने संग्रह, अपने अर्जन और अपने व्यय की स्वस्थ पद्धतियों का स्वीकरण। अर्जन में दोषपूर्ण पद्धतियों को छोड़ना, संग्रह को छोड़ना और वर्तमान की परिस्थितियों के संदर्भ में स्वयं को अधिक सामाजिक रूप में ढालना-यही है विसर्जन। विसर्जन त्याग है, ममत्व व आसक्ति को छोड़ना है, संग्रह को छोड़ना है और अपनी वृत्तियों को सामाजिक बनाना है।

5.3 क्या विसर्जन के साथ अर्जन उचित है?

विसर्जन के साथ अर्जन के औचित्य को भगवान् महावीर के इस चिंतन में देख सकते हैं-भगवान् महावीर ने असंग्रह पर बहुत बल दिया किंतु उन्होंने यह कभी नहीं कहा कि इतने धन से अधिक मत रखो। उन्होंने कहा-तुम्हारे अर्जन के साधन शुद्ध होने चाहिए तथा व्यक्तिगत जीवन में संयम

होना चाहिए। अगर ये दो बातें व्यक्ति के जीवन में हैं तो फिर कितना धन आता है, कितना नहीं आता है, इसकी चिंता करने की जरूरत नहीं है।

संग्रह शब्द सापेक्ष है। संग्रह का जो मूल दोष है, वह है-उत्पादन के गलत तरीके और व्यक्तिगत जीवन में असंयम, लालसा, विलासिता और उच्छृंखलता। अगर ये दोष मिट जायें तो एक करोड़पति को भी संग्रही नहीं कहा जा सकता। भगवान् महावीर ने एक चक्रवर्ती सम्राट और एक कोशीय प्राणी के संग्रह को समान बतलाया है। उन्होंने कहा है-परिग्रह की भावना का दोनों ने विसर्जन नहीं किया है, इसलिए दोनों परिग्रही हैं। इसलिए परिग्रह का मूल है-हमारी ममत्व भावना, न कि वस्तु का संग्रह। इसलिए विसर्जन के साथ अर्जन किया जा सकता है बशर्ते उसके प्रति ममत्व न हो तथा अर्जन के साधन शुद्ध हों।

5.4 विसर्जन और वितरण

धन को, संग्रह को छोड़ने की प्रेरणा जागती है और जब धन छोड़ा जाता है तब उसे विसर्जन कहा जाता है। विसर्जन के बाद वितरण हो भी सकता है और नहीं भी। बुद्ध ने राज्य का विसर्जन किया, पर बाद की व्यवस्था नहीं की। कई संपत्ति छोड़ते हैं और उसकी व्यवस्था भी कर देते हैं। विसर्जन के बाद इसलिए वितरण आवश्यक है कि उस संपत्ति का प्रयोग पवित्र उद्देश्य के लिए हो। जो वितरण की बात नहीं मानते, उनका तर्क यह है कि विसर्जन कर संपत्ति का ममत्व ही जब छोड़ दिया है तो फिर उसके सही और गलत उपयोग की चर्चा कैसी? पर विसर्जन के बाद उचित वितरण समाज की दृष्टि से ज्यादा व्यावहारिक है।

वर्तमान में विषमता की समस्या के समाधान का आध्यात्मिक सूत्र है-विसर्जन। विसर्जन हमें यह बतलाता है कि सब लोग इस बात को समझें कि अधिक संग्रह करना किसी के पक्ष में नहीं है। जो आर्थिक समस्याएं हिंसा पैदा कर रही हैं, उनका समाधान विसर्जन में खोजा जा सकता है। विसर्जन का पूरा विकसित रूप तो उस दिन सामने आएगा, जिस दिन एक व्यक्ति इतना अर्जन ही नहीं करेगा कि वह देने की स्थिति में हो।

विसर्जन का पहला चरण होगा ममत्व का विसर्जन और दूसरा चरण होगा व्यवस्था सुधार। यदि ममत्व विसर्जन हो जाए तो व्यवस्था सुधार में कोई कठिनाई नहीं होगी। विसर्जन के सूत्र ने वर्तमान व्यवस्था में धर्म व आध्यात्म के द्वारा, असंग्रह के द्वारा क्या किया जा सकता है, इस ओर इंगित किया है। यदि विश्व विसर्जन की बात ठीक तरह से समझ ले तो हिंसक क्रांति के द्वारा जो परिवर्तन हम लाना चाहते हैं, वह सहज मृदुतापूर्ण एवं अहिसंक ढंग से किया जा सकता है।

विसर्जन इस सारे संकट का एक आदर्श समाधान है। एक व्यक्ति, एक राष्ट्र अपनी आवश्यकता से अधिक संपत्ति का विसर्जन करे, भोग का सीमांकन करे तथा इस विसर्जन का वितरण अविकसित राष्ट्रों व गरीब व्यक्तियों में किया जाए तो निश्चित ही कुविकास की जगह संतुलित विकास संभव हो सकता है। शांति स्थापना को बल मिल सकता है।

प्रश्नोत्तर

निबंधात्मक प्रश्न

1. अहिंसा प्रशिक्षण के विभिन्न आयामों की विस्तार से चर्चा कीजिए।

लघुत्तरात्मक प्रश्न

1. आर्थिक समस्याओं के समाधान के रूप में विसर्जन की भूमिका को स्पष्ट कीजिए।

वस्तुनिष्ठ प्रश्न

1. मानवीय संवेगों के कितने प्रकार हैं-
   - अ. दो
   - ब. चार
   - स. पांच
   - द. तीन
2. निम्न में से हिंसा/युद्ध का समन्वित कारण है-
   - अ. प्राप्ति की इच्छा
   - ब. क्षति का भय
   - स. बहादुरी से प्रेम
   - द. उपरोक्त सभी
3. दार्शनिक पृष्ठभूमि पर अहिंसा की मूल्य को प्रमाणित करने के कितने आधार हैं-
   - अ. 2
   - ब. 3
   - स. 4
   - द. 5
4. सहअस्तित्व का एक महत्त्वपूर्ण सूत्र है-
   - अ. आत्मतुला
   - ब. परस्परता
   - स. समानता
   - द. उपरोक्त में से कोई नहीं
5. शोषण व हत्या की प्रकृति किस भाव के कारण पनपती है-
   - अ. लोभ
   - ब. अहंकार
   - स. बैर
   - द. क्रूरता
6. वर्तमान आर्थिक समस्याओं का समाधान का एक सूत्र है-
   - अ. अहिंसा
   - ब. पर्यावरण शुद्धि
   - स. विसर्जन
   - द. उपरोक्त सभी
7. ..... की पद्धति के साथ ही प्रलोभन की कड़ी जुड़ी है।
8. व्यक्ति ..... के संवेग के कारण आक्रामक प्रवृत्ति को अपनाता है।
9. ..... का अर्थ मात्र सोचना नहीं है।
10. ..... वर्तमान समय की ज्वलंत समस्या है।

Accredited with NAAC A Grade
12-B Status from UGC

Address: N.H.-9, Delhi Road, Moradabad - 244001, Uttar Pradesh

Admission Helpline No. : 1800-270-1490

Contact No. :+ 91 9520 942111

Email : university@tmu.ac.in